हिन्दी-कलाकार

[यथार्थ रूप में]

इन्द्रनाथ मदान एम. ए., पी-एच. डी.

हिन्दी-भवन
जालंधर और इलाहाबाद

लेखक की अन्य पुस्तकें

1. हिंदी काव्य विवेचना (हिंदी में)
2. आधुनिक हिंदी साहित्य (अंग्रेज़ी में)
3. शरच्चंद्र चट्टोपाध्याय (अंग्रेज़ी में)
4. प्रेमचंद (अंग्रेज़ी में)

तीसरा संस्करण—नवंबर १९४९

मूल्य ५॥)

प्रकाशक—इन्द्रचन्द्र नारंग, हिन्दी भवन, ४९ टैगोर टाउन, इलाहाबाद
मुद्रक—रङ्गमलाल जायसवाल, संगम प्रेस, प्रयाग।

सूची

भरसक चेष्टा की है। इसका अर्थ यह नहीं है कि हमने कला को नगण्य समझा है और उस पर विचार ही नहीं किया। नहीं, ऐसा करना कलाकार के प्रति अन्याय होता। यही सोचकर हमने कला की भी संगति कलाकार की आत्मा के साथ ही ढूँढी है। हाँ, कला, जैसा कि आलोचना में अक्सर होता है, आत्मा से ऊपर स्थान नहीं पा-सकी है; वह आत्मा के पीछे-पीछे चली है, उसी प्रकार जैसे भाव के पीछे भाषा चलती है। युग की माँग है कि आज हम आवरणों को चीर कर यथार्थ के निकट पहुँचें और आत्मा के प्रकाश में अपने जीवन की मान्यताओं की वास्तविकता-अवास्त-विकता की परख करें। इस युग की माँग को स्वीकार करके ही हमने इस पुस्तक में कलाकारों की आत्मा को छूने का प्रयत्न किया है। हम उसमें सफल हुए हैं या नहीं यह तो पाठक और विद्वान् ही बतायेंगे। लेकिन इतना अवश्य है कि कलाकारों की कृतियों को उनके दृष्टि-कोण से देखने में हमने कुछ उठा नहीं रखा है।

दूसरी बात यह है कि हमने प्रत्येक कलाकार को उसकी परिस्थितियों के बीच रख कर ही उसके जीवन और साहित्य का पारस्परिक संबंध स्थापित किया है। ऐसा इसलिए किया गया है कि साहित्यकार या कलाकार अपनी परिस्थितियों से प्रभावित हुए बिना बच नहीं सकता। वे परिस्थितियाँ ही उसके जीवन की दिशा को मोड़ती हैं और जीवन की दिशा के मोड़ ही साहित्य में प्रति-बिम्बित होते हैं। परम्परागत साहित्यिक, सामाजिक, राजनीतिक धार्मिक और आर्थिक परिस्थितियों से प्रभावित कलाकार-विशेष का जीवन ही-उसके साहित्य में उस विभिन्नता को जन्म देता है, जिसे हम उसकी विशेषता अथवा मौलिकता कह कर पुकारते हैं। उन्हीं

परिस्थितियों से कलाकार की भावनाएँ, कल्पनाएँ और विचार परम्पराएँ परिवर्तित होती रहती हैं और अपनी परिवर्तन-शीलता में ही वे कलाकार को नित्य नवीन सृष्टि करने के लिए बाध्य करती हुई उसकी सृजन-शक्ति को जागरूक रखती हैं। परिस्थितियों के बाद जीवन, जीवन के बाद कालक्रमानुसार लगभग सभी रचनाओं पर प्रकाश और साथ ही विशेष भाव तथा विचार के अनुसार श्रेणी-विभाजन करके कलाकार की कृतियों के सामूहिक विकास का ऐसा सिंहावलोकन किया गया है कि साधारण से साधारण पाठक भी कलाकार का पूर्ण नहीं तो पर्याप्त परिचय पा सकता है।

तीसरी बात इस सम्बन्ध में यह कहनी है कि इस पुस्तक का नाम 'हिंदी-कलाकार' रखा गया है परंतु इसमें भक्ति-काल और आधुनिक काल के ही प्रमुख कलाकार रखे गए हैं। भक्ति-काल के कलाकारों में ज्ञान-मार्गी शाखा के प्रवर्तक कबीर, प्रेम-मार्गी शाखा के संचालक जायसी, कृष्णोपासकों के अग्रणी सूरदास और रामोपासकों के मुकुटमणि तुलसीदास को रखा गया है। आधुनिक कलाकारों में भारतीय संस्कृति के वर्तमान प्रतिनिधि मैथिलीशरण गुप्त, छायावाद के आरंभकर्ता जयशंकर 'प्रसाद', उसके यौवन का शृंगार करने वाले सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' तथा सुमित्रानन्दन पंत और उसमें मार्दव तथा सुकुमारता लाने वाली महादेवी वर्मा को ही लिया गया है। कवियों के अतिरिक्त नाटककारों और उपन्यासकारों के प्रतिनिधि के रूप में श्री जयशंकर प्रसाद और मुंशी प्रेमचंद को रखा गया है। इस प्रकार हिंदी के कलाकारों में से कुल ग्यारह, नहीं नहीं दस को ही लेकर इस पुस्तक की रचना हुई। इसे देख कर, हम समझते हैं, हमारे ऊपर शंकाएँ होंगी, आक्षेप किए जायँगे। लोग सोचेंगे कि यह

'हिन्दी-कलाकार' पुस्तक अधूरी है क्यों कि इसमें वीरगाथा काल और रीतिकाल को तो एक दम छोड़ ही दिया गया है। भक्ति काल तथा आधुनिक काल के भी कितने ही कलाकारों की उपेक्षा कर दी गई है। उदाहरण के लिए भक्ति काल के दो कलाकार नन्ददास और मीरा—तो छोड़े ही नहीं जा सकते। फिर आधुनिक काल में उसके प्रवर्तक भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र को न लेकर तो भारी भूल की गई है। यही नहीं जब मैथिली शरण गुप्त को लिया गया है तो अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' को क्यों छोड़ दिया गया है? इससे भी अधिक बुरी बात यह है कि नाटककारों में प्रसाद को तथा उपन्यासकारों में केवल प्रेमचंद को लिया गया है। इसमें भी जब प्रसाद को कवि के रूप में लिया जा चुका था तब नाटककार के रूप में और कोई नाटककार लिया जा सकता था। ऐसी ही अनेक बातें पाठकों और आलोचकों के हृदय में उठेंगी, यह हम जानते हैं। इसीलिए हम चाहते हैं कि हम इस विषय में यह स्पष्ट कर दें कि ऐसा हमने जान बूझ कर किया है और ऐसा करने के कारण हैं। उनपर विस्तृत प्रकाश डालने के लिए तो यहाँ अवकाश नहीं है। हाँ, संक्षेप में कुछ अवश्य कहा जा सकता है।

बात वास्तव में यह है कि हमारा यह विश्वास दृढ़ होता जा रहा है कि हिंदी-साहित्य का स्वतंत्र विकास केवल भक्ति-काल और आधुनिक काल में ही उन कलाकारों द्वारा हुआ है, जिन्हें हमने अपनाया है। वीरगाथाकाल का साहित्य और साहित्यकार आश्रयदाता की गुलामी ही करता था फिर भले ही उसने वीरता के गीत गाये हों वह हमारे पतन के उस चित्र को ही हमारे सम्मुख रखता है, जिसमें पारस्परिक वैमनस्य के कारण भारतीय गौरव का सूर्य अस्तंगत हुआ

दिखाई देता है और जिसका दर्शन करना भी हम पाप समझते हैं। अपनी इसी भावना के कारण इतिहास की संपत्ति पृथ्वीराज रासो और चंद्रबरदाई के ऊपर हमने कुछ नहीं लिखा। यही हाल रीति-काल का है। उसमें तो वीर गाथा काल से भी अधिक घृणात्मक वातावरण वर्तमान है। जब कि कला अन्नदाता के मनोरंजन की वस्तु हो गई हो और कवि भाँडों या जनखों की भाँति उनकी दिलजमई करने वाला बन गया हो, काव्य का सतीत्व रक्षित नहीं रह सकता। रीतिकाल का कवि ऐसी ही सतीत्वहीना काव्यकला का उपासक था, जिसमें वह श्री नहीं जो मानव-जीवन में नैतिक और आध्यात्मिक शक्ति भर और जीवन का वास्तविक चित्र खींच सके। केवल स्त्री के रूप-विलास पर ही रीतिकाल आश्रित है। परन्तु यह उचित नहीं हुआ है, क्योंकि स्त्री से काव्य की प्रेरणा भले ही ली जा सके, काव्य उसी का होकर नहीं रह सकता। जहाँ ऐसा होता है, वहाँ काव्य-कला निर्जीव हो जाती है। रीतिकाल में ऐसा ही हुआ है। आज के विकृत जीवन में उसका पठन-पाठन भी हम अनुचित समझते हैं। यही कारण है कि बिहारी, केशव, मतिराम आदि को हमने छोड़ दिया है। यहाँ भूषण का नाम लिया जा सकता है कि उसे हमने क्यों नहीं रक्खा। इसमें दो बातें हैं। एक तो भूषण भी रीतिकाल के प्रभाव से नहीं बच पाये हैं। भले ही शृंगार को उन्होंने न अपनाया हो, उस काल की आलंकारिकता का उन पर प्रभाव अवश्य है। दूसरे उनकी राष्ट्रीय भावना वर्तमान राष्ट्रीय भावना से मेल नहीं खाती जिसके कारण उनमें साम्प्रदायिकता की गंध आ सकती है। अपने आज के जीवन में हम ऐसा एक भी अवसर नहीं देना चाहते। इसलिए भूषण के प्रति अगाध श्रद्धा होते हुए भी हम उन्हें इस पुस्तक में स्थान नहीं दे सके।

कवियों के अतिरिक्त उपन्यासकारों के प्रतिनिधि के रूप में प्रेमचंद को तो कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। हाँ, नाटककार के रूप में प्रसाद को देखकर और विशेष रूप से तब जब कि कवि के रूप में उनका उल्लेख हो चुका है, कुछ आपत्ति होना स्वाभाविक है। लेकिन जिस ऊँचे धरातल पर रहकर हमने कलाकारों का चुनाव किया है उस पर नाटककार के रूप में और कोई नाटककार पहुँचता ही नहीं था। इसलिए हमने प्रसाद जी को ही उसके लिए चुना। यों श्री हरिकृष्ण प्रेमी, पं० उदयशंकर भट्ट, पं० गोविन्दवल्लभ पंथ, सेठ गोविन्ददास आदि श्रेष्ठ नाटककार हमारी दृष्टि में थे, परन्तु प्रसाद जी के स्वतंत्र-चिंतन और प्रतिभा के प्रति नतमस्तक होकर हमें उनको ही लेना पड़ा। इसे हमारी विवशता भी आप कह सकते हैं परन्तु तो भी हमारे चुनाव को असंगत न कहेंगे ऐसा हमारा विश्वास है।

इतना कहकर हम आप के समक्ष हिन्दी के इन दस-ग्यारह स्वतन्त्र साहित्य-स्रष्टाओं का अध्ययन प्रस्तुत कर रहे हैं। यह आलोचना के क्षेत्र में नई चीज़ है, इस बात को हम जानते हैं। इसीलिए इसमें कुछ त्रुटियाँ हो सकती हैं। उनके लिए हम अभी से क्षमा माँग लेते हैं और विश्वास दिलाते हैं कि सुझाए जाने पर वे त्रुटियाँ दूर कर दी जायँगी।

अन्त में जिन विद्वान लेखकों, धुरन्धर आलोचकों और कृती कलाकारों की कृतियों से उद्धरण लेकर इस पुस्तक में दिए गए हैं, उनके प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करते हुए हम विदा लेते हैं।

—इन्द्रनाथ मदान

काव्यकार

कबीर

हिन्दी साहित्य के इतिहास में कबीर से अधिक सशक्त और क्रान्तिकारी व्यक्तित्व रखने वाला अन्य कोई कवि नहीं है। इसका कारण यह है कि कबीर का उदय जिन परिस्थितियों में हुआ, वे परिस्थितियाँ ही स्वतः ऐसे सशक्त और क्रान्तिकारी व्यक्ति के आविर्भाव के लिए उत्तरदायी हैं। मुसलमानी राज्य की प्रतिष्ठा हो जाने पर भारत में हिन्दुओं की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक अवस्था अत्यंत शोचनीय होगई। हर्ष के साम्राज्य की ज्योति बुझने पर जो छोटे-छोटे राज्य जुगनू की भाँति चमकने का नाट्य करने लगे थे, वे मुसलमानी तलवार की तीक्ष्ण धार का प्रतिकार न कर सके और अब उनमें परस्पर लड़ने का भी साहस न रहा। इसका कारण चाहे वीरता और पराक्रम का अभाव हो चाहे राष्ट्रीयता की कमी, वे अब निर्जीव राख की ढेरी की भाँति व्यर्थ और सत्वहीन हो गए थे और उनमें इतनी भी शक्ति न थी कि वे अपने अस्तित्व की भी रक्षा कर सकें। फलस्वरूप उन्हें विवश होकर अपनी तलवारें म्यानों में रखनी पड़ीं। जनता अपने राजाओं की इस अशक्त और निरुपाय अवस्था को देखकर अपने को ईश्वर के भरोसे छोड़ने के लिए बाध्य हो गई।

राजनीति ही नहीं, धर्म की अवस्था और भी बुरी थी। सिद्धों और नाथपंथी योगियों ने जिस रहस्यमय ढंग से अपने संप्रदायों का प्रचार किया था, उससे जनता सच्चे धर्म से विमुख हो गई थी। इन लोगों ने धर्म के बाह्य आचारों, अर्थात् तीर्थ-यात्रा, व्रत, पर्व-स्नान आदि का विरोध करके उनकी निस्सारता दिखाई थी। वे ईश्वर की प्राप्ति का एकमात्र साधन हठयोग आदि शारीरिक क्रियायें बताते थे।

वे अपनी करामात दिखा कर जनता को आश्चर्य में डालते थे और और उसे आत्म-कल्याण तथा लोक-कल्याण की भावना से विमुख करते थे। भक्ति और प्रेम जैसी हृदय की भावनाओं का उनके लिए कोई मूल्य नहीं था। ऐसी परिस्थिति में जनता मंत्र, तंत्र और सिद्धि के चक्कर में पड़कर वास्तविक धर्म को भूल गई। यद्यपि उच्चवर्ग के लोगों पर उसका प्रभाव नहीं पड़ा तथापि जनता का अधिकांश भाग इन्हीं पर विश्वास करने लगा और मज़े की बात यह है कि शास्त्रीय पंडितों और धर्म के उद्धारकों को इतना साहस नहीं होता था कि वे इसका विरोध कर सकें।

यही नहीं, राज्य की प्रतिष्ठा होने पर भी हिन्दू और मुसलमानों में पारस्परिक कलह के बीज मौजूद थे और दोनों भय और आशंकाओं के शिकार बने हुये थे। इस स्थिति में सामाजिक शांति और व्यवस्था का अभाव हो गया। संकीर्णता, द्वेष और एक दूसरे से दूर रहने की भावना ने समाज में कला, व्यापार और समृद्धि के अन्य साधनों के विकास को असंभव बना दिया। सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था की अस्तव्यस्तता के कारण जनता का विश्वास जीवन से ही हट गया। ऐसी परिस्थिति में एक ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता थी जो जनता के भीतर रहकर, उसी का अंग बन कर, देश की निराश, निष्प्राण और निरीह जनता को आत्मशक्ति का पाठ पढ़ा कर जीवन में विश्वास और श्रद्धा जगाता और संकीर्णता तथा पारस्परिक ईर्ष्या द्वेष के झाड़-झंखाड़ को उखाड़ कर सद्भावना और प्रेम की फुलवारी लगाता। कबीर के आविर्भाव ने इस आवश्यकता की पूर्ति की।

प्रश्न यह है कि कबीर ही क्यों ऐसा करने में समर्थ हुए? इस प्रश्न का उत्तर खोजने के लिए हमें अन्यत्र जाने की आवश्यकता

नहीं है। स्वयं कबीर के जीवन और व्यक्तित्व की ही छान-बीन करनी चाहिए। हम यहाँ सन्-संवतों और तिथि-तारीखों की झंझट में नहीं पड़ेंगे, क्योंकि उनकी पहेलियाँ बुझाने से हमारा उद्देश्य पूर्ण न होगा। हम तो केवल यह देखेंगे कि कबीर के व्यक्तित्व की वे कौन सी विशेषतायें थीं, जिन्होंने उनको युग की सर्व-श्रेष्ठ विभूति बना दिया।

जन-श्रुति है कि कबीर किसी विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से उत्पन्न हुए थे और लहरतारा नाम के तालाब में समाज के भय से फेंक दिए गए थे। वहाँ से नीमा और नीरू जुलाहा-दंपति ने उन्हें उठाकर उनका पालन-पोषण किया। यह जनश्रुति कहाँ तक सच है, इसकी गहरी छान-बीन न कर हम केवल इतना ही कहेंगे कि यह अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण है। महत्त्व-पूर्ण इसलिए कि इससे कबीर जनता के निम्नतम और निकृष्टतम वर्ग के प्रतिनिधि होने के अधिकारी हो जाते हैं। विधवा ब्राह्मणी के संस्कारों को लेकर वे मुसलमान और वहाँ भी जुलाहा-घर में पले थे। यह मानो हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए भविष्य का संकेत था। इसके साथ ही एक और बात भी है। कबीर के दीक्षा-गुरु श्री रामानन्दजी थे जो रामानुजाचार्य की शिष्य-परंपरा में होते हुए भी सामान्य जनता को भक्ति की अधिकारिणी मानते थे। उनके शिष्यों में धन्ना, पटवा, जुलाहा आदि निम्न जाति के ही लोग थे। इस प्रकार कबीर को न केवल जन्मगत वरन् दीक्षागत संस्कार भी ऐसे मिले जो उन्हें जनता का व्यक्ति बनाने में सहायक हुए। यों तो उनका जन्म ही उन्हें क्रान्तिकारी बनाने के लिए काफी था परन्तु रामानन्द जैसे प्रतिष्ठित, सम्मान्य और प्रभावशाली गुरु की कृपा का प्रसाद पाकर कबीर की आत्मा शत-शत सूर्यों की ज्योति लेकर

चमक उठी और उसके प्रकाश में अतीत और भविष्य के आकाश में अज्ञान, अन्ध-विश्वास और दुष्प्रवृत्ति के घनावरण का जो घटाटोप था वह देखते-देखते हट गया और जनता ने सर्व-प्रथम आत्मा के सच्चे कल्याण की आशा-किरण के दर्शन किए।

ऊपर जिस परिस्थिति और प्रभाव का उल्लेख किया गया है उससे स्पष्ट है कि कबीर का व्यक्तित्व असाधारण था। इस असाधारण व्यक्तित्व के कारण यदि उन्हें उनके समय का गाँधी कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। कबीर और गाँधी का व्यक्तित्व इतना साम्य रखता है कि उसे देखकर आश्चर्य होता है। गाँधी जिस प्रकार चालीस कोटि भारतीय जनता का हृदय-सम्राट् है, उसी प्रकार कबीर भी अपने समय की दलित और पीड़ित जनता का नायक था; गाँधी जिस प्रकार हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य का सबल समर्थक है, उसी प्रकार कबीर भी उन दोनों को एक बनाने के लिए व्यग्र था; गाँधी जिस प्रकार धर्म के बाह्याचारों को निस्सार कह कर 'मानवधर्म' की प्रतिष्ठा का यत्न कर रहा है, उसी प्रकार कबीर ने भी आडंबर और पाखंड को महत्त्व-हीन बता कर सर्वग्राह्य 'सामान्य धर्म' की प्रतिष्ठा की थी। गाँधी जिस प्रकार व्यक्ति की साधना को, पवित्रता को, उन्नति का चरम लक्ष्य मानता है, उसी प्रकार कबीर भी घट-घट-वासी की उपासना पर ज़ोर देता था। गाँधी जिस प्रकार अहिंसा, तप और सत्य का आग्रह रखता है, उसी प्रकार कबीर भी जीवन की पवित्रता, सत्य, तप और निश्छलता की वकालत करता था; गाँधी जिस प्रकार जाति-पाँति और ऊँच-नीच तथा सामाजिक विषमता को गर्हित और हेय समझता है उसी प्रकार कबीर भी 'जाति-पाँति पूछे नहि कोई, हरि को भजे सो हरि को होई' की रट लगाता था; गाँधी जिस प्रकार

जनता के बीच रहकर उसे भावना और संस्कृति का पाठ पढ़ाता है, उसी प्रकार कबीर ने भी सर्वसाधारण के बीच रहकर मनुष्यता और सभ्यता के मूल तत्त्वों का उपदेश दिया था; गाँधी जिस प्रकार हाथ से काम करने को आवश्यक समझता है, उसी प्रकार कबीर इतना महात्मा होने पर भी ताना-बाना बुनता था; गाँधी जिस प्रकार अपने को अपदार्थ-सा समझकर जनता के लिए ही जीता है, उसी प्रकार कबीर भी अपने लिए नहीं, दूसरों के लिए जिया। तात्पर्य यह कि गाँधी और कबीर दोनों एक ही प्रकार के जीवन की समानताएँ रखने वाले प्रतीत होते हैं। अन्तर केवल है तो यही कि गाँधी उच्चवर्ग में जन्मे हैं और इस कारण उनको नीचे उतरने के लिए विनम्रता, शालीनता तथा लघुता की भावना को अपनाना पड़ा है, क्योंकि जनता की सहानुभूति प्राप्त करने का और उसके बीच काम करने का यही एक मात्र उपाय है। कबीर को निम्न वर्ग का होने कारण नीचे उतरने की आवश्यकता नहीं थी और इसीलिए उनमें विनम्रता, शालीनता तथा लघुता, जो आभिजात्य वर्ग की विशेषतायें हैं, न होकर अक्खड़पन, अहं और उपेक्षा का भाव अधिक था। एक और अन्तर गाँधी और कबीर में यह है कि गाँधी देश-काल-गत विशेषताओं के कारण मूलतः राजनीतिक चेतना से अभिभूत हैं जब कि कबीर धार्मिकता और आध्यात्मिकता का विशेष आग्रह रखते थे। इस प्रकार गाँधी और कबीर की विषमता देश-काल-गत है। वैसे यदि कबीर आज होते तो वही करते जो गाँधी जी कर रहे हैं और गाँधी जो यदि कबीर के युग में होते तो वही करते जो कबीर ने किया। गाँधी मानो कबीर का आधुनिक संस्करण है।

'कबीर का व्यक्तित्व बहुमुखी है, वे धार्मिक गुरु हैं, कवि हैं, समाज-सुधारक हैं, हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के समर्थक हैं, विशेष संप्रदाय के प्रतिष्ठापक हैं और हैं वेदान्त-व्याख्याता दार्शनिक। उनके इन विविध रूपों को लोग अपनी-अपनी दृष्टि से महत्त्व देते हैं और जिसको जो रूप अच्छा लगता है वही उसे अपना लेता है। कारण यह है कि कबीर महापुरुष थे—ऐसे महापुरुष जिनके जीवन का पल पल जनता के हित के लिए बीतता है। वे जो कुछ कार्य करते हैं, उसमें उनकी दृष्टि किसी न किसी प्रकार जनता के कल्याण की ही होती है, या यों कहें कि उनमें अपनापन रह ही नहीं जाता और वे 'परोपकराय सतां विभूतयः' के पथ के पथिक हो जाते हैं। कबीर भी इसी पथ के पथिक थे। सौ-सवासौ वर्ष के लंबे जीवन में वे निरन्तर सत्य की प्रतिष्ठा और मानवता की महत्ता के लिए प्राण पण से लगे रहे। अथक सिपाही की भाँति समाज की विकृतियों को दूर करने की चेष्टा करते रहे। नीचे हम उनके प्रमुख-प्रमुख रूपों को लेंगे।

पहले हम इस बात पर विचार करें कि कबीर की आध्यात्मिकता क्या थी। जैसा कि हमने देखा है, कबीर ने आँखें खोलते ही यह अनुभव कर लिया था कि जनता निराश है और भगवान के भरोसे अपने आप को छोड़ चुकी है। यदि ऐसे अवसर पर उसे सहारा न दिया गया तो वह पथभ्रष्ट हो जायगी और ऐसे लोगों के चक्कर में फँस जायगी, जो स्वयं अज्ञान और पाखंड के जाल में फँसे हैं? उनका उद्देश्य जनता को योगियों की करामातों, पंडितों की पेचीदगियों और मुल्लाओं के जंजाल से मुक्त कर उसे आत्म-तत्त्व का उपदेश देना था। इसलिए उन्होंने एक ओर तो तत्कालीन

समाज में विष की भाँति व्याप्त नाथपंथी योगियों, पंडितों और मुल्लाओं के प्रभाव को नष्ट करने का बीड़ा उठाया और दूसरी ओर उन्होंने हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मों के मूल-तत्त्वों को लेकर एक सामान्यधर्म निकालने का प्रयत्न किया। इस सामान्य धर्म में उन्होंने योगियों का हठयोग, सूफियों का प्रेम, ब्राह्मणों का अद्वैतवाद और मुसलमानों का एकेश्वरवाद लेकर उसको ऐसा रूप दिया कि जिसमें मानवता की काया निखर उठी और साधक और भक्तों को अपने अनुकूल वस्तु मिल गई। कबीर ने जिस सामान्य धर्म का उपदेश दिया था, वह जनता को रुचिकर इस लिए हुआ कि उसमें सरलता थी और सरलता के साथ सभी प्रकार के धर्मों का सार तत्त्व उसमें मौजूद था। कबीर का वह सामान्य मार्ग कबीर-पंथ कहलाया, जिसके अनुयायी लाखों की संख्या में हो गए और आज भी जिनकी कमी नहीं है।

कबीर ने जिस संतमत के आधार पर अपना आध्यात्मिक ज्ञान दिया उसमें ब्रह्म, जीव और माया का निरूपण उन्होंने बिलकुल अपने ढंग से किया। कबीरदास का सम्बन्ध रामानन्द से था। उन्हीं के द्वारा उन्हें ज्ञान हुआ था। कबीरदास ने स्वयं इस बात को स्वीकार किया है।[1] रामानन्द रामानुजाचार्य की परम्परा में आते हैं और उस परम्परा के होते हुए भी उससे भिन्न मत या सम्प्रदाय का प्रचलन करने वाले हो गए हैं। रामानुजाचार्य का मत श्री वैष्णव सम्प्रदाय कहलाता है जब कि रामानन्द का सम्प्रदाय श्री सम्प्रदाय कहलाता है। रामानुजाचार्य के सम्प्रदाय में केवल उच्च

१—काशी में हम प्रगट भए हैं रामानन्द चिताए।

वर्ग को ही स्थान था जब कि रामानन्द के सम्प्रदाय में निम्न वर्ग को भी पूरी पूरी छूट थी। रामानन्द से दीक्षा पाकर कबीर ने योग्य शिष्य की भाँति उसमें अपनी मौलिक उद्भावना की अर्थात् रामानन्द ने जिस 'राम-नाम' की दीक्षा दी थी उससे अपने हृदय को प्रकाशित कर उन्हों ने अपना राम अलग ही रखा। वह राम वेदान्त-वादियों के परब्रह्म से मिलता जुलता है। उनका राम न तो मुख रखता है न माथा; न रूप रखता है न कुरूप है। वह तो पुष्प की सुगन्ध से भी पतला है, वह अनोखा तत्त्व है।[1] कबीर के राम यद्यपि ब्रह्म के ही रूप में आते हैं, तथापि वे दाशरथी राम नहीं। उस राम का मर्म ही और है।[2] परन्तु उनका यह निर्गुण राम साधारण संसारी जीवों के जप की वस्तु है। वैसे वे आत्म-चिन्तन को बहुत महत्त्व देते हैं। वे कहते हैं—हे भाई निर्गुण राम का जप करो, अविगत की गति लखना सहज काम नहीं है। वेद और पुराण, स्मृति और व्याकरण, शेषनाग, गरुड़ और कमला भी जिसे नहीं जान सके, उसे जानने की चेष्टा करना व्यर्थ है।[3] कबीरदासजी कहते हैं कि उसी हरि को छाया पकड़ो—उन्हीं की शरण में जाओ! अरे पागल कहाँ भटकता है? कामनाओं का त्याग कर, हरि का नाम जप,

---

१—जाके मुख माथा नहीं, नाहीं, रूप कुरूप।
पुहुप वास से पातरा ऐसा तत्त्व अनूप॥

२—दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना, राम नाम का मरम है आना॥

३—निर्गुण राम जपहु रे भाई। अविगति की गति लखी न जाई।
चारि वेद जाके सुमृत पुराणा, नौ व्याकरना मरम न जाना॥
शेषनाग जाके गरुड़ समाना। चरन कँवल कँवला नहि जाना।
कहै कबीर जाके मद नाहीं। निज जन बैठे हरि की छाँहीं॥

वही अभय पद का देने वाला है—कबीर कोरी की यह बात गाँठ बाँध ले।[1]

कभी-कभी कबीर की इन उक्तियों से लोगों की कबीर के सम्बन्ध में विचित्र धारणाएँ बन जाती हैं और वे सोचने लगते हैं कि आखिर कबीर का राम है कौन? क्या वह परम ब्रह्म, अक्षर ब्रह्म या ईश्वर है या और कुछ? कबीर की इन उक्तियों से ही लोग उन्हें निर्गुणोपासक और सगुणोपासक दोनों रूपों में मानते हैं; परन्तु वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। जैसा कि ऊपर कहा गया है कबीर का ब्रह्म है तो चिन्तन का—विचार का विषय; परन्तु सर्व-साधारण के लिए नाम की महिमा भी गुणकारी है। अतः भ्रम में पड़ने की ज़रूरत नहीं है। कबीर का राम वास्तव में निर्गुण ही है, सगुण नहीं। वह पुराण-प्रतिपादित नहीं है। वे तो स्पष्ट कहते हैं कि उस राम को कहीं दूर मत खोजो। वह सारे शरीर में भरपूर है; लोह झूठ है, चाम झूठ है, सत्य है वह राम जो सारे शरीर में रम रहा है। वह तो फूल की सुगंध की तरह सब के भीतर समाया हुआ है; लोग व्यर्थ ही कस्तूरी के मृग की भाँति उसे इधर-उधर खोजते फिरते हैं।[2]

१—परिहरि काम राम कहि बौरे सुनि सिख बंधू मोरी।
हरि को नाम अभैपद दाता, कहै कबीरा कोरी॥

२—कहै कबीर विचार करि जिन कोई खोजे दूरि।
ध्यान धरौ मन सुद्ध करि, राम रह्या भरपूरि॥
कहै कबीर विचारि करि, झूठा लोही चाम॥
जो या देही रहित है, सो है रमिता राम॥

वस्तुस्थिति तो यह है कि जब कबीर निर्गुण भगवान का स्मरण करते हैं तो उनका उद्देश्य स्पष्ट ही सगुण रूप को अस्वीकार करने से होता है। वे उसे गुणातीत—सत, रज, तम, तीनों गुणों से परे—मानते हैं और उस गुणों से परे वाले रूप को निर्गुण शब्द से प्रकट करते हैं। "हे सन्तो, मैं धोखे की बात किस से कहूँ। गुण ही में निर्गुण है और निर्गुण में गुण, इस सीधे रास्ते को छोड़कर कहाँ• बहता फिरा जाय। लोक उसे अजर, अमर कहते हैं पर असल बात कोई नहीं कहता। वास्तव में वह अलख और अगम्य है। यह तो सच है कि उसका कोई स्वरूप नहीं है, कोई वर्ण नहीं है, पर यह और भी अधिक सच है कि वह सब घट में समाया हुआ है। पिण्ड और ब्रह्माण्ड में वह व्याप्त है, उसका आदि और अन्त नहीं है यह तो सब कहते हैं लेकिन जो पिण्ड और ब्रह्माण्ड से भी परे है वही भगवान है।[1]

इस प्रकार कबीर का ब्रह्म या निर्गुण राम बिलकुल निराला है। वह केवल अनुभव से ही जाना जा सकता है। वह तर्क का विषय

यों साईं जित में बसै, ज्यों पुहपन में बास।
कस्तूरी के मिरग ज्यों, बन-बन ढूँढै बास।

१—संतों धोखा कासों कहिए।
गुन में निरगुन, निरगुन में गुन, बाट छाँडि क्यों बहिए।
अजरा अमर कथै सब कोई, अलखना कथणा जाई॥
नाहिं स्वरूप बरण नहिं जाके घट घट रह्यो समाई।
प्यंड, ब्रह्मंड कहै सब कोई, वाके आदि अरु अंत न होई॥
प्यंड ब्रह्मंड छाँडिके कथिये कहै कबीरा सोई।

नहीं है। उसके लिए अनुभूति चाहिए। वह 'गूँगे का गुड़' है और केवल संकेत से समझाया जा सकता है—"सैना बैना कहि समुझाओ गूँगे का गुड़ भाई।" तात्पर्य यह कि कबीर का राम उनका अपना निर्मित है, पुराण या वेदान्त के पंडितों द्वारा निरूपित नहीं। उसी राम का रूप स्मरण करते-करते, एकाकार हो जाना ही साधक का चरम लक्ष्य है।

लेकिन माया का निरूपण कबीर ने वेदान्तवादियों की दृष्टि से ही किया है। उनकी दृष्टि में भी वेदान्तिवादियों की भाँति यह त्रिगुणात्मक प्रकृति माया है, जो जीवों को भ्रम में डाल रही है। कबीर ने 'तूं माया रघुनाथ की खेलन चली अहेड़' कहकर यह प्रतिपादित किया है कि यह माया ब्रह्म की है और 'रघुनाथ' शब्द ब्रह्म के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। माया ही अविद्या है। यह उपदेश भी उन्हें "राम नाम' की दीक्षा के साथ गुरु रामानन्द से मिला था। भक्त का माया-जाल से मुक्त होना आवश्यक है। यही शंकराचार्य का भी मत है। 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' कहकर उन्होंने जगत या माया की निस्सारता बताई है। जब तक जीव इस जंजाल में फँसा है, यहाँ के आकर्षण में उलझा है, तब तक ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं हो सकता। ब्रह्म के साक्षात्कार के लिए आवश्यक है कि यह व्यवधान, यह पर्दा हट जाय। इस माया के चक्कर में पड़कर जीव निरन्तर आवागमन में पड़ा रहता है और बार-बार अज्ञान और अन्धविश्वास का शिकार होकर दुःख और संकट में पड़ा कराहता रहता है। जैसे ही यह आवरण दूर होता है, आत्मा परमात्मा से मिल जाती है। जिस प्रकार तालाब में पड़े घड़े में पानी होता है और तालाब में भी पानी होता है और घड़े के फूटने पर पानी पानी में ही मिल जाता है—एक

हो जाता है वैसे ही आत्मा माया से रहित होकर परमात्मा में मिल जाती है।[1] अतएव कबीर का यह उपदेश है कि जैसे भी हो, इस माया से अपना पिण्ड छुड़ाओ। उनका कथन है कि यह माया बड़ी मोहिनी है, मीठी खाँड है और यदि सतगुरु की कृपा न हो तो आदमी का नाश निश्चित है।[2] यह पापिनी अपने हाथ में फंदा लेकर हाट में बैठी है, कबीर ही उसके फंदे को काट पाया है, अन्यथा सारा संसार उसके जाल में पड़ा है।[3] द्वन्द्व का कारण केवल माया है और उसकी गति और मति को कोई नहीं समझ सकता। वह सुर, नर और मुनि सब को नचाती है। सेमल की शाखा पर जैसे अच्छे फूल देखकर कितने ही चातक (?) लुब्ध होकर लगे रहते हैं परन्तु अन्त में रुई उड़ जाती है और उनके हाथ में कुछ नहीं आता, उसी प्रकार जीव माया के रूप पर मुग्ध होता है परन्तु उसको अन्त में हाथ कुछ नहीं लगता। खजूर की क्या बड़ाई है, वह शीघ्र नष्ट हो जायगी। ग्रीष्म ऋतु पास आ गई है; अब तो उसकी छाया भी काम नहीं आयगी—अर्थात् वैभव

१—जल में कुंभ कुंभ में जल है,
बाहर भीतर पानी।
फूटा कुंभ जल जलहिं समाना,
यह तत कथौ गयानी॥

२—कबीर माया मोहिनी, जैसे मीठी खाँड।
सतगुरु की किरपा भई, नहीं तो करनी भाँड॥

३—कबीर माया पापणी, फँध ले बैठी हाटि।
सब जग तो फँधे पड्या, गया कबीरा काटि॥

और ठाट-वाट या बड़प्पन क्षणिक है। उसका अन्त निकट है और जीव को उससे शान्ति नहीं मिल सकती। वास्तव में माया' स्वयं तो चालाक है और दूसरों को बहकाती है। वह कामिनी और कनक के मामले में बड़ी तेज़ है। कबीर कहते हैं कि हे सन्तो, राम के चरणों में रति करो—प्रेम करो। यही माया के चंगुल से छूटने का एकमात्र साधन है।[1]

साथ ही उन्होंने संसार की नश्वरता पर ज़ोर देकर लोगों का ध्यान इस बात की ओर भी आकर्षित किया है कि इस प्रकार की झूठी माया से युक्त संसार ही स्वयं नाशवान है। यहाँ सदैव रहने की गुंजाइश नहीं है। यह तो बिराना देश है। यह कागज़ की पुड़िया के समान है जो बूँद पड़ने पर ही घुल जाता है।[2] ऐसे नश्वर संसार में यह सोचकर महल बनवाना कि यहीं सदा रहना है, व्यर्थ है। कबीर समझाते हैं कि लंबी-लंबी दीवारें और मकान

१—राम तेरी माया दुंद मचावै।
गति मति वाकी समझि परै नहिं, सुरवर मुनिहि नचावै।।
का सेमर के तरवर बढ़ये, फूल अनूपम बानी।
केतिक चातक लागि रहे हैं, चाखत सबा उड़ानी।
कहा खजूर बड़ाई तेरी, फल कोई नहिं पावै।
ग्रीखम ऋतु अब आइ तुलानी, छाया काम न आवै।
अपना चतुर और का सिखवै, कामिनि, कनक सयानी।
कहै कबीर सुनो हो सन्तो, राम चरण रति मानी।

२—रहना नहिं देश बिराना है।
यह संसार कागद की पुड़िया बूँद पड़े घुल जाना है।

बनवाना व्यर्थ है। घर तो (अपने शरीर की लंबाई के अनुकूल) साढ़े तीन हाथ का होना चाहिए या अधिक से अधिक पौने चार हाथ का हो सकता है।[१] ठीक भी है क्योंकि जिन महलों में सदा आनन्द पूर्ण गीत गूँजते थे, वाद्ययंत्रों की ध्वनि सुनाई देती थी वही अब खाली पड़े हैं और उनपर बैठकर कौए बोलने लग गए हैं।[२] इस लिए कबीर की दृष्टि में संसार में माया के बन्धन में फँसकर आत्म-तत्त्व को भूलना व्यर्थ है। इस ठगिनी का जाल भयंकर है। सतगुरु की कृपा से इससे अपना पल्ला छुड़ा लेने में ही बुद्धिमानी है।

कबीर ने भारतीय वेदान्त-वाद की दृष्टि से माया और ब्रह्म का निरूपण करके अपने निर्गुण राम की प्रतिष्ठा की है और उसके लिए भक्ति की आवश्यकता पर विशेष लक्ष्य किया है। उनकी भक्ति और प्रेम की विवेचना से पहले हम यह भी देख लें कि कबीर ने हठयोगियों के रूपकों और उलटबासियों का कब और कैसे प्रयोग किया है। कबीर की उलटबासियाँ और रूपक अत्यंत क्लिष्ट और दुर्बोध हैं। उनमें से ठीक-ठीक अर्थ निकालना टेढ़ी खीर है। कबीर के पाठक और आलोचक दोनों को उनकी उलटबासियाँ और रूपक बेसिर-पैर की बातों से भरे लगते हैं और वे लगने ही चाहिएँ क्योंकि जब कोई बात समझ में न आए, हम उससे कोई

१—कहा चुनावै मेड़िया, लाँबी भीत उसार।
घर तो साढ़े तीन हाथ, घणा तो पौने चार॥

२—सातों सब्द जो बाजते, घर-घर होते राग।
वे मंदिर खाली पड़े, बैठन लागे काग॥

निष्कर्ष न निकाल सकें तो हमारे लिए उसका कोई महत्त्व नहीं। लेकिन प्रश्न होता है कि क्या कबीर की उलटबासियाँ व्यर्थ हैं? क्या उनका कोई स्थान कबीर की आध्यात्मिकता में नहीं है? क्या कबीर को उलटबासियाँ लिखने का कोई रोग था? नहीं, ऐसा नहीं है। कबीर ने इन उलटबासियों को लिखने में अपनी एक विशेष दृष्टि रखी है। वह दृष्टि क्या है, इस बात को समझने के लिए हमको नाथ-पंथियों की ओर जाना पड़ेगा। कबीर ने जिन नाथ-पंथियों से अपने हठयोग की निधि पाकर उसे काव्य में या अपनी साधनात्मक वाणी में सम्मिलित किया है, उन नाथ-पंथियों में भी इस प्रकार की उलटबासियों का प्रचार था। बात यह है कि ये योगी करामाती थे, अद्भुत करिश्मे दिखाना उनका प्रमुख कार्य था। जनता पर धाक जमाने के लिए ऐसे करामाती और करिश्मे वाले योगियों ने हठयोग की साधना में प्रयुक्त षटचक्र, इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, सहस्रदल कमल, कुण्डलिनी, ब्रह्मरन्ध्र, नाद, बिन्दु, आदि शब्दों का प्रयोग किया है और उनसे हठयोग द्वारा आत्मा-परमात्मा की एकता का निरूपण किया है। कबीर को भी ऐसा करने की आवश्यकता पड़ी। कारण, कबीर स्वयं अपना सरल मार्ग निकालना चाहते थे और कोई व्यक्ति अपना कोई मार्ग तभी निकाल सकता है जब कि वह अपने समय के सभी मार्गों की जानकारी रखे और उनका निरूपण इतनी ही योग्यता से कर सके जितना कि उस मत के प्रवर्तक और प्रचारक रखते हैं। कबीर ने हठयोग की साधना का वर्णन इसी दृष्टि से किया है। हठयोग में अंगों तथा श्वासों पर अधिकार प्राप्त किया जाता है। उनका उचित संचालन होता है। मन को एकाग्र किया जाता है और परमात्मा के दिव्य

स्वरूप का ध्यान करते-करते आत्मा उसमें एकाकार हो सकती है। हठयोग का अर्थ बलपूर्वक मिलन है। शारीरिक और मानसिक परिश्रम द्वारा ब्रह्म की अनुभूति प्राप्त करना ही हठयोग है। कबीर ने इसका निरूपण बड़ी कुशलता से किया है और ऐसा लगता है मानो वे स्वयं बड़े पहुँचे हुए हठयोगी महात्मा थे।

लेकिन हठयोग का निरूपण करते समय जहाँ कबीर ने रूपकों का सहारा लिया है और उलटबासियों का प्रयोग किया है, वहाँ उनकी बात कहीं तो समझ में आती है, कहीं नहीं। समझ में वहीं आती है, जहाँ पर कि सीधे-सादे रूपक हैं, परन्तु जहाँ अनुमान-सापेक्ष्य अर्थ लेना पड़ता है, वहाँ दुरूहता बढ़ती जाती है। ऐसे स्थलों पर लोग मनमाने अर्थ कर लेते हैं। ऐसे अस्पष्ट अर्थ के कारण ही सहज-यानी योगियों की उलटबासियाँ 'संध्याभाषा' कहलाती हैं। संध्या भाषा का अर्थ ऐसी भाषा है, जो कुछ समझ में आये और कुछ न आये। कबीर ने भी ऐसी अस्पष्टता का जान बूझ कर सहारा लिया है। नाथपंथियों के प्रभाव को नामशेष करने के लिए यह आवश्यक भी था। कबीर ने जब अपना उपदेश आरम्भ किया था तब जनता इन्हीं के भुलावे में थी। कबीर ने उन्हीं के अस्त्र से उनका नाश करने के लिए उलटबासियाँ और रूपक लिखे। वैसे उनका अन्तर, उनकी आत्मा, इनमें रमी नहीं है। 'अवधूत' या साधु को समझाने के लिए या तो उन्होंने इसका प्रयोग किया है या अपने मत-समर्थन के लिए।

हठयोग की साधना का रूपक खड़ा करने के साथ साथ कबीर ने सूफियों के 'प्रेमतत्त्व' को भी लिया है और उसी प्रेमतत्त्व से अपने

अलग पंथ का भी निर्माण किया है। हठयोगियों की भाँति सूफियों का भी अपना कर्मकांड और आत्मा के विकास की अवस्थायें होती हैं। सूफीमत में भी बन्दे और खुदा का एकीकरण है। वेदान्त और सूफीमत में अन्तर केवल यह है कि वेदान्त में माया का अस्तित्व है और सूफीमत में उसका अभाव है। यहाँ माया के स्थान पर शैतान की स्थिति अवश्य मानी गई है, जो बन्दे को भुलाकर भटकाता रहता है। खुदा से मिलने के लिए रूह (आत्मा) को पवित्र करना पड़ता है। शरीयत, तरीक़त, हक़ीकत, मारिफत चार दशाओं से गुज़रना पड़ता है। मारिफ़त में रूह "बक़ा" (चिर-जीवन) प्राप्त करने के लिए 'फ़ना' हो जाती है। इसमें 'इश्क' से सहायता लेनी पड़ती है। इश्क की सहायता से आत्मा परमात्मा का रूप ले लेती है और 'अनलहक़' की अधिकारिणी हो जाती है। इस अवस्था में दोनों में कोई भेद नहीं रहता। वेदान्त और सूफी मत में तात्त्विक दृष्टि से कोई भेद नहीं है। लक्ष्य दोनों का एक ही है। अन्तर केवल साधन का है। वेदान्त में ज्ञान का महत्त्व है और सूफीमत में प्रेम का। मिलन—आत्मा परमात्मा का एकीकरण - दोनों का साध्य है। कबीर ने वेदान्त के साथ सूफी मत का भी व्यवहार किया है क्योंकि उस समय सूफियों का भी प्रभाव था, विशेष कर मुसलमानों में। और कबीर के शिष्यों में हिन्दू और मुसलमान दोनों थे, इसलए उन्हें ऐसा करना अनिवार्य था। लेकिन इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कबीर का लक्ष्य न तो वेदान्त का समर्थन करना था न सूफीमत का। इसका उपयोग उन्होंने अपने दोनों प्रकार के शिष्यों की आत्मतुष्टि के लिए किया है। ऐसा करने में उनका उद्देश्य केवल इतना ही था कि एक ओर तो वे अपने सहज ज्ञान और आत्मानुभूति प्रेरक आध्यात्मिक भावना की महत्ता बताना चाहते थे

और दूसरी ओर वे यह भी चाहते थे कि उनके शिष्य यह समझ लें कि उनके गुरु किसी भी योगी या सूफी से कम नहीं है। कहीं-कहीं कबीर ने अपने योग और सूफीमत के ज्ञान का उपदेश देते समय अपने को महान प्रमाणित करते हुए गर्वोक्तियाँ भी की हैं। परन्तु यह सब सांप्रदायिक और पाखंडी अथवा अज्ञानी हठयोगियों और सूफी फकीरों को नीचा दिखाने की दृष्टि से ही किया गया है। कबीर की आत्मा की ध्वनि वहाँ सुनाई नहीं देती। जहाँ कबीर की आत्मा बोलती है, वहाँ सिद्धान्त-निरूपण नहीं है।

वस्तुतः कबीर का आशय योग, सूफीमत या अन्य किसी प्रकार के सिद्धान्तों का उपदेश देना नहीं था। हृदय की पावन और उच्च भूमि पर उन्होंने प्रेम और प्रीति का बिरवा लगाया था। उनके राम भले ही निर्गुण और सगुण से परे हों लेकिन वे सच्चे भक्त-हृदय थे और उनका यही भक्त हृदय उनके 'सबदों' और 'साखियों' का प्राण है। अब तक लोगों ने कबीर को अक्खड़, नीरस और शुष्क उपदेश देने वाला ही बताया है। बहुत हुआ है तो संसार के प्रति उनका जो दृढ़ वैराग्य है, उसके प्रति ध्यान आकृष्ट कर दिया गया है, लेकिन उनके प्रेम-भक्ति पूर्ण हृदय को परखने की चेष्टा किसी ने नहीं की, या की है तो बहुत कम ने। 'नैया में नदिया डूबी जात" तथा 'बरसे आँगन भीजे पानी' की उक्तियों से हमने उन्हें ऊटपटाँग बकवास करने वाला समझा है या उलटबासियों से कुतूहल उत्पन्न करने वाला। उनके हृदय की थाह किसी ने नहीं पाई, जिसकी कि नितान्त आवश्यकता है। कबीर जैसा सरस हृदय बिरले ही सौभाग्यशालियों को प्राप्त होता है। उन्होंने सच्चे आनन्द का अनुभव किया था और घूँघट के पट खोल कर प्रियतम

के दर्शन किए थे। मृत्यु के उस पार प्रेम, सौन्दर्य और आनन्द की जो त्रिवेणी लहरा रही है, कबीर ने उसी में अवगाहन किया था। उस पार प्रियतम की नगरी में पूर्ण प्रकाश है और वह प्रकाश ही कबीर की आत्मा का साध्य है, उसी को वे अपना लेना चाहते हैं। उसके लिए उन्होंने अपने को सती-साध्वी स्त्री की भाँति तपस्या के मार्ग में छोड़ दिया है। प्रियतम का प्यार पाना अत्यन्त कठिन है और उसके लिए बड़ी तैयारी की ज़रूरत है। बलिदान किये बिना उस प्रियतम का प्यार पाना असंभव है। प्रेम का घर खाला का घर नहीं है, इस घर में घुसने की इच्छा रखने वाला अपना शीश उतारे और पृथ्वी पर रख दे।[1] प्रेम बाड़ी में पैदा नहीं होता और न वह हाट में ही बिकता है, राजा और प्रजा में से जो कोई लेना चाहे वह अपना सर दे और ले ले।[2] यह तो सौदा ही बड़ा मँहगा है। कबीर ने इसी सौदे को किया था और वे लोगों से कहते थे कि यदि तुम में से कोई इस प्रेम का सौदा करना चाहे तो उस कबीर के साथ आवे जो अपना घर फूँक चुका है। यह बात कबीर खुले आम कहते थे। वे तो बाज़ार में लकुटिया हाथ में लेकर ऐसा कहने की हिम्मत करते थे।[3] कबीर का जीवन इसी प्रेम की पीड़ा से प्लावित था,

---

१—यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं।
  शीश उतारे भुँहिं धरे, तो पैसे घर माहिं॥

२—प्रेम न बाड़ी ऊपजै, प्रेम न हाट बिकाइ।
  राजा परजा जिहिं रुचै, शीश देइ ले जाइ॥

३—कबिरा खड़ा बजार में, लिये लकुटिया हाथ।
  जो घर फूँके आपना, चले हमारे साथ॥

इसी पीड़ा को वे हृदय में सँजोए अपने प्रियतम के विरह और मिलन के सपने देखा करते थे। कबीर का आदर्श बड़ा ऊँचा था। वे अपने को कभी तो प्रियतम की चिर-विरहिणी मानते हैं, कभी चिर-संयोगिनी। कभी वे कहते हैं—

> सोवौं तो सुपने मिलै, जागौं तो मन माँहि।
> लोचन राता सुध हरी, बिछुरत कबहूँ नाँहि॥
> गगन गरजि बरसै अमी, बादल गहरि गँभीर।
> चहुँ दिसि दमके दामिनी, भीँजा दास कबीर॥

और कभी कहते हैं—

> चकवी बिछुरी रैन की, आइ मिली परभाति।
> जो जन बिछुरे राम से, ते दिन मिलें न राति॥
> बासरि सुख ना रैण सुख, ना सुख सपने माँहि।
> कबीर बिछुरा राम से, ना सुख धूप न छाँहि॥
> बिरहिन ऊबी पंथ सिर, पंथी बूझै धाइ।
> एक सबद कहि पीव का, कबरे मिलैंगे आइ॥

मिलन और विरह की ये झंकारें कबीर की हृदय-वीणा के अन्तरंग से निकली हैं, जिनमें उनका हृदय हर्ष और विषाद के झूले में झूल रहा है। परन्तु एक बात है, कबीर हैं आशावादी। चाहे कुछ हो, वे मस्त और फक्कड़ हैं। उन्हें विरह और मिलन में उत्साह और उल्लास है। कारण यह है कि कबीर प्रेम का प्याला पी चुके थे और वह भी हृदय से, जिसके कारण उनका रोम-रोम नशे में झूम रहा है। उनका शरीर रबाब हो गया है और शरीर की शिराएँ ताँत बन गई हैं, विरह बजाने वाला है। उस शरीर-रूपी रबाब की शिराओं-रूपी ताँत से विरह जो राग छेड़ता

है, उसे सुनने वाला या तो साँई है या चित्त है, अन्य कोई नहीं सुन सकता। यह दशा है कबीर की कि प्रीति घुलकर मन में समा गई है और रोम-रोम 'पिऊ' 'पिऊ' पुकारता है। वाणी चुप, असमर्थ है।[1]

अब तो कबीर की स्थिति यह है कि उसे सर्वत्र प्रियतम के अतिरिक्त और कुछ दिखाई हीं नहीं देता। आश्चर्य की बात यह है कि वे अपने प्रेमी की—लाल की—लाली देखने चले थे और जब उसकी लालिमा देखी तो स्वयं भी लाल हो गए। प्रियतम का ऐसा जादू उनके ऊपर चढ़ा कि वे अपना सब कुछ भूल गए और उन्हें होश ही नहीं रहा।[2] वस्तुतः कबीर ने उस आनन्द का अनुभव किया है, जिसे परमानन्द कहते हैं, जो ब्रह्मानन्द है। उस आनन्द के अनुभव करने के कारण उनकी दृष्टि बड़ी विशाल होगई है। उस आनन्द की प्राप्ति के लिए उन्हें बड़ा श्रम करना पड़ा है। वह आनन्द सहज ही प्राप्त नहीं हो गया है। मिलन के इस अमर आनन्द के पीछे कबीर की सती आत्मा को विरह का बीहड़ पथ पार करना पड़ा

१—कबीर प्याला प्रेम का अन्तर लिया लगाय।
रोम रोम में रमि रहा, और अमल क्या खाय॥
सब रग ताँत, रबाब तन, बिरह बजावै नित्त।
और न कोई सुन सके, कै साँई कै चित्त॥
प्रीति जो लागी घुल गई, पैठि गई मन माँहि।
रोम रोम पिउ, पिउ, कहै, मुख की सरधा नाँहि॥

२—लाली मेरे लाल की, जित देखों तित लाल।
लाली देखन मैं चली, मैं भी हो गई लाल॥

है और उसकी अवस्था मृतात्मा जैसी होगई है। विरह के जैसे तीखे चित्र कबीर ने अपनी बानी में उपस्थित किये हैं, वे अन्यत्र दुर्लभ हैं। ठीक भी है, उनका प्रेम का आदर्श अत्यंत उच्च था। तभी उसका पंथ देखते-देखते आँखों में झाँई पड़ गई है और उसका नाम पुकारते-पुकारते जीभ में छाले पड़ गए हैं, नेत्रों से झड़ी लग गई है और रात-दिन वे जलमग्न रहते हैं और प्राण पपीहे की भाँति पुकारते हैं कि हे राम कब मिलोगे। ऐसा होना भी चाहिए, क्योंकि हँस हँसकर कन्त को किसी ने नहीं पाया, जिसने भी पाया है, उसने रो-रोकर पाया है, क्योंकि यदि वह हँस हँसकर मिलता तो संसार में कोई दुखी न होता।[1] ऐसा प्रियतम यदि एक बार मिल जाय तो कबीर उसे अपने नेत्रों की पुतली में बंद करके रख लें और न स्वयं और कुछ देखें न अपने प्रियतम को ही कुछ देखने दें —

नैना अन्तर आव तू, नैन ढाँपि तोहि लेहुँ।
ना मैं देखूँ और को, ना तोहि देखन देहुँ।

कबीर की आत्मा प्रियतम के लिए बावली हो रही है। उसे नैहर (संसार) बिलकुल पसंद नहीं है। पसंद आ भी नहीं सकता, जब कि स्वामी की सुन्दर नगरी के लिए मन बेचैन है। वह नगरी

१—आँखड़िया झाँई पड़ी, पंथ निहारि-निहारि।
जीभड़ियाँ छाला पड़्या, राम पुकारि-पुकारि॥
नैना नीझर लाइया, रहट बसै निस-जाम।
पपिहा ज्यूँ पिव-पिव करौं, कबहु र मिलोगे राम॥
हँसि-हँसि कन्त न पाइया, जिन पाया, तिन रोइ।
जो हाँसे ही हरि मिलैं, कौन दुहागिन होइ॥

भी बड़ी अनोखी है। वहाँ चाँद-सूरज और पवन-पानी की गति नहीं है। वहाँ कोई विरह की पीड़ा से व्यथित प्रिया का सन्देश पहुँचाने वाला भी तो नहीं है।[1]

उस प्रीति की नगरी तक पहुँचना और अमर प्रेम के आनन्द का उपभोग करना ही कबीर के जीवन का लक्ष्य था और उन्होंने उसे प्राप्त किया भी; परन्तु उसके लिए उन्होंने मृत्यु, हाहाकार और विनाश के कोलाहल पूर्ण संसार को सदैव के लिए तिलांजलि दे दी। इस संसार के प्रति तीव्र विरक्ति ही उनके उस नगरी तक पहुँचने का मूल कारण है। अपने इस संसार की उपेक्षा करके वे ऊपर उठे हैं और शून्य महल में दीपक जलाकर उन्होंने अखंड समाधि लगाई है। साजन की ऊँची अटारी में पौढ़ते हुए कहा है—'अब हम अमर भए न मरेंगे।' भगवत्-प्रेम का इतना उच्च आदर्श पालने वाले व्यक्ति संसार में कम ही हुए हैं। यह आदर्श सती और सूरमा का आदर्श है, जो भक्त को स्वाभिमान से भर देता है। बात यह है कि कबीर को जो चुनरी शृंगार के लिए प्रीतम ने दी थी, उसे उन्होंने बड़ी सावधानी से पहना। फूहड़ स्त्रियाँ थोड़े ही दिनों में उसे गंदा कर देती हैं पर कबीर ने उसमें दाग नहीं पड़ने दिया। आत्म-विश्वास की कसौटी पर कबीर खरे उतरते हैं; क्योंकि जीवन की जिस चादर को सुर, नर, मुनि भी गंदा होने से नहीं बचा सके उसे

१—नैहरवा हमका नहिं भावै।
साईं की नगरी परम अति सुंदर, जहँ कोई जाइ न आवै।
चंद्र-सुरज जहँ पवन-न पानी, को संदेस पहुँचावै।
दरद यह साईं को सुनावै॥

ही दास कबीर ने यत्न-पूर्वक ओढ़ा और ज्यों का त्यों धर दिया।
प्रेमिका के आत्म-विश्वास की यहाँ सीमा हो गई है। कबीर प्रेम के
सच्चे पारखी थे, यह असंदिग्ध है।

लेकिन कबीर के इस प्रेम में भक्ति का समावेश होने से सोने में
सुगन्ध की कहावत चरितार्थ हो गई है। भक्ति के पारस का स्पर्श
पाकर प्रेम कंचन हो गया है—ऐसा कंचन जो सदा एक-रूप चमकता
है; जिसमें कभी धब्बा नहीं पड़ता, जिसे शुद्ध कन्चन कहते हैं।
कबीर के विरह और मिलन के उद्गारों का संग्रह यदि तैयार किया
जाय तो एक पूरा पोथा तैयार हो सकता है; लेकिन उसमें कहीं भी
वे निम्न स्तर पर नहीं उतरे हैं, सभी पदों में उनकी पावनात्मा
का प्रकाश है और उस प्रकाश का आधार या मूल-स्रोत है—उनकी
भक्ति-भावना। भक्ति-भावना के कारण वासना या निकृष्ट प्रेम की
छाया तक उनकी वाणी को नहीं छू सकी है। भक्ति के श्रवण,
कीर्तन, स्मरण आदि जो भेद किये गये हैं, उन के अतिरिक्त किसी की
भक्ति-भावना की परीक्षा के लिए तो केवल एक बात की आवश्यकता
है और वह है अनन्य भाव से भगवान को आत्म समर्पण कर देना
और उसमें स्वार्थ का नितांत अभाव हो जाना; क्यों कि जब तक भक्ति
सकाम होती है तब तक सेवा का कोई मूल्य नहीं। सकाम भक्ति
से हमें प्रियतम नहीं मिलता, इसलिए निष्काम भक्ति ही चाहिए।[1] फिर
यदि उस भक्ति में प्रेम नहीं तो भी बेकार है, क्योंकि बिना प्रेम की भक्ति
में सारा संसार भटकता है। यद्यपि भाग्य से ही ऐसी 'प्रेम-प्रीति' की

१—जब तक भक्ति सकाम है, तब लगि निष्फल सेव।
कह कबीर क्यों पाइए, निहकामी निज देव॥

भक्ति मिलती है तो भी चेष्टा इसी के लिए करनी चाहिए।'

भक्ति में प्रेम का स्वर तीव्र होने के कारण कबीर में वह सरलता, वह आकर्षण और वह माधुर्य है, जो अन्य कवियों में शायद ही मिले। भक्त का अनन्य भाव प्रेम से मिलकर उसे इतना सशक्त बना देता है कि उसकी आत्मा अपनी व्यथा को छिपाने का प्रयत्न करने पर भी नहीं छिपा सकती। छिपाये भी कैसे? व्यथा है और प्रियतम की लगन है। दोनों का सम्मिलित स्वर तीव्र होकर फूट पड़ता है और, कबीर की आत्मा पुकार उठती है—"हाय वे दिन कब आवेंगे जब कबीर का जीवन सफल होगा। देह धरने का फल मिलेगा। प्रियतम के गाढ़ आलिंगन का अनुभव होगा। प्रियतम से हँसने, खेलने और एकाकार होने का अवसर मिलेगा। हे राम-राजा, हे माधव, मेरी इस कामना को पूर्ण करो—उदास और बेचैन होकर सारी रात जाग के बितानी पड़ती है। सेज सिंह हो गई है जो सोते ही वार कर देती है और आँख नहीं लगने देती। कबीर कहते हैं कि दास की इतनी सी विनय सुन लीजिए और मिलकर उसके तन की तपन बुझा दीजिए।"[२] "मैं अबला हूँ और पिउ-पिउ कर

१—भाग बिना नहिं पाइए, प्रेम-प्रीति की भक्ति।
बिना प्रेम नहिं भक्ति कछु, भक्ति पर्यौ सब जक्त॥

२—वै दिन कब आवैंगे माइ।
जा कारनि हम देह धरी है, मिलिबौ अंग लगाइ॥
हौं जानूँ जे हिल मिल खेलूँ, तन मन प्रान समाइ।
या कामना करौ परपूरन, समरथ हौ राम राइ॥
माँहि उदासी माधौ चाहै, चितवत रैनि बिहाइ।

रही हूँ। मेरा प्रियतम निर्गुण है और मैं सनेही राम के बिना और किसी को नहीं देखती।" "देखने के लिए अवकाश भी तो नहीं है। कारण, अविनाशी की सेज का माजरा ही ऐसा है कि उसकी छवि ही देखने में इतनी विभोरता हो जाती है कि और कुछ देखने-सुनने या कहने की गुंजाइश ही नहीं रहती, क्योंकि उस अविनाशी की सेज पर परमानन्द विलास कर रहा है। "कबीर उसके विरह में झुलस रहा है। क्या कोई ऐसा है जो इस कबीर की दशा को उस निर्मोही से जाकर कह दे।" भक्ति की यह तन्मयता, आत्म-समर्पण और प्रियतम के लिए घुल घुल कर मरने और तड़पने की यह लगन ही भक्त को भगवान के निकट पहुँचाती है। ज्ञानी को मोक्ष में जो आनन्द है वही आनन्द भक्त को अपने भगवान के लिए हर प्रकार तड़पने और मिटने में है। कबीर ऐसे ब्रह्म को मानते थे, जो सभी प्रकार के वादों और द्वंद्वों से परे है; अकथ, अलख और निरंजन है। परन्तु क्या कोई ऐसा कह सकता है कि वह ब्रह्म तुलसी, सूर आदि भक्तों के ईश्वर से भिन्न है! नहीं। ऐसा कहना अपने अज्ञान का परिचय देना है। कबीर की भक्ति भावना में जो नवीनता है, जो भिन्नता है, उसका कारण है उनकी सामयिक परिस्थिति। कबीर योग मार्ग की ओर झुके थे, जो कुल-गुरु-परंपरा के कारण आवश्यक था। उससे वे मुक्त नहीं हो सकते थे। हाँ, जब रामानन्द जी से भेंट हुई तब उन्हों ने राम नाम की महिमा समझी और

सेज हमारी स्यंघ भई है, जब सोऊँ तब खाइ ॥
यहु अरदास दास की सुनिये, तन की तपनि बुझाइ।
कहै कबीर मिलै जे साईं, मिलि करि मंगल गाइ ॥

योग के शुष्क पदों के स्थान पर भक्ति के सरस गीत उन्हों ने गाये, उसी प्रकार जैसे सूर ने बल्लाभाचार्य के सत्संग के पश्चात् विनय के स्थान पर बाललीला के पद कहे। रामानन्द से ही उन्हों ने सहज समाधि का पाठ पढ़ा और नाथ-पंथियों तथा सूफियों की साधनात्मक प्रणाली को छोड़ दिया —

संतो सहज समाधि भली है।
जब से दया भई सत गुरु की, सुरति न अनत चली है॥
जहँ-जहँ जाऊँ सोई परिकरमा, जो कछु करौं सो पूजा।
घर बन खंड एक सम लेखौं, भाव मिटावौं दूजा॥
शब्द निरंतर मनुवाँ राचा, मलिन बासना त्यागी।
जागत सोवत ऊठत बैठत, ऐसी तारी लागी॥
आँख न मूँदूँ, कान न रूँधूँ, काया कष्ट न धारूँ।
उघरे नैनन साहब देखूँ, सुन्दर बदन निहारूँ॥
कहहिं कबीर यह उन्मनि रहनी, सो परगट करि गाई।
दुख-सुख के यह परे परम पद, सो पद है सुखदाई॥

इस प्रकार कबीर ने अपने भगवान को देखा और अनुभव किया था और सर्वत्र उसकी सत्ता का प्रसार पाया था। ऐसा आत्मज्ञान होने पर वे यदि अद्वैतवाद, पैगंबरी खुदावाद या सूफीवाद के विज्ञापन-कर्ता बन जाते तो उनका कबीरत्व क्या रहता। उनका कबीरत्व तो तत्त्व-चिंतन में था और वह तत्त्व था प्रेम-भक्ति का, आत्म समर्पण का, सर्वस्व निछावर करने का। अपने आराध्य के चरणों में उसी की भावना में लीन होकर खो जाना उन्हें स्वीकार था। दर्प या अक्खड़पन इसलिए था कि वे अनन्य भावुक थे और तरल व्यक्तित्व को

ले कर जिये और मरे। खंडन की वृत्ति का प्राधान्य उनमें है, वह इसलिए कि जिस ऊँची भाव-भूमि पर उन्हों ने अपने प्रेम-भक्ति के यज्ञ की वेदी बनाई थी उसे न हिन्दू समझ पाते थे न मुसलमान। इसलिए उन्हों ने एक ओर दोनों संप्रदायों के आडम्बर और पाखंड के नासूरों की चीर-फाड़ की और अपना प्रेमपूर्ण निर्गुण तत्त्व मरहम की भाँति दिया, जिससे तप्त, व्यथित और पीड़ित जन-समुदाय की आत्मा का कायाकल्प हो गया। कबीर के समय में जनता का अधिकांश भाग पौराणिक हिन्दू धर्म के प्रभाव में था और उस धर्म में केवल बाह्याचार ही प्रधान था। उसके भीतरी तत्त्व की ओर लोगों का ध्यान नहीं जाता था। वेदपाठ, तीर्थयात्रा, छुआछूत, अवतारवाद और कर्मकाण्ड में ही लोगों की सारी शक्ति लग जाती थी। आत्मा की पवित्रता के ऊपर ध्यान देने का अवकाश ही उनके पास नहीं बचता था। कबीर ने इसीलिए इस की बुराई की है। कुछ लोगों का मत है कि कबीर इस कर्मकाण्ड के भीतरी तत्त्व से अनभिज्ञ थे, इसलिए वे इसकी बुराई करते प्रतीत होते हैं। यह सच हो सकता है, क्यों कि वे "ढाई अक्षर प्रेम का पढ़े सो पंडित होय" के दर्शन को मानते थे। फिर सब के भीतर आत्मिक शांति की ही तो प्यास है। यदि वही पूरी न हो तो फिर ऊपर का सब ढकोसला व्यर्थ है, उसका अभिप्राय ही क्या है? 'पंडित' और 'पांडे' इन्हीं ऊपरी आडम्बरों में उलझे हुए थे; अतः उन्होंने, जी खोलकर उनकी आडम्बर-प्रियता की धज्जियाँ उड़ाईं और उनको नामशेष करने का प्रयत्न किया। उन्होंने कहा—"पत्थर पूजने से यदि भगवान मिलें तो मैं पहाड़ की पूजा कर सकता हूँ। अरे! घर की जिस चक्की का पिसा खाते हैं, उसे कोई नहीं

पूजता, व्यर्थ के पत्थर सब पूजते हैं।"[1] फिर "तुम ब्राह्मण हो तो और रास्ते से क्यों नहीं आए।"[2]

छूत-छात और भेद-भाव के इस व्यापार में फँसे पंडितों को वे हर घड़ी फटकारते हैं, यही नहीं मुसलमानों को भी वे इसी प्रकार खरी खोटी सुनाते हैं। उनकी हिंसा और रोज़ा-नमाज़ भी उन्हें उतनी ही अप्रिय लगती हैं, जितने हिन्दुओं के हवन-यज्ञ और व्रत-पूजा-विधान। वे उनसे भी कहते हैं कि तुम दिन को तो रोज़ा रखते हो और रात को गाय काटते हो। एक ओर खून और दूसरी ओर बन्दगी। बताओ खुदा कैसे खुश हो सकता है।[3] साथ ही चेतावनी भी देते हैं और बड़ी खूबी के साथ—जब पत्ती खाने वाली बकरी की खाल निकाली जाती है तब जो व्यक्ति बकरी को खाते हैं उनका न जाने क्या हाल होगा![4] इस प्रकार मुसलमानों को भी वे छोड़ते नहीं है। हिन्दू और मुसलमानों की इस निन्दा के पीछे उनकी दुष्प्रवृत्ति या संकीर्णता नहीं है वरन् विशालता और सद्भावना है। अल्ला राम, वेद-कुरान, मौलवी-पंडित सब की एक ही गति है, फिर भी

१—पाहन पूजे हरि मिलैं, तो मैं पुजूँ पहार।
ताते यह चाकी भली, पीस खाय संसार॥

२—जो तू बाँभन बँभनी जाया।
आन बाट ह्वै क्यों नहिं आया॥

३—दिन को रोज़ा रखत है, रात हनत हैं गाय।
यह तो खून वह बन्दगी, कैसे खुसी खुदाय॥

४—बकरी पाती खात है, ताकी काढ़ी खाल।
जो बकरी को खात हैं, तिनको कौन हवाल?

वे लड़ते हैं। कबीर यह नहीं सह सकते। यह तो मनुष्यता की भावना का निरादर करना है, पशुता को अपनाना है। "हिन्दू कहै मोहि राम पियारा, तुरक कहै रहमाना। आपस में दोउ लड़ लड़ मूए, मरम न काहू जाना" कहकर वे यही बताते हैं कि मर्म के जानने के लिए आपसी मारकाट की आवश्यकता नहीं है। साथ ही उनकी आत्मा व्यथा से चीत्कार कर उठती है और वे कह उठते हैं—"अरे इन दोउन राह न पाई"। ठीक भी है, दो हैं ही कहाँ? भेद व्यर्थ का है। सृष्टि की दृष्टि से भेद नहीं है, मज़हब भी एक है। अन्तर है केवल करनी का। राम-रहीम जपते-जपते एक ने हाथ में माला ली है, दूसरे ने तसबीह। 'भोंदू' अर्थात् मूर्ख दोनों हैं, क्योंकि वे नहीं जानते कि बोलने वाला न तुरक है न हिन्दू। इसी भेद को देखकर कबीर ने वहाँ लौ लगाई थी जहाँ अल्ला और राम की पहुँच नहीं—'अलह राम की गति नहीं, तहँ कबीर ल्यौ लाय!" इसे देखकर ही हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि कबीर ने न तो अद्वैतवाद का या ब्रह्मवाद का समर्थन किया और न सूफीमत का या पैगंबरी खुदावाद का। मानवता की सामान्य भूमि पर खड़े होकर उन्होंने इन सबसे ऊपर एक नये-निराले आराध्य की कल्पना की, जो कबीर की सबसे बड़ी विशेषता है।

लेकिन कोई यह न समझे कि कबीर केवल इस ईश्वर की कल्पना में ही लगे रहे और उन्हों ने जीवन की दैनन्दिनी या रोज़मर्रा की रीति या प्रणाली पर ज़ोर नहीं दिया। नहीं, ऐसा नहीं है। संसार के प्रति घोर विरक्ति का परिचय देते हुए भी, एक नए-निराले ईश्वर की कल्पना करते हुए भी, उन्होंने अहिंसा तप, सत्य, सज्जनता और अन्य मानवीय गुणों पर विशेष रूप से ध्यान दिया। साधु-

जीवन पर उनकी उक्तियाँ आज भी घर घर सुनाई देती हैं। जीवन की पवित्रता पर ज़ोर देकर उन्होंने देहधारियों को साधना का मार्ग बताया था। इस सब में उन पर हिन्दू धर्म का अधिक प्रभाव है, इस्लाम का नहीं। इससे यह प्रतीत होता है कि वे मुसलमान नहीं थे। हाँ. मुसलमान घर में पले अवश्य थे, जिसके कारण उन में साहस अधिक आ गया था और वे 'ना हिन्दू ना मुसलमान' कह कर लोगों को फटकार सकते थे। दोनो धर्मों के साधना-मार्गों में भी वे हिन्दू धर्म की ओर अधिक झुके मालूम होते हैं, वह इसलिए कि उनका हिन्दू धर्म का अधिक परिचय था और इस परिचय का कारण था उनके हिन्दू संस्कार और रामानन्द का शिष्यत्व।

(कबीर हिन्दू मुस्लिम ऐक्य के प्रचारक और समाज-सुधारक अवश्य थे; परंतु ऐसे, जो कथनी-करनी में भेद नहीं करते। आज भी समाज-सुधारक हैं, परंतु 'मुँह में राम बगल में ईंट' यह है उनका रूप। वे भाषण देंगे तो उनका रूप और होगा और जब घर आयेंगे तो और रूप होगा। कबीर को वह प्रिय न था। वे तो चाहते थे कि अन्तर-बाह्य एक हो, कहीं कोई दुराव या छिपाव न हो। हम तो समझते हैं कि यदि हिन्दू-मुसलमान के अतिरिक्त कोई अन्य जाति भी होती तो वे जातीय-एकता की अपेक्षा मानव-एकता का समर्थन करते। मानवता कबीर की वाणी का सार है, जो उन्हें समस्त संकीर्णताओं से ऊपर उठा देती है। उनकी हिन्दू-मुस्लिम एकता में राजनीतिक कूटनीति का आभास नहीं है, वह शुद्ध मानवता की झाँकी देने वाली एकता है।)

कबीर जबरदस्त क्रांतिकारी व्यक्ति थे और जैसा कि हम ऊपर देख आए हैं, उनका यह व्यक्तित्व ही भक्ति, प्रेम तथा

मानवता की विभिन्न धाराओं में बहा है जिसने उनकी जीवनप्रद-वाणी को साहित्य की अतुल संपत्ति बना दिया है। पर कबीर की ऊबड़ खाबड़ भाषा को और उनके छंदों में मात्रा की कमी-बढ़ती तथा यति-भंग को देख कर कई लकीर के फकीर आलोचक उन्हें कवि ही नहीं मानते। ऐसे आलोचकों की दशा उस सीता की सी है, जो मर्यादा की रेखा से बाहर नहीं जा सकती। वे परिस्थिति की तीव्रता अतीव्रता का अनुभव नहीं करते। हम कह आए हैं कि कबीर आत्म-दर्शी कवि थे। रीति-कालीन परंपरा-बद्ध कवियों की भाँति वे शास्त्र पढ़कर विषय-वासना में फँसे हुए राजाओं का दिलबहलाव करने नहीं बैठे थे। उन्होंने तो साफ-साफ कह दिया है कि "मसि कागद छूओ नहीं क़लम गही नहिं हाथ।" वे बिना झिझके अपनी बात समझाने की शक्ति रखते थे और लोगों को भक्ति का उपदेश देकर आत्मज्ञान का मार्ग बताते थे, जो जीवन की सार्थकता का अंतिम लक्ष्य है। वे जब कहते हैं—तू कहता कागद की लेखी मैं कहता आँखिन की देखी" तब उनका उद्देश्य स्पष्ट ही अपने अनुभव पर जोर देना होता है। अनुभूति की गहराई कबीर में इतनी है कि वे सीधे हृदय पर चोट करते हैं। कविता की जो परिभाषायें की गई हैं उनके चक्कर में हम नहीं पड़ते। अंग्रेजी के किसी कवि ने कहा है कि कविता का जन्म हृदय से होता है और वह हृदय पर ही प्रभाव डालती है। यद्यपि कबीर प्रतिज्ञा करके कविता लिखने नहीं बैठते तथापि यदि कोई कविता की मार्मिक अनुभूति ढूँढना चाहे तो उसे निराश नहीं होना पड़ेगा। वे अपनी इस अनुभूति के बल पर सहज ही महाकवि कहे जा सकते हैं। उनकी कविता में छंद और अलंकार गौण हैं, संदेश प्रधान है। वह संदेश इतना महान् है

कि उनकी कविता में अलंकारादि का चमत्कार न होने पर भी रस की कमी नहीं है। इसी संदेश के बल पर वे महान कवि हैं। 'बानी' में अनुभूति और भावना का वह संगम है कि वे उसके बल पर उत्कृष्टतम मानसिक स्थितियों को वाणी दे पाये हैं। रहस्यवाद को ऊँची मानसिक दशा कहा गया है, जिसमें असीम की अनुभूति होती है। उस अनुभूति को वाणी देना कबीर का ही काम था। उनका काव्य जीवन के अत्यन्त निकट है, जो रहस्यवाद की अनुभूति से आच्छादित होते हुए भी स्फटिक की भाँति स्वच्छ और काँच की भाँति पारदर्शी है।

कबीर स्पष्टवादी और भावुक थे। भाषा और छंद-अलंकार के पचड़े में पड़ना उन्हें स्वीकार नहीं था। इसीलिए वे पद विन्यास के चातुर्य में नहीं पड़े। उनकी उलटबासियों की भाषा अत्यंत क्लिष्ट है, जब कि साखी और सबद अत्यंत सरल भाषा में हैं। भाषा की यह अनेकरूपता उनकी रचना में अनायास आ गई है। कबीर की वाणी के पूरे संग्रह को, जिसे बीजक कहा जाता है, देखने से यह बात स्पष्ट हो जायगी कि वे धर्म की जिज्ञासा उत्पन्न करने के लिए उलटबासियाँ लिखते थे और संकीर्णता हटाने के लिए रेखते। साखियों में भाषा राजस्थानी-मिश्रित खड़ी बोली है तो सबदों में पूर्वी का प्राधान्य है। योग और सूफीमत के निरूपण में परिभाषिक शब्दों से अजीब खिचड़ी अनायास ही पक गई है, जिसे देखकर आचार्य पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने उसे 'सधुक्कड़ी' भाषा का नाम दिया है। इससे अधिक उपयुक्त नाम कबीर की भाषा को नहीं दिया जा सकता। इसी सधुक्कड़ी भाषा में कबीर की स्वाभाविक वाणी फूटी है। स्वाभाविकता कबीर की कविता का प्राण है। कबीर के विरह के पद किसी भी श्रेष्ठ साहित्य के भंडार की शोभा

बढ़ा सकते हैं। उनकी विरहिणी आत्मा की पुकार सहृदय जनों के लिए शांति और हलचल दोनों एक साथ देती है। उनका 'पतिबरता को अंग' प्रेम भक्ति की भावना से पूर्ण है जिसे रहस्यवाद की दृष्टि से लोग सर्व-श्रेष्ठ मानते हैं और निस्संदेह उनका यह मानना उचित भी है।

क्रान्तिकारी कलाकार होने के कारण कबीर ने जब कहीं भी बंधनों को स्वीकार नहीं किया तब यहाँ वे कैसे करते! उनका उद्देश्य तो संक्रांति काल के सजग नेता की भाँति जनता-जनार्दन की सेवा करना था। कविता में भी उनकी यही शर्त थी। हृदय का मंथन करके जो वाणी भक्तों के हृदय में भक्ति, ज्ञान और मानवता की त्रिवेणी बहाने को फूटी थी, वह अपना काम कर गई। लोग कहते हैं कि कबीर का प्रभाव उच्च वर्ग में नहीं था, वह निम्नवर्ग तक ही सीमित रहा। यह कहना ठीक हो सकता है किसी वर्गवादी के लिए या उसके लिए जो आभिजात्य का अभिमान रखता है। कबीर जैसे व्यक्ति के लिए ऐसा कहना अनुचित है। वे वर्गवादी नहीं थे। वर्गहीन समाज की कल्पना चाहे उनके मन में वैज्ञानिक रूप में न हो, लेकिन उसका महत्त्व उन्होंने आत्मा से अवश्य स्वीकार किया था, इसलिए वे ऐसा सामान्य और सर्वमान्य जीवन-दर्शन दे सके, जो आज भी अभिनन्दनीय और वन्दनीय है। कबीर को उनकी सामयिक परिस्थितियों के भीतर रखकर देखने की आवश्यकता है। किसी विशेष सांप्रदायिक रंग का चश्मा लगा कर उन्हें देखना उनके प्रति अन्याय करना है। ऊपर-ऊपर से कबीर की वाणी को देखना और अपना मत दे देना श्रेयस्कर नहीं है। उस का गंभीर अध्ययन करना अपेक्षित है। यदि कबीर की वाणी का

मर्म समझना है तो उसका एक ही मार्ग है, वह है—हृदय की सामान्य भावभूमि पर उनके हृदय की जाँच करना। वे मानवता के कलाकार थे। सभी प्रकार के सांप्रदायिक बन्धनों से दूर रहकर स्वतंत्र व्यक्तित्व रखते थे। मानव-मात्र के कल्याण के लिए उनका प्रेम-भक्ति का सन्देश संजीवनी बूटी की भाँति है, जो युग-युग तक अमर है। उस सन्देश को पहचानना ही कबीर की वाणी के समुद्र की थाह पाना है। उसकी थाह पाने पर कबीर का व्यक्तित्व स्वतः उद्भासित होने लगता है, उन्हीं के अलख अरूप ब्रह्म की भाँति। हमने यहाँ उनके रूप को प्रत्यक्ष देखने की चेष्टा की है—फिर भी हमारा विश्वास है कि हम उसे स्पष्ट नहीं कर पाये हैं। कबीर के शब्दों में हम केवल इतना ही कह सकते हैं—

जिन खोजा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठि।
मैं बौरी ढूँढन गई, रही किनारे बैठि॥

———

मलिक मुहम्मद जायसी

कबीर ने अपनी प्रेमभक्ति-मयी वाणी से हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियों के आन्तरिक वैमनस्य को दूर करने का प्रयत्न किया था। सामान्य जनता कबीर के विचारों से अत्यधिक प्रभावित थी और दोनों जातियों के फ़क़ीरों और साधुओं का समाज में बड़ा आदर था। दीन और धर्म के नाम पर आपस में लड़ना या मारकाट करना अब बुरा समझा जाने लगा था और दोनों जातियाँ हृदय से पास आने लगी थीं। मुसलमान हिंदुओं की कथाओं को प्रेम से सुनने लगे थे और हिंदू मुसलमानों की कहानियों में रस लेने लगे थे। एक ओर चैतन्य महाप्रभु, वल्लभाचार्य और रामानंद जैसे भक्तिमार्ग के आचार्यों के परंपरागत प्रभाव से पशुहिंसा, मंत्र-तंत्र आदि को लोग घृणा की दृष्टि से देखने लगे थे और उसके स्थान पर भगवत्प्रेम की प्रतिष्ठा होगई थी। दूसरी ओर मुसलमानों में भी सूफ़ी महात्मा 'इश्क़े-हक़ीक़ी' (सच्चे प्रेम) की शिक्षा देने लगे थे और उन्होंने अहिंसा के सिद्धांत को स्वीकार कर लिया था। इस प्रकार एक देश की दो जातियाँ जो कभी परस्पर ईर्ष्या द्वेष का शिकार थीं, इन साधुओं और फ़क़ीरों की उपदेशमयी वाणी से वैर-विरोध बिसारने लगी थीं। लेकिन वैर-विरोध मिटाने का आधार जो इन भक्तों के पास था, आध्यात्मिक था। इस आध्यात्मिकता के साथ दूसरी बात यह थी कि ये संत कबीर की ही भाँति अपनी अटपटी वाणी में मानव-एकता का संदेश देते थे। यह वाणी कभी कभी कठोर हो जाती थी और उससे जनता थोड़ा-सा कष्ट अनुभव करती थी। इसलिए प्रत्यक्ष-जीवन में मधुर भावापन्न वाणी से ईर्ष्या-द्वेष की अवशिष्ट

प्रवृत्ति को दूर करने की बड़ी आवश्कता थी। यह कार्य प्रेममार्गी कवियों द्वारा हुआ। इन कवियों ने मुसलमान होते हुए भी हिंदू कहानियों के द्वारा 'प्रेम की पीर' की व्यंजना की। इन कहानियों द्वारा उन्होंने शुद्ध प्रेम-मार्ग का प्रदर्शन किया और मानव-जीवन की उन मूल भावनाओं को उन्होंने अपने काव्य का आधार बनाया, जो मानव-मात्र की संपत्ति हैं। कुतबन, मंझन, जायसी आदि इन कवियों में प्रमुख हैं। स्वर्गीय आचार्य पं० रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है—"इन्होंने मुसलमान होकर हिंदुओं की कहानियाँ हिंदुओं की ही बोली में पूर्ण सहृदयता से कह कर उनके जीवन की मर्म-स्पर्शिनी अवस्थाओं के साथ अपने उदार हृदय का पूर्ण सामंजस्य दिखा दिया। कबीर ने केवल भिन्न प्रतीत होती हुई परोक्ष सत्ता की एकता का आभास दिया था। प्रत्यक्ष जीवन की एकता का दृश्य सामने रखने की आवश्यकता बनी थी। वह जायसी द्वारा पूरी हुई।"

आचार्य शुक्ल का जायसी के संबंध में यह कथन अक्षरशः सत्य है। जायसी ने निस्संदेह प्रत्यक्ष जीवन में हिन्दू-मुसलमानों को एक होने का संदेश दिया। कबीर यह नहीं कर सकते थे। उनकी परिस्थितियाँ भिन्न थीं। पंडितों के गढ़ काशी में रह कर वे निजी तौर पर उनके विरोध में ही लगे रहे। उनका सारा जीवन पंडितों और मुल्लाओं के विरोध में ही बीता। सामान्य जनता को प्रेम-भक्ति के सूत्र में बाँधने का कार्य करने के साथ-साथ उनका अधिकांश समय खंडन-मंडन में जाता था। फिर उस समय आध्यात्मिकता ही साधु संन्यासियों की कसौटी थी, अतः कबीर को प्रत्यक्ष जीवन की एकता का अवसर ही नहीं मिल पाया। हाँ जायसी के लिए भूमिका उन्होंने अवश्य तैयार कर दी। कुछ जायसी की अपनी परिस्थितियाँ भी

थीं। वे रायबरेली ज़िले में जायस नामक गाँव के निवासी थे। ७ वर्ष की अवस्था में चेचक से उनकी बाईं आँख जाती रही थी और बायाँ कान भी बेकार हो गया था। उसके कुछ ही दिन बाद उनकी माता की मृत्यु हो गई। पिता पहले ही मर चुके थे। अनाथ की भाँति अपनी ननसाल में पले और जवानी में लौटे तो किसान बनकर रहने लगे। अत्यन्त निर्धन और ईमानदार होने के कारण वे सदैव पाप से डरते थे और बड़े परिश्रम से खेती करते थे। इस समय वे सब प्रकार के महात्माओं से मिलते थे और ईश्वर-भक्ति में रत रहते थे। तात्पर्य यह कि वे देहाती थे। कबीर उनकी अपेक्षा नागरिक अधिक थे। उनका देहातीपन ही उन्हें हिन्दू-मुसलमानों की वास्तविक एकता के लिए प्रेरित कर सका। इसी देहातीपन के कारण उनमें वह विनम्रता, वह सादगी और वह पवित्रता थी, जो किसी साधु का भूषण हो सकती है। इसके साथ ही सूफ़ी-मत के प्रभाव से उनकी आत्मा में प्रेम का अपार सागर लहराने लगा था। प्रेम के साथ ही उनमें जीवों के प्रति दया का भाव भी अत्यंत प्रबल था।

इसके अतिरिक्त दो घटनाएँ और हैं, जिन्होंने जायसी की जीवन-धारा को मायामय जगत से मोड़ कर उस सर्वोच्च सत्ता के चिंतन की ओर लगा दिया। पहली घटना तो जायसी की सातों संतानों के अचानक मकान की छत के गिरने से मर जाने की है, जिसने जायसी का जीवन ही सूना कर दिया। दूसरी घटना बड़ी विचित्र है। जायसी के गुरु ने उनसे कहा था कि बिना किसी को भोजन कराये वे भोजन न किया करें। गुरु की आज्ञानुसार उन्हें जो कोई मिलता उसी के साथ बैठ कर भोजन कर लेते। एक दिन खेत पर भोजन रखकर किसी की बाट जोह रहे थे। बड़ी देर तक इंतज़ार करने पर भी कोई नहीं

आया। खोज करने के बाद एक कोढ़ी लकड़हारा मिला। जायसी उसी के साथ भोजन करने लगे। और उस कोढ़ी की उँगलियों के मवाद से सना हुआ भोजन जब वे स्वयं खाने लगे तो उस कोढ़ी ने उन से कहा कि यह नहीं हो सकता, इसे मैं ही खाऊँगा। और उसने उनका हाथ पकड़ लिया। लेकिन जायसी उसे शीघ्र खा गए। इसके बाद वह कोढ़ी अदृश्य हो गया और बहुत खोज करने पर भी न मिला। तब से जायसी घर छोड़ कर फ़कीर हो गए और परम सिद्ध बन गए। उन के लिए घर-बाहर एक हो गया। वे प्रेम का संदेश लिये घर-घर अलख जगाने लगे। उनके पास आने-जाने वालों का ताँता लग गया। हृदय की सचाई और सादगी का ऐसा जादू उनके पास था कि जो एक बार उनसे मिल लिया, वह सदा को उनका हो गया। उनके बहुत से चेले भी हो गए थे।

जायसी अमेठी के राजा रामसिंह के द्वारा सम्मान पाते थे और कहा जाता है कि उनकी दुआ से राजा रामसिंह के कोई संतान हुई थी। राजा उनसे बहुत प्रभावित थे और उन्होंने जायसी के रहने और भोजनादि का प्रबंध कर दिया था। वे भी इस सुख और शांति को पाकर साधना में लीन रहने लगे। सुनते हैं कि वे एक बार शेरशाह सूरी के दरबार में भी गए थे। शेरशाह उनकी कुरूपता देख कर हँस पड़ा। इस पर उन्होंने बड़ी नम्रता से शेरशाह से कहा—"मोहि का हँससि कि कोहरहिं।" अर्थात् हे शाहंशाह ! मुझ पर हँसते हैं या हम सब को बनाने वाले उस कुम्हार (परमेश्वर) पर ?" शेरशाह यह सुन कर लज्जित हो गया और उसने क्षमा माँगी।

इनकी मृत्यु भी विचित्र ढंग से हुई। ये मरने से पहले कहने लगे कि मैं किसी शिकारी की गोली खाकर मरूँगा। राजा रामसिंह

ने जंगल में शिकार खेलने की मनाही कर दी। लेकिन होनहार प्रबल है। एक दिन एक शिकारी को एक बड़ा बाघ दिखाई दिया। उसने उस पर डर के मारे गोली छोड़ दी। बाघ गिर गया। पास जाकर देखा तो जायसी थे। जायसी की कब्र अमेठी के कोट से पौन मील पर बनी है, परन्तु पुराने कोट से जायसी की कब्र डेढ़ कोस की दूरी पर थी।

ऊपर जायसी का संक्षिप्त-सा परिचय दिया गया है, जो यह सिद्ध करता है कि जायसी के काव्य में जो कोमलता, स्निग्धता और सौंदर्य है, उसका कारण उनके जीवन की स्वाभाविक और सरल प्रवृत्ति है। आडंबर और पाखंड जायसी को छू भी नहीं गया था और वे एक-मात्र प्रेम के उपासक थे। उसी प्रेम की व्यंजना के लिए उन्होंने सतत साधना की।

उनकी कीर्ति का विजय-स्तम्भ पदमावत ग्रंथ है। यों तो उन्होंने 'आखिरी कलाम' और 'अखरावट' दो ग्रंथ और भी लिखे। पहले ग्रंथ में मरणोपरांत जीव की दशा और क़यामत के अंतिम न्याय का वर्णन है और दूसरे ग्रंथ में वर्णमाला के अक्षरों को लेकर सिद्धांत-संबंधी बातें कही गई हैं। यही तीन ग्रंथ उनके प्रसिद्ध हैं, जिनमें पदमावत महाकाव्य सर्वश्रेष्ठ है।

पदमावत में सिंहल द्वीप की राजकुमारी पदमावती और चित्तौड़ के राजा रतनसेन की प्रसिद्ध प्रेम कथा का वर्णन है। हीरामन सूआ इन दोनों प्रेमियों के बीच मध्यस्थ (दूत) का कार्य करता है। जायसी ने इस प्रेम-कथा को इतनी तन्मयता से लिखा है कि उसे पढ़ और सुन कर व्यक्ति समस्त भेद भाव भूल कर प्रेम के सरोवर में गोता लगाने लगता है। यह ग्रंथ मुसलमानों के घर में कुरान की तरह पूज्य

माना जाता था और कहीं-कहीं वह उसी प्रकार पढ़ाया भी जाता था। सूफी मत के मानने वाले साधु प्रेम के पुजारी होते हैं और प्रेम ईश्वर तक पहुँचने का एक मात्र साधन है। यही सोचकर यह ग्रंथ इतने ऊँचे स्थान का अधिकारी माना गया था। जिन लोगों के यहाँ यह ग्रंथ मिला है, वे अन्य मुसलमानों की अपेक्षा विनम्र, मिलनसार और सरल हैं। वस्तुतः जायसी स्वयं प्रेम के परमाणुओं से बने थे। इसीलिए उनको प्रेम के अतिरिक्त और कुछ सुन्दर ही नहीं दिखाई देखा था। वन के पत्ते-पत्ते, घास की नोक-नोक और पशु-पक्षियों के रोम-रोम में वे घट-घट-वासी परमात्मा के प्रेम के वाण बिंधे देखते थे। उन्हें सूर्य विरह की अग्नि से जलता हुआ और काँपता हुआ प्रतीत होता था। जायसी के इस प्रेम की स्वाभाविकता में उनका कृषक-जीवन प्रधान था। वे कृषक-जीवन को तपस्यामय और बहु-मूल्य समझते थे। उनका सारा जीवन कृषकों में ही बीता था। इसलिए जितनी भी उपमाएँ उनके काव्य में हैं, वे सब कृषक-जीवन से ली गई हैं। भारत के राजकुमारों और राजकुमारियों, भारतीय नारियों के रूप और सौंदर्य, पातिव्रत-जीवन और मानव-धर्म की महत्ता, दया, पराक्रम, शील और दानवीरता तथा उदारता आदि की प्रशंसा उन्होंने मुक्त कंठ से की है। भारतीयता के प्रति उनकी यह विशाल दृष्टि उन्हें बहुत ऊँचे स्थान की अधिकारिणी बना देती है। जायसी से पहले किसी हिन्दी कवि ने भारत की प्रकृति को पहचानने की चेष्टा नहीं की। वे ही सर्व-प्रथम भारतीय जनता की चित्त-वृत्ति को समझने और उसे वाणी देने में समर्थ हुए। जाति से वे मुसलमान थे पर कर्म से वे पक्के वैष्णव थे। उनकी इसी वैष्णवता ने हिंदुत्व की कथा को मीठी कुनैन की भाँति 'पदमावत' के

रूप में लोगों को दिया और अप्रत्यक्ष रूप से हिंदू-मुस्लिम वैमनस्य को नश्तर लगा दिया। जायसी की परंपरा यदि आगे चलती तो आज हिंदू मुसलमानों में जो कटुता दिखाई देती है, वह न दिखाई देती और भाषा-साहित्य को लेकर जो 'तू-तू मैं-मैं' चल रही है, वह न चलती।

'पदमावत' ठेठ अवधी भाषा में लिखा गया ग्रंथ है, जिसमें साहित्यिक भाषा का पुट कम होने से समझने में कहीं कहीं कठिनाई होती है, परन्तु ऐसा उन सब ग्रंथों के संबंध में होता है, जो किसी ठेठ भाषा में लिखे जाते हैं। फिर जायसी तो जन-कवि थे, जो जनता को प्रेम के संदेश से परिचित कराने के लिए लिखते थे। विद्वानों और शास्त्रज्ञों के लिए उन्होंने अपना काव्य नहीं लिखा। यह ग्रंथ तुलसीदास के 'रामचरित-मानस' से पहले लिखा गया है। छन्द दोहा चौपाई ही हैं। 'पदमावत' में ७०० दोहे और ४६०० (अर्द्धालियाँ) चौपाइयाँ हैं और प्रति ७ अर्द्धालियों के बाद एक दोहा है। तुलसी में ८ अर्द्धालियों के बाद एक दोहा है। समूचा ग्रंथ ५८ खंडों में विभाजित है; जैसे सिंहल द्वीप वर्णन खंड, नख-सिख खंड, सुआ खंड आदि। किसी विद्वान् का यह कथन कि जायसी ने तुलसी का मार्ग प्रशस्त कर दिया था, सच है। कारण, अवधी में 'रामचरितमानस' लिखने से पहले उन्होंने अवश्य ही 'पदमावत' को देखा होगा या न देखा होगा तो उसके विषय में सुना अवश्य होगा। स्वयं जायसी और उनके चेले ही इसे गाते फिरा करते थे।

'पदमावत' के काव्य-सौंदर्य का दिग्दर्शन करने से पहले संक्षेप में उसकी कथा को भी जान लेना आवश्यक है। 'पदमावत' की कथा में ऐतिहासिक और काल्पनिक तथ्यों का सम्मिश्रण कवि ने

ऐसी खूबी के साथ किया है कि देखते ही बनता है। सिंहल द्वीप के राजा गधर्वसेन की कन्या पद्मावती अनुपम सुन्दरी थी। उसके यहाँ हीरामन नाम का एक तोता था। पद्मावती उस से सब प्रकार की बातें किया करती थी। एक बार उसने अपने विवाह की बात भी उस तोते से कही, जिस पर तोते ने वर ढूँढने की प्रतिज्ञा की। राजा इस पर बड़ा क्रुद्ध हुआ और उसने तोते को मार डालने की आज्ञा दी। पद्मावती ने जैसे तैसे तोते के प्राण बचाये। कुछ दिन बाद वह जंगल में उड़ गया। वहाँ वह एक बहेलिए द्वारा पकड़ा गया और बेचने के लिए बाज़ार में लाया गया। चित्तौड़ के एक पंडित ने उसे खरीद लिया। वह उसे राजा रतनसेन की सभा में लाया। राजा ने तोते की बुद्धिमत्ता की परख कर उसे लाख रुपये में खरीद लिया। एक दिन रतनसेन के शिकार को चले जाने पर उसकी रानी नागमती ने तोते से पूछा कि क्या उससे अधिक सुंदर भी कोई स्त्री है। इस पर तोते ने पद्मावती के सौंदर्य का वर्णन करके कहा कि उसमें और तुम में दिन रात का अन्तर है। नागमती ने धाय को उस तोते को मारने की आज्ञा की। धाय ने उसे न मार कर राजा के सम्मुख पेश किया। हीरामन ने सारा वृत्तांत उससे कहा। इस पर राजा पद्मावती के लिए पागल हो उठा और १६ हज़ार कुमार योगियों के साथ घर से निकल पड़ा और समुद्रों तथा द्वीपों को पारकर सिंहलद्वीप पहुँचा और महादेव के मंदिर में बैठकर तप तथा पद्मावती का ध्यान करने लगा। हीरामन तोता उसके साथ था। उसने यह सब वृत्तांत पद्मावती से जाकर कहा। वह वसंत पञ्चमी के दिन रतनसेन को देखने आई। उसकी छवि देखकर वह बेहोश हो गया। पद्मावती उस समय यह लिखकर चली

गई—"जोगी तूने भिक्षा प्राप्त करने योग्य योग नहीं सीखा। जब फल-प्राप्त करने का समय आया तब तू सो गया।"

राजा, होश आने पर पछताया और उसने सिंहल-गढ़ पर चढ़ाई की। राजा गंधर्वसेन की सेना ने उन योगियों को रोककर रतनसेन को फाँसी देनी चाही, लेकिन महादेव द्वारा रक्षा किये जाने के कारण वह बच गया और अन्त में पद्मावती से उसकी शादी भी हो गई। वह बड़ी धूम-धाम से शादी करके लौटने लगा। समुद्र में तूफान आने से वे दोनों बिछुड़ गये और अन्त में बड़ी कठनाई से मिले। चित्तौड़ पहुँचने पर दोनों बड़े प्रेम से रहने लगे।

यहाँ तक कहानी काल्पनिक है, जो अवध में उस समय भी प्रचलित थी और आज भी कहीं-कहीं उसके जानने वाले मिल सकते हैं। इससे आगे राघव चेतन द्वारा पद्मिनी के सौंदर्य की प्रशंसा सुनकर अलाउद्दीन का चित्तौड़ पर चढ़ाई करना, रतनसेन द्वारा पद्मिनी के सतीत्व की रक्षा के प्रयत्न से चिढ़कर अलाउद्दीन द्वारा उसका बंदी किया जाना, पद्मिनी का दिल्ली जाना, गोरा बादल की लड़ाई और देवपाल से युद्ध करते हुए रतनसेन का स्वर्गवासी होना तथा नागमती और पद्मावती का सती होना इस महाकाव्य की मुख्य घटनाएँ हैं। यद्यपि यह उत्तरार्ध ऐतिहासिक है तथापि इसमें भी राघव चेतन की कल्पना, चित्तौड़ पर अलाउद्दीन की चढ़ाई की शर्त (समुद्र से प्राप्त पाँच वस्तुओं का माँगना), पद्मिनी की छाया का अकस्मात् दीख पड़ना आदि घटनाएँ कल्पना के आधार पर ही लिखी गई हैं। वस्तुतः जायसी ही नहीं, कोई भी कवि इतिहास का अंधानुकरण नहीं कर सकता। कवित्व की स्थापना के लिए आवश्यक है कि कल्पना का मोहक रूप पाठकों के सामने उपस्थित किया जाय।

कल्पना इतिहास को सुन्दर बनाती है। जायसी को इतिहास की अच्छी जानकारी थी तो भी उन्होंने काव्य की दृष्टि से उसमें कल्पना का सम्मिश्रण कर दिया है।

कल्पना और इतिहास के सम्मिश्रण से बनी इस प्रेमकथा का हिंदी-साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके लेखक जायसी की अमरता का प्रतीक तो वह है ही, उसने स्वयं अपनी नवीन भावधारा से देश की जनता के हृदय से भय और अविश्वास को मिटाने का कार्य किया है। कारण है—उसकी प्रेम की पद्धति। जायसी ने प्रेम को केंद्रीय भाव माना है। उसी प्रेम के इर्द-गिर्द अन्य सब भावनाएँ चक्कर लगाती प्रतीत होती हैं। जायसी का हृदय प्रेम से सराबोर था। हमें तो ऐसा जान पड़ता है कि उस काल की परिस्थिति-विशेष के कारण ही 'पदमावत' का सृजन हुआ। कबीर का सीधा-सादा अक्खड़ स्वभाव जिस काम को न कर सका, उसे जायसी के आँसुओं ने किया। पदमावत के शृंगार में यद्यपि एकांगिता है तथापि उसमें विश्व के लिए संदेश न हो ऐसा नहीं है। रत्नसेन, पद्मावती, नागमती, हीरामन तोता आदि पात्र मानो प्रेम के अतिरिक्त कुछ देख ही नहीं पाते। 'पदमावत' का पूर्वार्द्ध प्रेम की व्याख्याओं और विवरणों से भरा है, उसमें प्रेम ही प्रेम है। इसका रहस्य है जायसी का जीवन-दर्शन। जायसी कहा करते थे कि यदि प्रेम के पंथ में शीश नहीं कटाया तो पृथ्वी पर आने का कष्ट करना ही व्यर्थ है—

> जो नहिं सीस प्रेम-पथ लावा।
> सो प्रिथिवी महँ काहे क आवा॥

कुछ विद्वानों की सम्मति में जायसी ने 'पदमावत' में प्रेम की जिस प्रणाली का उपयोग किया है, वह अस्वाभाविक है; अर्थात् केवल

एक तोते के मुँह से किसी स्त्री के रूप-गुण की प्रशंसा सुन कर उस के पीछे राजपाट छोड़कर योगी हो जा[illegible]संगत सा लगता है। हम ऐसा नहीं समझते। प्रेम के ऐसे [illegible]रणों की कमी नहीं है। उषा और अनिरुद्ध की कथा भारतीय [illegible]हित्य में ऐसे प्रेम का उदाहरण है। हमारे यहाँ तो शादी-संबंध भी पहले बिना देखे ही हुआ करते थे और नाई या ब्राह्मण की बातों पर विश्वास कर लिया जाता था। इतना ही नहीं; यह बात भी बुरी समझी जाती थी कि लड़का-लड़की शादी से पहले एक दूसरे को देखें या वार्तालाप करें। आज की बात अलग है। दुनियाँ का रंग आज बदला हुआ है। ऐसी दशा में जायसी की प्रेम-प्रणाली अस्वाभाविक जँचे तो आश्चर्य नहीं है। 'पदमावत' में रतनसेन का हीरामन तोते के मुँह से पद्मावती का वर्णन सुनकर पागल हो जाना अत्यंत आकर्षक लगता है और जब हम उसे भक्त और भगवान के रूपक के साँचे में ढालकर देखते हैं तब तो उसकी यथार्थता और सापेक्षिता भी सिद्ध हो जाती है। भगवान का रूप किसी ने नहीं देखा। सब उसके विषय में अनुमान से काम लेते हैं। गुरु के मुख से भक्त जो कुछ सुनता है, वही उसके आकर्षण के लिए पर्याप्त होता है। जहाँ गुरु ने वर्णन किया कि भक्त की आत्मा विभोर हो उठती है, विरक्ति का खुमार चढ़ने लगता है और वह सुध-बुध भूलकर उस 'अनदेखे' की ओर पागल होकर दौड़ने लग जाता है। जायसी ने यही किया है। भक्त-हृदय होने के कारण उनकी दृष्टि अलौकिक थी, भले ही उन्होंने आश्रय लौकिकता का लिया हो। 'हौं पंडितन केर पछलगा' कहकर उन्होंने अपनी दीनता तो प्रदर्शित की है। साथ ही यह भी संकेत किया है कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ, वह कोई अद्भुत बात नहीं है; जो समझदार लोग कर

चुके हैं, वही मैं भी कर रहा हूँ। पंडितों का पिछलगा होने में जायसी को रस था, इसमें संदेह नहीं। इसीलिए उन्होंने अपने पूर्ववर्ती कवियों का एक स्थान पर उल्लेख भी कर दिया है—

विक्रम धँसा प्रेम के बारा। सपनावति कहँ गएउ पतारा॥
मधू पाछ मुगुधावति लागी। गगनपूर होइगा बैरागी॥
राजकुँवर कंचनपुर गएउ। मिरगावति कहँ जोगी भएऊ॥
साध कुँवर खंडावत जोगू। मधुमालति कर कीन्ह बियोगू॥
प्रेमावति कहँ सुरसरि साधा। ऊषा लगि अनिरुध बर बाँधा॥

इस प्रकार जायसी के पहले प्रेम-काव्य की एक परंपरा थी, जिसके अनुकरण पर जायसी ने 'पदमावत' की यह कहानी लिखी। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, 'पदमावत' में प्रेम की वृत्ति प्रधान है। जीवन की शेष वृत्तियों का समावेश भी 'पदमावत' में है, परन्तु उनको प्रधानता नहीं है। दांपत्य प्रेम के अतिरिक्त यात्रा, युद्ध, सपत्नी-कलह, मातृ स्नेह, स्वामी-भक्ति, वीरता, कृतघ्नता, छल और सतीत्व आदि का जो समावेश जायसी ने किया है, वह मानो दांपत्य प्रेम की तीव्रता की अनुभूति को अधिक गहरा रंग देने के लिए ही किया है। दूसरी बात यह भी है कि जायसी का यह काव्य प्रबंध-काव्य की परंपरा की अन्यतम मणि है और प्रबंध-काव्य में जीवन की एकांगिता अथवा एक-पक्षीय चित्रण नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें जीवन के समस्त भावों और विचारों की सीमाओं को घेर लेने की शक्ति होती है। इसलिए 'पदमावत' में प्रेम के अतिरिक्त अन्य जो भावनाएँ हैं, वे प्रसंग-वश आई हैं, या यों कहें कि उनके रखे बिना जायसी की कथा का सूत्र आगे नहीं चल सकता था, इसलिए उन्हें उनका विवश होकर समावेश करना पड़ा है। हमारा तो विश्वास है, कि यदि ऐसा

कोई साधन होता कि जिसके द्वारा वे अकेले प्रेम के द्वारा अपनी भावनाओं का व्यक्तीकरण कर सके होते तो शायद आदि से अन्त तक उसमें प्रेम के अतिरिक्त कोई अन्य वृति ही न होती। लेकिन जीवन का विशालतम क्षेत्र केवल प्रेम की इस अकेली वृत्ति से नहीं ढका जा सकता, उसमें विविध वृत्तियों के समावेश के बिना पूर्णता नहीं आ सकती। परिणाम-स्वरूप उनकी अवहेलना नहीं की जा सकती। जायसी भी जब प्रबन्ध काव्य लिखने चले थे—एक विस्तृत भूमिका पर जीवन की कथा का रंगीन चित्र बनाने चले थे—तब वे एक ही रंग से काम कैसे ले सकते थे, उन्हें अन्य रंगों की सहायता लेना अनिवार्य हो गया। इस बात को अच्छी तरह समझने के लिए यों कहें कि उनका चित्र बहुरंगी होते हुए भी ऐसा है कि जिसमें एक ही रंग की प्रधानता है अथवा उनका काव्य एक ऐसा वस्त्र है, जिसमें कई रंगों के धागे तो हैं परंतु उनमें एक रंग के धागे का सर्वाधिक उपयोग किया गया है और जिस धागे का सर्वाधिक उपयोग किया गया है वह धागा है प्रेम का। प्रेम मानव-जीवन की सर्वाधिक व्यापक वृत्ति है, इसीलिए शृंगार रस, जिसका स्थायीभाव रति या प्रेम माना गया है, रसराज कहा गया है। जायसी इसी रसराज—प्रेम—के व्याख्याकार थे।

शास्त्रीय आलोचकों और विद्वानों ने शृंगार के दो भेद किये है—वियोग शृंगार और संयोग शृंगार। शृंगार के इन दोनों पक्षों में मार्मिकता की दृष्टि से वियोग शृंगार का अधिक महत्त्व है। बात यह है कि संयोग में मिलन का सुख होने से जीवन में एक प्रकार की निष्क्रियता-सी आ जाती है, उसमें व्यक्ति को न तो अपना साहस दिखाने का समय होता है और न कष्ट-सहिष्णुता के प्रदर्शन

का ही अवकाश होता है। प्रेमी और प्रेमिका के निकट होने से अभाव का अनुभव ही नहीं होता। इसके विपरीत वियोग में प्रेमियों के त्याग, सहन-शक्ति और बलिदान की भावना के विकसित रूप को दिखाने के लिए पर्याप्त अवकाश होता है। उसमें दोनों ही अपनी अपनी शक्ति का परिचय दे सकते हैं। इसीलिए प्रेम जहाँ वियोग में विस्तृत क्षेत्र पाता है, वहाँ संयोग में वह संकीर्ण होता है। जायसी भक्त थे और संकीर्णता की सीमाओं को तोड़ चुके थे, अतएव उन्होंने 'प्रेम की पीर' की व्यंजना के लिए विरह को मिलन से ऊँचा स्थान दिया है। उनके विरह की जो व्यंजना हुई है, उसका माध्यम भारतीयता की प्रतिमूर्ति और नारी-जगत की आदर्श नागमती है। यद्यपि कभी-कभी पाठक को यह शका होने लगती है कि 'पद्मावत' में नागमती जब आदर्श स्त्री है, तब उसका नामकरण पद्मावती के नाम पर क्यों किया गया? पाठक की यह शंका निर्मूल नहीं कही जा सकती। परन्तु इसका समाधान खोजने के लिए ग्रंथ से दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। कारण यह है कि जायसी ने अपनी इस कहानी में भारतीयता और सूफ़ीवाद का समन्वय किया है। सूफ़ियों में प्रेम की तीव्रता होती है, आशिक़ और माशूक़ का विधान होता है और वे दोनों प्रत्यक्ष जगत से अलग अपने प्रेम में ही मरते और जीते हैं—जब कि भारतीय नारी और पुरुष प्रेम के गंभीर और संयत रूप को ही अपनाते हैं। उर्दू शायरी में हड्डियों के ढाँचे के लिए फरहाद पहाड़ खोदते मिल जायँगे पर हिन्दी कविता में ऐसी असंभव बातें नहीं मिल सकतीं। यहाँ भी राम ने धनुष तोड़ा है, परन्तु वह धनुष केवल सीता की प्राप्ति की आशा से नहीं वरन् इसलिए कि सीता जैसी सती साध्वी नारी कहीं किसी

अमानवीय हाथों में न पहुँच जाय। फिर राम जैसे शील-शक्ति-सौंदर्य-संपन्न थे, उसे देखते हुए धनुष का टूटना असंभव न था। इतना होने पर भी ग्रंथ का नामकरण पद्मावती के नाम पर इसलिए किया गया है कि उसकी स्थिति अनिवार्य है। पद्मावती यदि न होती तो कथा कहना ही मुश्किल हो जाता। उस दशा में न रतनसेन को योगी होने का अवकाश मिलता और न नागमती को अपनी पीड़ा और तड़प के प्रदर्शन का ही अवसर प्राप्त होता। इस प्रकार पद्मावती मानो केन्द्र बिन्दु है जिससे कथा के सूत्र किरणों की भाँति छूटते हैं। अलौकिक पक्ष की व्यंजना के लिए भी पद्मावती ही एक-मात्र साधन है। अतएव वैसे भी उसे नहीं भुलाया जा सकता। फिर सूफीवाद की दृष्टि से भी पद्मावती का व्यक्तित्व अपेक्षा भी महत् है। ये ही कारण हैं कि ग्रंथ का नाम नागमती के नाम पर न रख कर पद्मावती के नाम पर रखा गया है।

जायसी ने अपने काव्य में विरह की व्यंजना का भारतीय रूप ही प्रधान रक्खा है और उसका आश्रय रक्खा है नागमती को, जब कि संयोग की भावना का व्यक्तीकरण पद्मावती के द्वारा हुआ है, जो सूफीमत के प्रेम की अभिव्यक्ति का साधक है। सारांश यह है कि जायसी में विरह की प्रधानता है और उसमें भारतीयता प्रधान है। भारतीय नारी अपने विरह का प्रदर्शन नहीं करती, वह तो गीली लकड़ी की भाँति सुलगती रहती है—भीतर ही भीतर। और कभी कभी तो ऐसा होता है कि उसका धुआँ भी प्रकट नहीं होता। जायसी स्वयं ज़बर्दस्त विरही थे। उनका कहना था कि प्रेम की चिनगारी का नाम सुनकर पृथ्वी और आकाश घबराने लगते हैं—केवल विरहियों का हृदय ही होता है, जहाँ उस अग्नि को स्थान

मिल जाता है।[1] उस प्रेम में मुख पीला पड़ जाता है, नेत्रों से जल उमड़ने लगता है, प्रेम के जल से भरे नयन ही वचनों का काम करते हैं। तन बेसँभार हो जाता है और मन पागल हो कर बेकल बन जाता है। जटाएँ प्रेम के कारण उलझ जाती हैं।[2] इसीलिए वे चिल्ला-चिल्ला कर कहा करते थे, कि 'हे भाई कोई प्रेम के फंदे में न पड़े। प्रेम का रोगी कोई न बने। प्रीति की बेल में कोई मत उलझे!'[3] ऐसा वह इसलिए कहते थे कि उनकी दृष्टि में प्रेम की अग्नि का सहने की सामर्थ्य गिरि, समुद्र, शशि, मेघ, रवि आदि किसी में नहीं। अकेली सती धन्य है जो अपने प्रिय के लिए इस आग में जलती है।[4] सती के इस आदर्श के ही कारण संभवतः विरह की अग्नि में जलने का काम नागमती को सौंपा गया है। यों प्रेम की तीव्रता पद्मावती में भी कम नहीं है परन्तु विरह की लपटों को झेलने का साहस सती नागमती को ही हो सकता था, प्रेयसी पद्मावती

१—मुहमद चिनगी पेम कै, सुनि महि गगन डेराइ।
धनि विरही औ धनि हिया, जहँ अस अगिनि समाइ॥

२—बदन पिअर जल उमगइ नैना।
परगट दुअउ पेम के बैना॥
तन बिसँभर, मन बाउर लटा।
अरूझा पेम परी सर जटा॥

३—पेम के फंद कोइ जनि परई॥
जनि कोइ होइ पेम कर राता॥
प्रीति बेलि जिनि अरुझै कोई॥

४—गिरि, समुद्र, ससि, मेघ, रबि, सहि न सकहिं वह आगि।
मुहमद सती सराहिए, जरै जो अस पिय लागि॥

को नहीं। यही कारण है कि वनवासिनी नागमती सिसकी भर-भर कर कोयल की भाँति रो रही है। उसके आँसू, जो रक्त के हैं, घुँघची के रूप में वन प्रकट हुए हैं। जहाँ-जहाँ वह खड़ी होती है वहाँ वहाँ घुँघचियों की राशि एकत्र हो जाती है। बूँद बूँद में उसका जी बसा हुआ है और आँसुओं की वह घुँघची 'पिउ पिउ' पुकारती है। उस दुःख के कारण पलास निपाते पत्रहीन—हो गए हैं और (उनके फूल) रक्त में डूब कर लाल हो गए हैं। पलास ही नहीं उस रक्त से भीग कर बिंबाफल भी लाल हो गया है। यही क्यों, पलवल पक गया है और गेंहूँ का उर फट गया है।[1]

विरह का अलख जगा कर वन-वन फिरने वाली नागमती के आँसुओं का प्रभाव केवल उस के शरीर तक ही सीमित नहीं है। वह पशु-पक्षी और पेड़-पौधों से पूर्ण इस समस्त जड़-चेतन संसार तक विस्तृत है। विरह प्रिय के अभाव से उत्पन्न होता है और अभाव दुःख का मूल है और दुःख विश्व-बंधुत्व की ओर ले जाता है। विरह में इसीलिए चेतन ही नहीं जड़ भी मनुष्य के साथ हँसता-रोता और सुख-दुख का अनुभव करता है। मिलन में आनंद या सुख का अतिरेक व्यक्ति को चेतन जगत से भी लापरवाह बना देता है। यही कारण है कि नागमती के विरह में समस्त सृष्टि उसके आँसुओं से भीगी और उसकी विरह-ज्वाला में झुलसी दिखाई देती है। वह

१—कुहुकि कुहुकि जस कोइल रोई। रकत-आँसु घुँघुची बन बोई॥
जहँ-जहँ ठाढ़ि होई बनबासी, तहँ-तहँ होइ घुँघुचि कै रासी॥
बूँद-बूँद महँ जानहुँ जीऊ। गुंजा गूँजि करै 'पिउ पीऊ'॥
तेहि दुख भए परास निपाते। लोहू बूड़ि उठे होइ राते॥
राते बिंब भीजि तेहि लोहू। परवर पाक, फ़ाट हिय गोहूँ॥

विरह की तीव्र पीड़ा से कराहती हुई पशु-पक्षियों से सहायता की याचना करती हुई कहती है—

पिउ सों कहेहु सँदेसड़ा, हे भौंरा ! हे काग !
सो धनि बिरहै जरि मुई, तेहि क धुवाँ हम्ह लाग ।

उसकी इस करुण याचना का प्रभाव पड़ता है और एक पक्षी जाने के लिए तैयार भी होता है । नागमती उस पक्षी से जो संदेशा कहती है वह अत्यंत उज्ज्वल और पावन भावनाओं से परिपूर्ण है । उसमें न सौतिया डाह की झलक है और न आत्म-पीड़न का आभास । वह कहती— "हे विहंगम, तुम पद्मावती से इस प्रकार जाकर कहना—कि हे पद्मावती, तू तो कंत को मुग्ध बनाकर मिलन-सुख लूट रही है, तेरा शरीर उसी आनंद से शीतल हो रहा है, लेकिन मुझे (नागमती को) तूने पूरा-पूरा दुःख दे दिया है । मैं भी उसी प्रियतम की विवाहिता स्त्री हूँ । अपने दिल से दूसरे के दिल की दर्द समझ लेना । मैं यह नहीं चाहती कि तुम्हारी तरह पति को छीन लूँ । नहीं, मैं ऐसा हरगिज़ नहीं कर सकती । हे बाला ! मुझे सुख भोग से काम नहीं है, मैं तो केवल उनकी कृपा-दृष्टि चाहने वाली हूँ ।[1] इस संदेश को सुनकर भारतीय नारी के प्रेम और उसकी गंभीरता का अनुभव हुए बिना नहीं रहता । नागमती का विरह इतना तीखा था कि विरह की व्यथा सुनकर पक्षियों की नींद भी हराम हो जाती थी और वे उससे उसका दुःख

१—पदमावति सों कहेहु बिहंगम । कंत लोभाइ रही करि संगम ।
तोहि चैन सुख मिलै सरीरा । मो कहँ हिये दुंद दुख पूरा ।
हमहुँ बियाही सँग ओहि पीऊ । आपुहि पाइ जानु पर-जीऊ ।
मोहिं भोग सौं काज न, बारी । सौंह दीठि कै चाहनहारी ।।

पूछने लगते थे। एक बार ऐसा हुआ कि आधी रात के समय नागमती को रुक-रुक कर रोते देखकर एक पक्षी ने कहा कि हे नागमती तू बार-बार अपनी विरह-ज्वाला से सब पक्षियों को जलाती रहती है। तनिक यह तो बता कि किस दुख से तू आँखें नहीं लगाती![1]

पशु-पक्षी आदि से विरह में प्रियतम का पता पूछने का उदाहरण मिल भी सकता है, परन्तु सहानुभूति प्रदर्शित करते हुए किसी पक्षी ने आज तक इस प्रकार दुःख नहीं पूछा, जिस प्रकार जायसी के इस 'आधी रात को बोलने वाले विहंगम' ने पूछा है। तुलसी के राम ने जब 'हे खग हे मृग-मधुकर श्रेणी, तुम देखी सीता मृग नैनी' कह कर सीता का पता पूछा था, तब वे चुप रह गए थे। कालिदास का यक्ष भी बादल से अपने हृदय की व्यथा कथा कहता ही रहा था, बादल ने उसके प्रति एक भी समवेदना का शब्द नहीं कहा था। सर्वत्र यही स्थिति रही है। परन्तु जायसी का हृदय प्रेम की गहरी मदिरा का प्याला पिये था। उसके प्रभाव में आ कर यदि पक्षी इस प्रकार पूछ बैठा हो तो कोई आश्चर्य नहीं। वस्तुतः नागमती की विरहावस्था जिस प्रकार की थी उसमें ऐसी संभावना असंगत नहीं है। उसकी हालत यह थी कि वह जिस पक्षी के पास जाकर बात करती थी वही जल जाता था और वृक्ष पत्तों से हीन हो जाता था।[2] उसे सर्वत्र अग्नि के पर्वत उठते दिखाई

१—फिरि फिरि रोव कोई नहिं डोला। आधी राति बिहंगम बोला।
तू फिरि-फिरि दाहै सब पाँखी। केहि दुख रैनि न लावसि आँखी॥

२—जेहि पंखी के निअर होइ, कहै विरह कै बात।
सोई पंखी जाई जरि, तरिवर होइ निपात॥

देते थे और सुखदायी वस्तुएँ अंगारों के समान अंग को जलाती थीं।[1] यही कारण था कि वह बेचारी दुखी होकर पुकार उठती थी कि हे प्रियतम वज्राग्नि लगी हुई है, तुम छाया करो और आकर इन विरह के अंगारों को शान्त करो। मेरा हृदय प्रेम की व्यथा में संतप्त होने पर भी उससे निरन्तर उसी प्रकार जल रहा है, जिस प्रकार भाड़ में पड़ा अनाज का दाना कई बार भुनने पर भी उस की तप्त बालू को नहीं छोड़ता।[2] प्रेम व्यथा की बावली होने के कारण नागमती का बुरा हाल हो गया था। वह स्वामी के स्नेह के कारण विरहाग्नि में जलकर कोयला हो गई थी और उसके शरीर में तोला भर भी मांस नहीं रहा था। रक्त तो नाम को भी न था। होता भी कहाँ से? विरह ने शरीर को जला दिया था। इस लिए कुछ तो वैसे ही नहीं रहा और जो कुछ शेष बचा था वह रत्ती-रत्ती होकर नेत्रों के रास्ते ढल गया।[3] विरहिणी नागमती के शरीर की दशा ऐसी हो गई कि उसे जायसी के ही शब्दों में समझा और अनुभव किया जा सकता है:—

हाड़ भए सब किंगरी, नसैं भईं सब ताँति।
रोवँ रोवँ तें धुनि उठै, कहौं बिथा केहि भाँति॥

अपनी विरह-व्यथा से नागमती ही क्षीण-मलीन नहीं हो गई थी, विरह का प्रभाव पुरुष को भी वैसा ही खिन्न और बेचैन

१—जानहुँ अगिनि के उठहिं पहारा। औ सब लागहिं अंग अँगारा॥

२—जरत बजागिनि करु पिउ! छाँहा। आइ बुझाउ, अँगारन माँहा।
लागिउँ जरै जरै जस भारू। फिर फिर भूजेसि, तजिउँ न बारू॥

३—दहि कोइला भइ कंत सनेहा। तोला माँसु रही नहिं देहा।
रकत न रहा, विरह तन जरा। रती रती होइ नैनन्ह ढरा।

बना देता है जैसा कि वह स्त्रियों को बनाता है। इसी लिए प्रेम-योगी रत्नसेन भी अपने विरह-व्यथित हृदय से सूर्य, चंद्र, वन के पेड़, पक्षी, चट्टान आदि को प्रभावित करता प्रतीत होता है। उसके रोम-रोम में जो विरह के बाण लगे हैं उनसे उसका मुख लाल हो गया है। नेत्रों से रक्त की धारा बह निकली है, जिसके कारण कंथा (योगी का वस्त्र) भीग कर लाल हो गया है। सूर्य डूब कर उससे तप्त हो गया है। मजीठ और टेसू के वन में उसके कारण लालिमा आ गई है। वसंतागमन हो गया है और वनस्पतियाँ लाल हो गई हैं। वनस्पतियाँ ही क्यों समस्त योगी और यति भी लाल हो गए हैं। पृथ्वी उसके द्वारा भीगने से गेरू के रंग की हो गई है। सब पशु-पक्षी भी उसके कारण लाल हो गए हैं। सती और अग्नि भी उसी से लाल हुई हैं। आकाश के मेघ भी उसी की छाया से लाल हुए हैं। यहाँ तक कि जो पहाड़ भीगा है, वह भी ईंगुर के रंग का हो गया है लेकिन तुम्हारा (पद्मावती का) रोम नहीं पसीजा।[1]

सारांश यह है कि जायसी ने मानव-हृदय की सामान्य भाव-भूमि पर विरह की ऐसी गंगा प्रवाहित की है, जिसकी धारा में

१—रोवँ रोवँ वै बान जो फूटे। सूतहि सूत रुहिर मुख छूटे।
नैनहिं चली रकत कै धारा। कंथा भीजि भएउ रतनारा॥
सूरुज बूढ़ि उठा होइ ताता। औ मजीठ टेसू वन राता।
भा बसंत रातीं बनसपती। औ राते सब जोगी जती॥
भूमि जो भीजि, भयेउ सब गेरू। औ राते तहँ पंखि पखेरू॥
राती सती अगिनि सब काया। गगन मेघ राते तेहि छाया॥
ईंगुर भा पहार जौ भीजा। पै तुम्हार नहिं रोवँ पसीजा॥

हृदय का समस्त कलुष धुल जाता है । 'पदमावत' का बारहमासा, जिसमें नागमती ने प्रत्येक मास की प्राकृतिक दशा के साथ अपने परिवर्तित मानसिक हर्ष-शोक का परिचय दिया है, हिन्दी साहित्य के विरहोद्गारों में अनुपम है और उसकी मर्मस्पर्शिता के आधार पर हम कह सकते हैं कि जायसी विप्रलंभ शृंगार के प्रमुख कवि हैं और वेदना, कोमलता, सरलता तथा गंभीरता की दृष्टि से उनके उद्गारों की समता अन्यत्र मिलना कठिन है। कौन है जो विरह-कथा में तड़पता हो और जायसी की इन पंक्तियों को पढ़कर उछल न पड़ता हो—

> यह तन जारौं छार कै, कहौं कि 'पवन उड़ाव'।
> मकु तेहि मारग उड़ि परै, कंत धरै जहँ पाव ॥

जैसा कि हम पहले उल्लेख कर चुके हैं, विरह के साथ साथ जायसी ने मिलन के भी अच्छे चित्र दिये हैं। मिलन की दशाओं का वर्णन पद्मावती के साथ बँधा है । नागमती विरह के लिए विख्यात है तो पद्मावती की प्रसिद्धि मिलन के लिए है। मिलन के लिए भी जायसी ने प्रकृति का सहारा लिया है। परंतु प्रकृति यहाँ पृष्ठ-भूमि के रूप में ही है—स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रखती। षड् ऋतु वर्णन का समावेश इसी उद्देश्य को दृष्टि में रखकर किया गया है। राजा रत्नसेन से संयोग होने पर पद्मावती को पावस की शोभा का जो अनुभव होता है वह यह दिखाता है कि वियोग में अग्नि के समान जलाने वाली प्रकृति संयोग में कैसी आकर्षक और मधुर हो जाती है। पद्मावती अपने अनुकूल ऋतु को पाकर देखती है कि आकाश भी सुहावना है और पृथ्वी भी। बिजली चमकती है और उसके प्रकाश में बूँदें ऐसी लगती हैं मानो सोना बरस रहा हो।

दादुर और मोरों का सुदर शब्द हो रहा है। ऊँचे चौबारे में शीतल बूँदों की फुहार आ रही है और सारा संसार हरा-भरा दिखाई दे रहा है।[१] प्रत्येक ऋतु के अनुकूल ही कवि पद्मावती के हृदय की धाराओं का चित्रण करता है, जो अत्यंत स्वाभाविक, सरस और हृदयग्राही होने के साथ ही साथ मार्मिक और प्रभावोत्पादक भी हैं।

इसके अतिरिक्त संयोग शृंगार-संबंधी अन्य बातें भी 'पदमावत' में ब्योरेवार दी गई हैं। स्थान स्थान पर हँसी-मज़ाक़ और हाव-भावों के वर्णन में भी जायसी ने बड़ी निपुणता दिखाई है। राजा रत्नसेन के मार्ग की कठिनाइयों का वर्णन करने और अपने साहस की बातें सुनाने पर रानी पद्मावती उस पर व्यंग करती हुई कहती है कि मैं रानी हूँ और तुम योगी—भिखारी! मेरा तुम्हारा परिचय! योगी बड़े चलते हुए होते हैं, और तुम उन सब के गुरु हो। ऐसे तुमने सारी सृष्टि को छला है। यही तो वेश है, जिसमें रावण ने सीता को हरा था।[२] और जो तुम अपने त्याग की बात कहते हो तो सुनो कोई कपड़े रँगने से योगी नहीं होता। योगी तो मन से होता है—अपने ही रंग से रँगा जाता है। यदि मजीठ को अत्यंत तीव्र

१—पदमावति चाहति ऋतु पाई। गगन सोहावन भूमि सुहाई॥
चमक बीजु बरसै जल सोना। दादुर मोर सबद सुठि लोना॥
सीतल बूँद ऊँच चौपारा। हरियर सब देखइ संसारा॥

२—हौं रानी तुम जोगि भिखारी। जोगिहिं भोगिहि कौन्ह चिन्हारी॥
जोगी सबै छंद अस खेला। तू भिखारि तेहि माहि अकेला॥
एही भाँति सिष्टि सब छरी। एही भेख रावन सिय हरी॥

अग्नि में औटाया जाय तो उसका रंग कभी न छूटे। जब पलाश कोयले के रूप में जलकर काला हो जाता है तभी वह लाल होकर फूलता है।[1]

कुछ लोगों को मिलन के समय इस प्रकार की उपदेशात्मक बातें अस्वाभाविक लग सकती हैं लेकिन हमारी राय में ऐसा नहीं होना चाहिए। कारण, तोते ने पद्मावती को प्रेम के मार्ग में दीक्षित कर दिया था। दूसरे पद्मावती भी सच्ची प्रेयसी थी और प्रेम के मर्म को खूब जानती थी। वह ऐसा न करती तो उसकी महत्ता क्या रहती ?

जायसी ने प्रेम का भावात्मक रूप ही प्रधानतः रखा है। यद्यपि सोलह शृंगार सजने वाली पद्मावती के मिलन के समय कवि को कहीं कहीं अश्लील भी हो जाना पड़ा है तथापि वह प्रसंग-वश ही हुआ है। जायसी का हृदय उस में नहीं रमा है, वह परंपरा-पालन मात्र के लिए है। इसका प्रमाण यह है कि जहाँ-जहाँ कवि को ऐसा करना पड़ा है, वहीं उसने प्रेम के विशाल रूप का निर्देश कर दिया है। जायसी के शब्दों में रतनसेन जिसके कारण मतवाला हो रहा है, वह प्रेम की सुरा है। वह सुरा ऐसी है कि जिसके पीने पर मरने-जीने का डर नहीं रहता। जिसे वह मद चढ़ गया, वह संसार की परवाह नहीं करता। वह या तो बेहोश होकर गिर पड़ता है या मस्त होकर घूमता रहता है। जिसे एक बार भी उसकी प्राप्ति हो जाती है, वह

१—कापर रँगे रग नहि होई। उपजै औटि रंग भल सोई॥
जो मजीठ औटै बहु आँचा। सो रँग जनम न डोलै राँचा॥
जरि परास होइ कोइल-भेसू। तब फूलै राता होइ टेसू॥

उसके बिना नहीं रह सकता, उसी की खोज में लगा रहता है। धन-दौलत को छोड़ देता है और प्रेम के लिए सर्वस्व की बाजी लगा देता है।[1] रतनसेन ही नहीं पद्मावती भी उसी प्रकार प्रेम के आवेग से परिपूर्ण हृदय लिये हुए है। उसे अपना शृंगार करना व्यर्थ प्रतीत होता है। होना भी चाहिए। जब सर्वत्र उसी प्रियतम की झलक दिखाई देती हो तब शृंगार किस पर किया जाय। बाहर ही नहीं, हृदय में भी उसी प्यारे की मोहनी है। वह तन-मन से अलग नहीं होता। नेत्रों में भी वही समाया हुआ है और जिधर देखती है उधर उसके अतिरिक्त और कोई दिखाई ही नहीं देता।[2] कबीर की 'लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल' वाली उक्ति भी लगभग ऐसी ही है। वस्तुतः प्रेम की वृत्ति ही ऐसी है। उसका आश्रय पाकर हृदय में किसी अन्य के लिए गुंजायश नहीं रहती। जब प्रेमी और प्रेमिका दोनों के हृदय में एक-रस प्रेम की धारा प्रवाहित होती है तब वह इसी कोटि को पहुँच जाता है। जायसी के संयोग शृंगार में नायक और नायिका दोनों के हृदय में इसी एक रस प्रेम की धारा प्रवाहित होती है, जिसके कारण प्रेम उनके लिए

१—सुनु धनि प्रेम सुरा के पिए। मरन जियन डर रहै न हिए॥
जेहि मद तेहि कहाँ संसारा। को सो भूमि रह, की मतवारा॥
जा कहँ होइ बार एक लाहा। रहै न ओहिं बिनु ओही चाहा॥
अरथ दरब सो देइ बहाई। की सब जाहु, न जाइ पियाई॥
२—करि सिंगार ता पहँ का जाऊँ? ओही देखहुँ ठाँवहिं ठाऊँ॥
जौ जिउ महँ तौ उहै पियारा। तन-मन सौं नहिं होइ निनारा।
नैन माँह है उहै समाना। देखौं तहाँ नाहिं कोउ आना॥

जीवन-मरण का प्रश्न बन कर आता है।

लेकिन प्रेम के इस पावनतम रूप का कारण जायसी की भक्ति-भावना है, जिसने जायसी के इस काव्य को एक साथ लौकिक और अलौकिक दोनों बना दिया है। अपने ग्रन्थ के अंत में जायसी ने सिंहावोलकन करते हुए कहा है—

तन चितउर, मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल, बुधि पदमिनि चीन्हा॥
गुरू सुआ जेइ पंथ देखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा॥
नागमती यह दुनियाँ धधा। बाँचा सोइ न एहि चित बंधा॥
राघव दूत सोइ सैतानू। मोया अलाउदीं सुलतानू॥

कवि के इस स्पष्टीकरण से रत्नसेन-पद्मावती की यह लौकिक प्रेम-कथा बिलकुल बदल जाती है और रत्नसेन का पद्मावती तक पहुँचाने वाला प्रेम-पथ जीवात्मा को परमात्मा में ले जाकर मिलाने वाले प्रेम-पंथ का स्थूलाभास होकर सम्मुख आ जाता है। तब रत्न-सेन एक साधक के रूप में और पद्मिनी साध्य—परमात्मा या बुद्धि—के रूप में दिखाई देती है, जिसकी प्राप्ति का मार्ग बताने वाला सूआ सद्गुरू के रूप में आता है। उस मार्ग में बाधा डालने वाली नागमती संसार का जाल है। तन रूपी चित्तौड़गढ़ का मनरूपी राजा है और राघव चेतन शैतान है, जो प्रेम का ठीक मार्ग न बता कर इधर उधर मन को भटकाता है। माया-ग्रस्त सुलतान अलाउद्दीन को माया ही समझना चाहिए।

अन्त में दिये गये कवि के उस निष्कर्ष का परिणाम यह हुआ है कि बहुत से विचारक पद्मावत को आध्यात्मिकता का आधार देकर उसे एक-मात्र आध्यात्मिक ग्रंथ ही कहने लगे हैं और अन्योक्ति और समासोक्ति का विवाद खड़ा हो गया है। हमारा

अपना विश्वास यह है कि जायसी ने जिस तथ्य की ओर अपने ग्रंथ के अन्त में संकेत किया है, वही सब कुछ नहीं है। हाँ, उसमे यत्र-तत्र—सर्वत्र नहीं—ऐसे स्थान अवश्य हैं, जिनका दुहरा अर्थ अवश्य निकलता है। वे स्थल एक ओर लौकिक सौंदर्य, मिलन और विरह की व्यंजना करते हैं और दूसरी ओर उस अज्ञात, असीम, प्रियतम का भी झाँकी देते हैं। वस्तुस्थिति यह है कि कवि अपने हृदय में विराट भावना लेकर ही हृदय की इन वृत्तियों का चित्रण करता है, जिसके कारण लौकिकता भव्यता से अभिभूत होकर अलौकिक हो उठती है। पद्मावती के रूप सौंदर्य के वर्णन के समय कवि का ध्यान उस चरम सौंदर्य की ओर भी चला जाता है और उसे लगता है मानो सृष्टि के वृक्ष-लता, पशु-पक्षी पृथ्वी-आकाश आदि उसी की दृष्टि से विद्ध हैं और उसी के विरह में लीन हैं। कवि कहता है कि ऐसा कौन है, जो उन वाणों से न मारा गया हो। उनसे समस्त संसार विद्ध है। गगन में जो अगणित नक्षत्र हैं, वे सब उसी के मारे हुए वाण हैं। उन वाणों ने सारी पृथ्वी को बेध दिया है, इसका प्रमाण खड़े हुए वृक्ष दे रहे हैं। मनुष्य के शरीर का प्रति रोम चिल्ला-चिल्ला कर कह रहा है कि उन वाणों ने गहराई से कण-कण बेध दिया है। वे बरूनी-वाण ऐसे कटीले हैं कि युद्ध-स्थल में बरसने वाले अजस्र तीरों की तरह सारा वन उनसे विद्ध हैं। वन ही नहीं पशुओं के सब बाल और पक्षियों की सब पाँखे उनसे भरी हैं।[1] इसी प्रकार

१—उन बान्हन अस को जो न मारा। बेधि रहा सगरौ संसारा।
गगन नखत जो जाहिं न गने। यै सब बान ओहि के हने॥
धरती बान बेधि सब राखी। साखी ठाढ़ देहिं सब साखी॥

स्नान आदि के अवसर पर, नैहर में बाग बगीचों की सैर करने और भूला भूलने में कुमारियों के सात्विक अल्हड़पन का जो मनोहर चित्रण जायसी ने किया है, वह अद्वितीय है। सखी पद्मावती को समझाती है कि हे रानी, तू मन में विचार कर देख ले, इस नैहर में चार दिन ही रहना है। जब तक तुम पिता के राज्य में हो तब तक जो खेल खेलना हो, खेल लो। कल हम सब ससुराल चली जायँगी। तब कहाँ हम होंगी और कहाँ यह सुन्दर सरोवर का घाट होगा। जब तक नैहर में हो तब तक भूल लो, ससुराल में स्वामी भूलने नहीं देंगे। सास और ननदें ताने मार-मार कर परेशान कर देंगी और क्रूर-हृदय ससुर बाहर नहीं निकलने देगा। जो आनन्द यहाँ पिता के घर में है वह फिर कहाँ मिलेगा। फिर तो जन्म भर दुःख में ससुर के घर ही मरना पड़ेगा।[1] यहाँ मायके से पति के पास जाने में जीव के ईश्वर तक पहुँचने की कल्पना का सामंजस्य सुगमता से हो जाता है। कबीर ने भी स्थान-स्थान पर इसी प्रकार की उक्तियाँ कही हैं।

रोवँ रोवँ मानुस तन ठाढ़े। सूतहि सूत बेधि अस गाढ़े ॥
बरुनि चाप अस ओपहँ, बेधे रन, बन ढाँख।
सौजहिं तन सब रोवाँ, पंखिहि तन सब पाँख ॥

१--ए रानी मन देखु विचारी। एहि नैहर रहना दिन चारी ॥
जौ लगि अहै पिता कर राजू। खेलि लेहु जो खेलहु आजू ॥
पुनि सासुर हम गवनब काली। कित हम कित यह सरवर-पाली ॥
भूलि लेहु नैहर जब ताईं। फिर नहि भूलन देइहि साईं ॥
सासु ननद बोलिन्ह जिउ लेहीं। दारुन ससुर न निसरै देही ॥
कित यह रहसि जो आउब करना। ससुरेइ अन्त जनम दुख भरना ॥

'हरि मोर पीउ मैं राम की बहुरिया' और 'खेलि लेहु नैहर दिन चारि।......अब कर जाना, बहुरि नहीं अवना, इहै भेंट अँकवारि' में यही भावना व्यंजित करते हुए कबीर ने भी जीव को संसार रूपी नैहर से जाने का संकेत किया है। इसी प्रकार राजा रत्नसेन के दिल्ली में कैद हो जाने पर तथा युद्ध और दुर्ग के घेरों के अवसर पर कवि ने स्वयं या पात्रों के मुख से ऐसी उक्तियाँ कहलाई हैं जिनसे पारलौकिकता की ओर दृष्टि जाना अनिवार्य-सा हो जाता है। सांसारिक वस्तुओं, व्यक्तियों और भावों का वर्णन करते-करते ईश्वरी प्रेम के संबंध में जो कुछ इस प्रकार जायसी ने कहा है वह मानो इस 'पद्मावत' महाकाव्य रूपी दधि-समुद्र के मंथन से निकला हुआ ऐसा नवनीत-खंड है, जिसकी स्निग्धता पाने के लिए मन बराबर कथा को पढ़ता हुआ आगे बढ़ता जाना चाहता है। जायसी बहुश्रुत थे, अतः उन्होंने स्थान-स्थान पर हठयोग और रासायनिक क्रियाओं का उल्लेख भी किया है और उनके द्वारा उसी परलौकिक जगत का वर्णन किया है। साथ ही जगत की निस्सारता भी बताते चले गए हैं और रूपकों का निर्वाह भी करते चले गये हैं। यह जायसी की अपनी विशेषता है।

जहाँ जायसी ने इस प्रकार परोक्ष सत्ता की ओर संकेत किया है वहीं उनकी रहस्यात्मकता भी उभर आई है। कबीर की भाँति रहस्यात्मकता इनका साध्य नहीं है। कथा के बीच में स्थल-स्थल पर उसका निर्देश है। कबीर और जायसी में अन्तर में केवल यह है कि कबीर ने उस परम ज्योति का—आनन्दमय ब्रह्म का—साक्षात्कार केवल अंतस्तल में ही किया है—बाह्य जगत में उसकी छटा नहीं

देखी।[1] जायसी ने भी अंतस्तल के ब्रह्म की ओर इशारा किया है; लेकिन विरह-मिलन और रूप-सौंदर्य-वर्णन द्वारा[2]—जो बाह्य जगत की वस्तु है—उस सत्ता का अधिक मोहक चित्र खींचा है। कबीर के चित्रों की अपेक्षा जायसी के चित्रों में अनेक-रूपता और मर्म-स्पर्शिता अधिक है।[3] वैसे कबीर के अद्वैतवादी रहस्यवाद की झलक जायसी में भी मिलती है। अद्वैतवाद का अर्थ है आत्मा और परमात्मा की एकता तथा ब्रह्म और जगत में एकता। साधना के क्षेत्र में प्रथम का अधिक महत्त्व है, परन्तु भाव-जगत में दूसरे की आवश्यकता पड़ती है। यही कारण है कि सूफ़ी प्रकृति के नाना रूपों में उसकी छाया देखते हैं। कबीर और जायसी में दूसरा अन्तर यह है कि कबीर ने अपने प्रियतम को पुरुष माना है और अपने आप को उसके विरह में जलने वाली प्रेयसी; लेकिन जायसी ने रत्नसेन के रूप में अपने आप को प्रेमी पुरुष और अपने आराध्य को पद्मावती के रूप में स्त्री माना है। यह अन्तर इस लिए पड़ गया है कि कबीर पर भारतीय वेदान्त का

१—मोको कहा ढूँढे बन्दे, मैं तो तेरे पास में।
ना मैं मंदिर ना मैं मस्जिद, ना काबा कैलाश में॥

२—पिउ हिरदय में भेंट न होई। को रे मिलाव कहौं केहि रोई।

३—जेहि दिन दसन जोति निरमई। बहुतै जोति जोति ओहि भई॥
रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोती॥
जहँ जहँ बिहँसि सुभावहि हँसीं। तहँ तहँ छिटक ज्योति परगसी॥
नयन जो देखा कँवल भा निर्मल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा। दसन-जोति नग हीर॥

अधिक प्रभाव था, जब कि जायसी सूफ़ी मत के प्रभाव में थे। जायसी कबीर की अपेक्षा अधिक द्रवणशील हृदय रखते थे, इसमें तो किसी प्रकार के संदेह की गुञ्जाइश ही नहीं है। संभवतः यही कारण है कि जायसी का आराध्य भी आराधक के लिए उतना ही तड़पता है जितना कि आराधक स्वयं व्यथित और पीड़ित होता है।

हमारी महाकवि की परिभाषा आचार्यों की परिभाषा से भिन्न हो सकती है क्योंकि हम महाकाव्य-लेखक को ही महाकवि नहीं मानते। महाकवित्व हमारी पहली शर्त है, जो महाकवि होने के लिए आवश्यक है। इसी से हम कबीर तथा आधुनिक काल के कई कवियों को महाकवि की संज्ञा देते हैं। जायसी की जो विवेचना की गई है और उनके काव्य में निहित प्रेमतत्त्व का जैसा स्वरूप हमने पाठक के सम्मुख रखा है, उससे उनके महाकवि होने में संदेह नहीं है। लेकिन प्राचीन शास्त्रीय विचारकों की कसौटी पर कसने पर भी जायसी महाकवित्व के पद के अधिकारी ठहरते हैं। प्रबंध-काव्य में मानव-जीवन का पूर्ण दृश्य होता है और उसमें घटनाओं की शृंखला स्वाभाविक ढंग से जुड़ी रहती है। बीच-बीच में ऐसे मार्मिक प्रसंगों की योजना होती है कि श्रोता का हृदय रस-मग्न हो जाता है। पूरी कथा ऐसे ढँग से बढ़ती है कि उसमें न अनावश्यक विस्तार होता है न खटकने वाला संकोच। जायसी ने 'पदमावत' की कथा में इन सब बातों का ध्यान रखा है। कथा के प्रवाह की रक्षा करते हुए उन्होंने मानव जीवन की ऐसी व्याख्या अपने पात्रों द्वारा कराई है कि सहृदय पाठक उसे पढ़कर दंग रह जाता है। महाकवि के लिए अपेक्षित जो वर्णन शक्ति होती है, वह भी जायसी में पर्याप्त मात्रा में है। सिंहल द्वीप-वर्णन, जलक्रीड़ा-वर्णन, सिंहल द्वीप-यात्रा वर्णन, समुद्र-वर्णन, विवाह-वर्णन,

युद्धयात्रा-वर्णन, युद्ध-वर्णन, षट्ऋतु-वर्णन, बारहमासा और रूप-सौंदर्य के वर्णन में कवि ने कमाल कर दिया है। कवि की वर्णन-शक्ति के कमाल को देखना हो तो चित्तौरगढ़ का यह वर्णन देखिए—

सातौ पँवरी कनक केवारा। सातौं पर बाजहिं घरियारा॥
खँड-खँड साज पलँग औ पीढ़ी। जानहुँ इंद्रलोक कै सीढ़ी॥
चंदन विरिछ सोह तहँ छाँहा। अमृत-कुंड भरे तेहि माहाँ॥
फरे खजहजा दारिउँ दाखा। जो ओहि पंथ जाइ सो चाखा॥
कनक-छत्र सिंहासन साजा। पैठत पँवरि मिला लेइ राजा॥
बादसाह चढ़ि चितउर देखा। सब संसार पाँव तर लेखा॥
देखा साह गगन-गढ़, इंद्रलोक कर साज।
कहिय राज फुर ताकर, सरग करै अस राज॥

कहीं कहीं तो वर्णन का इतना आधिक्य है कि वह दोष की सीमा को पार कर गया है। विवाह-भोज के समय पकवानों की नाम-गणना और युद्ध-यात्रा के समय घोड़ों की किस्में बताने आदि से जी ऊब उठता है। उसे दोष कहा जाय तो कहिए, हम तो यही कहेंगे कि इतने बड़े प्रबंध-काव्य में, जहाँ रस ही रस हो ऐसीं बातें उपेक्षणीय हैं। वर्णन ही नहीं, रस और भाव-व्यंजना में भी कवि ने अपना कौशल दिखाया है। पात्रों के चरित्र-चित्रण में तो जायसी को अभूतपूर्व सफलता मिली है। पद्मावती, नागमती, रत्नसेन, हीरामन तोता गोरा-बादल, अलाउद्दीन, राघवचेतन आदि पात्रों का उनके स्वभावानुकूल ही चित्रण किया गया है। वीरता, प्रेम, घृणा, क्रोध, हर्ष और शोक आदि का वर्णन पात्रों के आश्रय से ही किया गया है और ये भाव मूर्त होकर पाठक की आँखों के आगे एक चित्र सा खड़ा कर देते हैं। साथ ही भिन्न-भिन्न अलंकारों की सुन्दर योजना स्वतः

हो गई है। केशव की भाँति उन्हें उनके लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ा।

जायसी की-भाषा ठेठ अवधी है। ठेठ अवधी कहने का अभिप्राय यह है कि उसमें संस्कृतपन नहीं है। हमने जायसी के प्रारम्भिक रेखाचित्र में इस बात का उल्लेख किया है कि जायसी जन-कवि थे। जन-कवि कभी जनता की भाषा को छोड़कर विद्वानों की भाषा को नहीं अपनाता। वह जानते हुए भी ऐसा नहीं कर सकता। महावीर और बुद्ध ने संस्कृत से परिचित होते हुए भी अर्द्धमागधी और पाली को अपनाया था। जायसी को अपनी बात जनता तक पहुँचानी थी। उसके लिए वे यदि संस्कृत-गर्भित या उच्चवर्ग के लोगों की भाषा को अपनाते तो वे अपने उद्‌देश्य में सफल न होते। इसीलिए उन्होंने जनता की भाषा को अपने विचारों का माध्यम बनाया। उनकी भाषा में अधिकांश शब्द पूरबी या ठेठ अवधी के होते हुए भी कुछ पुराने या पच्छिमी प्रदेश के रूप भी हैं, जिन के कारण भाषा में कुछ अव्यवस्था-सी आ गई है। इतना होने पर भी न कहीं भरती के शब्द हैं और न पाद-पूर्ति के लिए शब्दों को तोड़ा मरोड़ा ही गया है। उसमें लंबे समस्त पदों का भी अभाव है। माधुर्य उनकी भाषा का प्राण है, जो अवधी की स्वाभाविक मिठास के कारण ही उत्पन्न हुआ है। कुछ फ़ारसी शब्द भी अपने आप आगए हैं, जो स्वाभाविकता बढ़ाने वाले ही सिद्ध हुए हैं। कहीं-कहीं मुहावरों का भी अच्छा प्रयोग है। तुलसीदास जी भी अवधी के कवि हैं। लेकिन उनकी अवधी में संस्कृत की तत्सम शब्दावली का आधिक्य है, उसमें जन-जीवन की स्वाभाविकता नहीं है। इसका यह अर्थ नहीं कि उनकी भाषा अस्वाभाविक है। हम कहना यह चाहते हैं कि तुलसी की भाषा में पांडित्य-प्रदर्शन अधिक है जब कि

जायसी में ठेठ देहातीपन है । वैसे स्वाभाविकता में वह भी अपने स्थान पर अत्यन्त आकर्षक और मधुर है । जायसी की भाषा लोक-व्यवहार की ही भाषा है और यदि उस काल की लोक-भाषा का मौलिक रूप कहीं देखना हो तो 'पदमावत' उसके लिए एक-मात्र ग्रंथ है ।

इस प्रकार जायसी काव्य के कला पक्ष और भाव पक्ष को श्रेष्ठता से निभाने वाले महाकवि थे । लेकिन यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि जायसी की दृष्टि भाव पक्ष पर अधिक थी । उन्होंने अपना 'पदमावत' महाकाव्य आचार्यत्व के प्रदर्शन के लिए नहीं लिखा । 'अखरावट' और 'आखिरी कलाम' में उन्होंने अपनी सिद्धान्त-प्रियता दिखाई है । इन दोनों में अपने सूफ़ी सिद्धान्तों और दार्शनिक विचारों की पूरी-पूरी झलक उन्होंने दी है । 'पदमावत' में उनका लक्ष्य केवल 'प्रेम की पीर' की व्यंजना करना ही रहा है । यों वे सूफ़ी साधक और पहुँचे हुए फ़कीर थे इसलिए 'पदमावत' में भी स्थल-स्थल पर उनके दार्शनिक विचार स्पष्ट हो गए हैं । परन्तु जैसा हमने कहा है, 'पदमावत' में उनका लक्ष्य केवल प्रेमतत्त्व की व्यंजना करना रहा है। उस व्यंजना को और अधिक तीव्र बनाने के लिए उन्हें यह कहानी मिल गई । कहानी का विधान उन्होंने प्रेम की अपनी व्याख्या के अनुरूप बना लिया । फारसी में इश्क की दास्तान वाली जो मसनवियाँ हैं, उनको उन्होंने आदर्श मानकर इस कहानी को काव्य का रूप दिया, परन्तु उसमें भारतीयता का पुट देकर एक अद्भुत कृति की रचना कर दी ! यही नहीं सर्वत्र उसमें भारतीय आदर्श ही ऊपर उभर कर आता दिखाई देता है । आरम्भ कहानी का भले ही मुसलमानी ढंग का हो परन्तु पद्मावती और नागमती के सती होने ने उसे अन्त में विशुद्ध भारतीयता की कोटि को पहुँचा दिया है ।

अन्त में हम केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि जायसी भक्ति-मार्ग की निर्गुण-धारा के एक जगमगाते रत्न हैं और उनसे यदि किसी की तुलना की जा सकती है तो वह तुलसी की। तुलसीदास की रचना, विशेष कर रामचरितमानस, का नाम जायसी के पद्मावत के साथ लिया जा सकता है। जायसी का क्षेत्र तुलसी की अपेक्षा परिमित रहा है क्योंकि जायसी ने केवल प्रेम-वेदना की ही गूढ़ व्यंजना की है, जब कि तुलसी ने जीवन के सभी मार्मिक पक्षों पर अपनी प्रतिभा का रंग चढ़ाया है। लेकिन जिस क्षेत्र में वे घुसे हैं उसमें वे अद्वितीय हैं। वे प्रेम-तत्त्व के उपासक थे। प्रेम के अतिरिक्त कहीं कुछ नहीं देखते हैं। यह प्रेम-तत्त्व उन्हें अपने को खोकर मिला था। वे अच्छी तरह समझ कर ही इस तत्त्व को हृदयंगम कर पाये थे। रत्नसेन और पद्मावती की कहानी तो एक बहाना मात्र है। प्रेम के रूप में स्वयं जायसी ही रोते-बिलखते रहे हैं। योगी होकर घर से निकलने वाले भी वे ही हैं। साधना के मार्ग में बाधाओं के समुद्र को पार करने वाले भी वे ही हैं और अपार संकटों के बाद प्रियतम स्वरूप पद्मिनी को प्राप्त करने वाले भी वे स्वयं हैं। न कोई रत्नसेन है, न पद्मावती, न नागमती है और न हीरामन सूआ, न गोरा-बादल हैं न रत्नसेन की माँ। सर्वत्र जायसी की प्रेमी आत्मा ही भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकाशवान है। उसे छोड़ कर अन्य का अस्तित्व नहीं है। प्रेम के चुंबक से वे ऐसे खिंचे हुए थे कि संसार की सुध-बुध उन्हें नहीं रही थी। उन्हें अपने को छोड़ कर किसी से सरोकार न था। वे प्रेम के पथ में जान बूझ कर चले थे। जनता ने उनके प्रेम की क़द्र की थी, इसीलिए उन का 'पदमावत' कुरान के साथ पढ़ा जाता था। मुसलमानों के हृदय को उन्होंने अहिंसक बना दिया था, कबीर की तरह डाँट

फटकार कर नहीं—प्रेम के हाथों से दुलार कर। उन्होंने प्रतिहिंसा से जलते हृदयों पर प्रेम की शीतल वारि-धारा की अजस्र वर्षा करके दोनों जातियों को नई दिशा दिखाई और कहा कि मूर्खों प्रेम को छोड़ कर दुनियाँ में कोई चीज़ सुन्दर नहीं है। उसे अपना कर आगे बढ़ो। विरह की ज्वाला में तिल-तिल कर जलो और अपने अस्तित्व को मिटाओ। लक्ष्य की ओर बाधाओं को पार करते हुए बढ़ चलो और इस असीम विश्व में जो अपने प्रेम से—सौंदर्य से—मादकता भर रहा है, उसे प्राप्त कर लो। उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यदि है तो वह गोरख-धन्धा है—झूठी माया है—व्यर्थ का आकर्षण है। उसे छोड़ने में ही भलाई है। जायसी का यही एक-मात्र सन्देश है और इस सन्देश के अतिरिक्त और सार भी क्या है! जायसी के स्वर में स्वर मिला कर कर हम भी यही कहते हैं—

तीनि लोक चौदह खँड, सबै परै मोहिं सूझि।
प्रेम छाँड़ि नहिं लोन किछु, जो देखा मन बूझि॥



सूरदास

कबीर और जायसी दोनों महात्माओं ने अपने-अपने ढंग से इस बात का प्रयत्न किया कि हिन्दू और मुसलमान पारस्परिक कलह और वैमनस्य को भूल जाएँ और समझें कि राम और रहीम दोनों एक ही कर्ता के दो रूप हैं और वह कर्ता प्रेम पर बिकने वाला है। लेकिन उनकी वाणी का कोई स्थायी प्रभाव सर्व साधारण जनता पर नहीं पड़ा। हिन्दू समाज का उच्च वर्ग तो उससे एक-दम अछूता रहा। इसका कारण था—इन महात्माओं का निर्गुण का उपदेश देना। यों निर्गुण ब्रह्म या वेदान्त का ब्रह्म भारतीय विचारकों के लिए कोई नई वस्तु न थी; परन्तु ये महात्मा उसे जिस ढङ्ग से रखना चाहते थे, उसे वे पसन्द नहीं करते थे। पसन्द कर भी कैसे सकते थे! उनके संस्कार बाधक होते थे। फिर कबीर की खंडन-मंडन की शैली भी उन्हें रुचिकर न थी। उनके उपदेश उन्हें पागल की बौखलाहट जान पड़ते थे। यही बात जायसी के विषय में भी है। यद्यपि जायसी ने कबीर का दण्ड-विधान छोड़कर प्रेम की सुरा पिलाने का पथ अपनाया था तथापि रहस्यमयता उनमें भी कम न थी। साधनात्मक रहस्यवाद—हठयोग, रासायनिक प्रक्रिया आदि—का प्रचुर उपयोग उन्होंने भी किया है। यों शुष्कता और दुरूहता दोनों में पूर्ववत् बनी रही। दूसरी बात यह भी है कि ये दोनों महात्मा मुसलमान वर्ग से आए थे अतः उनकी प्रेम पूर्ण बातें भी लोगों को अविश्वसनीय जान पड़ती थीं। हिन्दू धर्मभीरु होता है। उसे इन लोगों की वाणियों में शङ्का करने का अवसर भी मिला। यही कारण है कि निर्गुण का यह हितकर उपदेश जनता के हृदय से निराशा

की गहरी छाया को न हटा सका। जनता की दशा उस समय उस व्यक्ति के समान थी, जिसे अथाह समुद्र में कोई सहारे की वस्तु दिखाई दे परन्तु वह जब उसके पास जाय तो उसका खोखलापन देख कर अपने दुर्भाग्य को कोस ले। सन्तों और प्रेम-मार्गियों का निगु'ण, अलख, अरूप ब्रह्म ऐसा ही था। प्रारंभ में जनता ने उस पर विश्वास तो किया, पर वह उसकी प्रकृति के विरुद्ध होने के कारण उसके हृदय की वस्तु न बन सका और जनता प्रकाश के लिए उसी प्रकार छटपटाने लगी जैसे प्यासा शिशु पानी के लिए तड़पता है। हिन्दू जनता सर्वस्व गँवाकर भी अपना हिन्दुत्व बनाए रखना चाहती थी। इसी लिए उसने अपनी सभ्यता और संस्कृति की रक्षा के लिए राम और कृष्ण का सहारा लिया और उनकी भक्ति का स्रोत एक कोने से दूसरे कोने तक फैल गया! यह भक्ति की धारा दक्षिण से आई थी और इसका केन्द्र बिंदु था—प्रेम। यह जनता को अपनी चीज़ जान पड़ी और इसलिए उसने इसे शीघ्र ही अपना लिया। वैसे निगु'णवादी भी प्रेम को ही केन्द्र बिंदु मानते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि प्रेम के लिए जब तक कोई मूर्त्त आधार न हो प्रेम नहीं किया जा सकता। वह आधार निगु'णोपासकों के पास न था। परिणाम-स्वरूप उनकी प्रत्येक सद्भावना के होते हुए भी उनके पंथ मरुस्थल में क्षीण होने वाली धारा की भाँति खो गए। सगुणोपासकों के पास मूर्त्त आधार था, जिसके कारण वे अपने उद्देश्य में कृतकार्य हुए।

भक्ति की इस धारा ने, जो दक्षिण से आई, महाराष्ट्र में कुछ और रूप लिया, बंगाल में कुछ और, तथा युक्तप्रांत में कुछ और। हाँ मूल सिद्धांत सर्वत्र एक से ही रहे। महाराष्ट्र में तुकाराम, बंगाल में चैतन्य

और युक्त प्रान्त में सूरदास आदि का जो अंतर है, वह देशगत विशेषताओं के कारण है। इन महात्माओं ने निर्गुणोपासना की सारहीनता दिखाई और सगुणोपासन की प्रतिष्ठा की। इन्होंने भगवान का प्रेम-मय रूप ही लिया। इसका कारण था। कबीर जायसी आदि के पास जनता को आत्म-विभोर करने के लिए प्रेम की ही औषधि थी। इन्होंने भी उसी औषधि से काम लिया। रोगी समाज को अपनी ओर करने के लिए उनके पास और कोई साधन भी न था। दूसरी बात यह भी थी कि इसके प्रवर्तक थे श्रीमद्वल्लभाचार्य। वल्लभाचार्य जी बाल कृष्ण की उपासना के समर्थक थे। भगवान शिशु अथवा युवक के रूप में उन्हें प्रिय थे। जीवन की यही दो अवस्थाएँ हैं, जिनमें आशा और उल्लास सजीव हुआ करते हैं। सौंदर्य और माधुर्य की धारा इन्हीं दो अवस्थाओं में बहा करती है। निराश हिंदू जनता भगवान को इस रूप में पाकर बड़ी प्रसन्न हुई, और उसे जीवन के प्रति जो अरुचि हो गई थी वह जाती रही। एक ओर तो यह परिस्थिति थी, दूसरी ओर मुगल राज्य की स्थापना की अंतिम विधि पूरी हो चुकी थी। वहाँ भी मार काट के लिए गुंजायश न थी, केवल मनोहारिता की—सुन्दरता की—आकर्षण की—पूजा का अवसर था। इस लिए भी भगवान का माधुर्य और सुन्दरतापूर्ण रूप ये लोग अपना पाये। इस प्रकार राजनीतिक और धार्मिक अवस्थाओं ने मिलकर कृष्ण भगवान की माधुर्य भाव की उपासना का क्षेत्र तैयार किया, जिसके सबसे बड़े साधक सूरदास जी हुए। राजनीतिक और धार्मिक ही नहीं साहित्यिक विरासत भी सूरदास जी को मिल गई। गीत-गोविन्द-कार जयदेव और विद्यापति उनको पथ-प्रदर्शक के रूप में मिल गए। जयदेव ने संस्कृत में और विद्यापति ने लोक-भाषा

में राधा-कृष्ण की युगल मूर्ति को भक्तों का सर्वस्व बना दिया और उस भक्ति में उन्होंने हरि-स्मरण और विलास-कला-कुतूहल दोनों को शांत करने की शक्ति के दर्शन कराये।[१] विद्यापति ने भी राधा की इसी प्रकार की कल्पना की और लोक-भाषा में उसके सौंदर्य की गुण गाथा गा कर कृष्ण को उसका प्रेमी बना कर आगे आने वाले कृष्ण-कवियों के लिये मार्ग प्रशस्त कर दिया। सूरदास इसी परंपरा को आगे बढ़ाने वाले एक-मात्र कृष्ण-भक्त थे, जिन्होंने अपने पूर्ववर्त्ती कवियों की वाणी को अपनी शुद्ध हार्दिक अनुभूति से नया ही रूप-रंग दे दिया।

सूरदासजी आगरा और मथुरा के बीच गऊघाट पर रहा करते थे और वहीं अपनी कुटी में एकांत भाव में लीन भगवान की भक्ति के पद बनाकर गाया करते थे और साथ ही शिष्यों को उपदेश भी दिया करते थे। वे पद उनकी दीनता, असहायावस्था और दरिद्रता के भावों के सूचक होते थे। कहते हैं कि एक बार आचार्य महाप्रभु वल्लभाचार्य से उनकी भेंट हुई। सूरदास गायक भी प्रथम कोटि के थे। अपना तानपूरा उठाया और उठाकर गाने लगे कि हे प्रभु मैं सब पापियों में शिरोमणि हूँ। और पापी तो नए हैं लेकिन मैं तो जन्म का ही पापी हूँ।[२] महाप्रभु को इस अन्ध-गायक की इस विनय-पूर्ण वाणी में ऐसा चमत्कार और प्रभाव दिखाई दिया

१—यदि हरि-स्मरणे सरस मनो यदि विलासकलासु कुतूहलम्।
मधुर-कोमल-कान्त-पदावली शृणु तदा जयदेव सरस्वतीम्॥

२—प्रभु मैं सब पतितन कौ टीकौ।
और पतित सब द्यौस चारि के हौं तो जनमत ही कौ॥

कि वे बिक से गए और प्यार भरे शब्दों में उन्होंने सूर से कहा—"सूर ह्वै के ऐसो काहे को घिघियात है कछू भगवत्‌लीला बरनन करौ।" कहते हैं कि तभी से सूर ने विनय के पद बनाना एक प्रकार से छोड़-सा दिया और लीला-गान उनका मुख्य ध्येय हो गया।

विद्वान् जिस कहानी को महत्त्व नहीं देते उसी कहानी को हम सूर की कविता के रहस्योद्‌घाटन के लिए कुंजी समझते हैं। वह कहानी है सूरदास के प्रेम-संबंध की। कहते हैं कि सूरदास जी एक रमणी पर बुरी तरह आसक्त थे! एक बार वे नदी पार कर उससे मिलने गए और सर्प को रस्सी समझकर ऊपर चढ़ गए। रमणी उनके इस साहस पर प्रसन्न नहीं हुई बल्कि उसने उनकी भर्त्सना की! उनको आत्म-ग्लानि हुई और उन्होंने उस रमणी से अपनी दोनों आखें फुड़वा लीं। कहते हैं कि आँखें फूट जाने के बाद वे इधर-उधर मारे-मारे फिरने लगे। वन-वन वे इस प्रकार फिरते रहे और एक बार एक अंधे कुँए में गिर पड़े। कई दिन बाद उनको किसी व्यक्ति ने निकाला। बाहर निकालने के बाद वह व्यक्ति उनसे हाथ छुड़ाकर चला गया। सूरदास को उसी समय आत्म-बोध हो गया। उन्होंने समझ लिया कि यह और कोई नहीं, वही 'पतित-उधारन' 'गिरिवर-धारन' हैं और उनका उद्देश्य मुझे बचाने का यही है कि मैं आज भी समझूँ कि जीवन और जगत क्या है। बस तभी से उनका ध्यान उस प्रभु के चरणों में लग गया। उन्होंने उसी समय कहा कि आज तुम मुझे निर्बल समझ कर जबर्दस्ती बाँह छुड़ाकर भले ही चले जाओ लेकिन जब तुम मेरे हृदय से चले जाओगे तब

समझूँगा कि तुम मर्द हो।[१] सूर की यह गर्वोक्ति थी; परन्तु गर्वोक्ति वही कर सकता है, जिसमें कुछ दम होता है। जिसमें साहस का अभाव है, शक्ति की कमी है, वह क्या गर्वोक्ति करेगा! सूर ने गर्वोक्ति की और अपने जीवन की साधना से यह दिखा दिया कि भगवान् उनकी सीमा से कभी बाहर जाने की सोच तक न सके, निकलकर भागना तो दूर रहा। यही नहीं महाप्रभु से दीक्षा लेने के बाद वे गोवर्धन पर, जो श्री नाथ जी का मंदिर है और जहाँ महाप्रभु स्वयं निवास करते थे, जाकर निवास करने लगे। महाप्रभु ने श्री नाथ जी के मंदिर की सब व्यवस्था कर दी थी। कीर्तन का प्रबंध नहीं हुआ था। यह प्रबंध सूरदास को सौंपा गया। कीर्तन में संगीत का प्राधान्य होता है और सूरदास इस कला में परम निपुण थे। उन्होंने भक्तिभाव से झूम-झूम कर भगवान कृष्ण की लीला के पद गाना आरंभ कर दिया। उनकी तन्मयता देखकर वल्लभाचार्यजी के पुत्र विट्ठलनाथजी ने चार अपने पिता के और चार अपने शिष्यों को लेकर अष्ट-छाप की जो स्थापना की उसमें सूरदास को सर्व प्रथम स्थान दिया। सूरदास इस कृपा से ऐसे अभिभूत हो गए कि उन से कुछ कहते न बना। वे मात्र इतना ही कह सके कि "हठि गोसाईं करी मेरी आठ मध्ये छाप।" जीवन भर की समस्त ग्लानि और क्षोभ को उन्होंने उसी समय से तिलांजलि दे दी और वे और भी अधिक तन्मय हो कर अपने प्रभु को भावना की तरंगों में बाँध कर झुलाने लगे। वल्लभाचार्य जी का मत पुष्टि-मार्ग कहलाता है,

---

१—बाँह छुड़ाए जात हौ, निबल जान कै मोहि।
हिरदय से जब जाहुगे सबल बदौंगो तोहि॥

जिसमें भगवान्-का अनुग्रह प्राप्त करना ही, जिसे पुष्टि कहते हैं, भक्त की साधना का चरम लक्ष्य होता है। सूरदास जी ने इस चरम लक्ष्य को पहचाना और प्राप्त किया था। अनुग्रह की प्राप्ति के लिए उन्होंने सहस्रों पदों में भगवान् की लीला गाई थी। उनकी तन्मयता को देख कर लोग उन पर बड़ी श्रद्धा रखते थे। उनकी तन्मयता के कारण ही उनकी मृत्यु के समय गुसाईं बिट्ठलनाथ जी ने अपने सेवकों से कहा था—"पुष्टि मार्ग का जहाज जा रहा है, किसी को कुछ लाभ लेना हो तो जाओ लो" और स्वयं उनकी मृत्यु के समय उनके पास उपस्थित थे। यह सौभाग्य हर किसी को प्राप्त नहीं होता। सूर जैसे विरले ही व्यक्ति इसके अधिकारी होते हैं।

ऊपर सन्-संवत्-हीन और संक्षिप्त रूप से सूर का जो धुँधला रेखा-चित्र दिया गया है, उससे यह स्पष्ट है कि सूर का हृदय भक्ति-भावना से ओतप्रोत था और जीवन की समस्त साधना को बटोर कर उन्होंने एक बार ही अपने को भगवान् के चरणों में लीन कर दिया था। साथ ही पार्थिव सौंदर्य से विमुख होने पर और भगवान् के हाथ से छूट जाने पर उन्होंने जो आत्म-विश्वास का संबल लेकर भगवान् के बाल-चरित्र और लीला-मय जीवन की यात्रा की थी वह ऐसी सफल हुई की उसकी सफलता पर समस्त संसार आश्चर्य-चकित हो गया। वही कृष्ण जो एक दिन उन्हें असमर्थ जान कर चले आए थे, सूर के साथ ऐसे घुल-मिल गए कि 'सूर श्याम' की एकता को कभी भंग न कर सके। लाखों पदों में उन्होंने अपने भगवान् की आरती उतारी और ऐसी आरती उतारी कि उनको अपनी आत्मा की वस्तु बना लिया। मनोवैज्ञानिक धरातल पर कृष्ण-चरित्र का जैसा सम्यक् विकास सूर के पदों में दिखाई देता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है

यद्यपि उन्होंने बाल्यावस्था और युवावस्था के श्रीकृष्ण को ही लिया तथापि उस क्षेत्र में उन्होंने ऐसी कुशलता दिखाई कि कोई उन्हें उस क्षेत्र में परास्त न कर सका।

यों तो सूरदास की लिखी कई रचनाएँ कही जाती हैं लेकिन अधिकांश का मत है कि निम्नलिखित तीन ग्रंथ ही सूरदास रचित हैं—(१) सूरसागर (२) सूरसारावली और (३) साहित्य-लहरी। इनमें भी सूरसारावली सूरसागर की विषय-सूची-सी है और साहित्य-लहरी में सूरसागर से लिए गए कूट पदों का संग्रह है। इस प्रकार सूरदास का केवल एक ग्रंथ बच जाता है और वह है सूरसागर। यह अकेला ग्रंथ सूर की कीर्ति-रक्षा के लिए बहुत है। सूरसागर है क्या? पहले हम कह आए हैं कि श्रीनाथ जी के मंदिर में कीर्तन के समय उस महाकवि ने आत्म-विभोर होकर पद गाए थे। उन्हीं पदों का संग्रह इस ग्रंथ में कर दिया गया है। सूर-सागर 'भागवत' के आधार पर लिखा गया है और उसमें 'भागवत' की भाँति ही बारह स्कंध हैं। लेकिन यह समझ लेना चाहिए कि वह अनुवाद नहीं है। उसमें 'भागवत' के दशम स्कंध की कथा ही विस्तार से कही गई है। इसी की अनुक्रमणिका आचार्य महाप्रभु ने उन्हें बताई थी। इसमें विनय, कृष्ण की बाललीला, गोपी-कृष्ण और राधा-कृष्ण प्रेम-लीला, गोपीविरह और भ्रमर-गीत मुख्य हैं। पदों की संख्या के हिसाब से भी विनय के और शृंगार के पदों की अधिकता है। पूरे ग्रंथ को देखने से पता चलता है कि उसका लगभग आधे से अधिक भाग इन विषयों को दिया गया है। हुआ यह है कि सूरदास जी बराबर पद बनाया करते होंगे। कभी-कभी तरंग में आकर 'भागवत' की अन्य कथाओं पर भी उन्होंने पद बनाए होंगे। उसका

परिणाम यह हुआ कि पीछे से उनके संग्रहकारों ने क्रम से उन्हें संग्रह कर दिया। तुलसीदास की 'कवितावली' में भी ऐसा ही हुआ है। वहाँ भी संग्रहकार ने ही ग्रंथ को पूरा किया है, तुलसीदास जी जान-बूझकर राम कथा लिखने नहीं बैठे।

सूरसागर के संबंध में एक बात और समझ लेनी चाहिए कि सूरसागर केवल काव्य ही नहीं है, वह धार्मिक ग्रंथ भी है। धार्मिक दृष्टि से उसका सम्मान सर्व-साधारण में तो है, लेकिन विद्वान् उसे इस दृष्टि से नहीं देखते। उनके विचार धार्मिक काव्य के संबंध में एकदम विचित्र से हैं। उनकी दृष्टि से त्याग, वैराग्य और संन्यास का उपदेश देने वाले ग्रंथ ही धार्मिक काव्य की गणना में आ सकते हैं और इस दृष्टि से हम देखते हैं कि वे कबीर आदि को ही धार्मिक काव्य-प्रणेता मानते हैं या मीरा आदि के भजनों के रूप में प्रचलित रचनाओं को वे इस कोटि में रख लेते हैं, लेकिन जहाँ श्रीकृष्ण और गोपियों के चरित्र की बात आती है, वहाँ ये विद्वान् नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं। इनके ऐसा करने का कारण यह है कि इनको ऊपरी कथा से ही चौंक उठने का अवसर मिल जाता है। लेकिन क्या उनका इस प्रकार चौंक उठना न्याय-संगत है? क्या कला की परीक्षा उसकी बाह्य रूप-रेखाओं द्वारा ही की जाती है? क्या इस प्रकार कला की परीक्षा कर के हम कला की आन्तरिक सौंदर्य-रेखाओं को पकड़ सकते हैं। कुमारी मरियम ने कौमार्य में ही ईसा को जन्म दिया था। यह बात ऊपर से देखने पर कितनी अविश्वसनीय और अपवाद-जनक जान पड़ती है! लेकिन क्या संसार इस बात से अपरिचित है कि केवल इसी भावना को लेकर ईसाई कलाकारों ने श्रेष्ठतम कला-कृतियों का निर्माण किया है। इसलिए

मूल वस्तु या महत्त्व देने की वस्तु कथा या बाह्य आवरण न होकर कला या उसकी अन्तरानुभूति हुआ करती है। क्या मूर्ति के दर्शन के समय हम उस पत्थर की भी याद करते हैं, जिसमें से काट-छाँट कर यह कला-कृति तैयार की गई है। फिर मूर्तियों में भी अन्तर होता है। उनकी उच्चता और नीचता का मूल कारण कलाकार का मानसिक धरातल होता है। जो कलाकार जितना ही अधिक प्रशस्त हृदय और उच्च-विचारों से परिपूर्ण मस्तिष्क रखनेवाला होगा, वह उतनी अधिक उच्च कोटि की कला-कृति दे सकेगा। उसके हाथों छोटी-से-छोटी चीज़ भी महान् बन जाती है, वह मिट्टी को हाथ लगाता है तो वह सोना बन जाती है। सूरदास जी के साथ भी यही हुआ है। गोपी-कृष्ण की रास-लीला या राधा-कृष्ण की आँख-मिचौनी के कारण सूर की कृति को धार्मिक काव्य आप बेशक न मानें लेकिन हमारा यह विश्वास है कि आप उसे अश्लील कह कर फेंक नहीं सकते। सूरदास ने जिस भावना से लिखा है, उसे देखते हुए आप उसे ग्रहण करने को बाध्य हैं और आप को उसे विना किसी संकोच के कला-कृति के रूप में ग्रहण करना पड़ेगा। यही बात आप रीति-कालीन कवियों के विषय में भी देखें तो पता चलेगा कि उनकी भावनाएँ राधा-कृष्ण को नायिका और नायक के रूप में चित्रित करते समय अच्छी न थीं। उनका तो लक्ष्य ही यह था कि "आगे के सुकवि रीझिहैं तो कविताई न तो राधिका गुविंद सुमिरन कौ बहानौ है।" उन्होंने 'सुकिवियों के रिझाने' और 'सुमिरन का बहाना करने' को इस युगल-मूर्ति को काव्य का विषय बनाया, किसी भक्ति-भावना या समर्पण-वृत्ति से प्रेरित होकर नहीं। यही कारण था कि उनके हाथों कृष्ण 'लुच्चे-लफंगे'-से बन गए

और वे घृणा के पात्र भी हो गए। उनकी हीन मनोवृत्ति ही इसके मूल में रही। दूसरी ओर सूरदास को देखिए। उन्होंने शृंगार में जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे मिलन और वियोग की सभी बातें लिखीं परंतु कहीं भी वे नीचे नहीं गिरे, उनका पावन और ज्वलन्त व्यक्तित्व सदैव ऊपर रहा; उसी प्रकार जैसे पद्मपत्र जल में कभी नहीं डूबता। हमने ऊपर जो बात कही है, उसका कारण यह है कि कुछ आलोचक सूरदास को इस बात का दोषी ठहराते हैं कि उन्होंने राधा-कृष्ण का जो शृङ्गारमय चित्र खींचा है उसी के कारण आगे के कवियों को उनकी (राधा-कृष्ण की) छीछालेदर करने का साहस हो सका। हम समझते हैं अब वह भ्रम नहीं रहना चाहिए।

दूसरी बात सूरदास जी के सम्बन्ध में यह कही जाती है कि उनके कृष्ण केवल पारिवारिक जीवन में ही अपने चरित्र का विकास करते हैं और उनकी बाल-लीला में बहुत थोड़ा लोकपक्ष आया है। लोकपक्ष से तात्पर्य है—लोक के लिए हितकर कार्य करना। ऐसे लोक-हितकारी कार्यों में सूर की वृत्ति नहीं रमी। उन्होंने केवल बचपन के क्रीड़ा-कौतूहल और यौवन की रङ्गीनियों के ही चित्र दिये हैं। जो कुछ लोकपक्ष है भी वह भी केवल बाल-लीला में ही आया है, जैसे कंस के भेजे हुए असुरों के उत्पात से गोपों को बचाना, काली नाग को नाथ कर लोगों का भय छुड़ाना आदि। तुलसीदास जी की भाँति उन्होंने कृष्ण के लोकपक्ष को महत्त्व नहीं दिया। "तुलसी के समान लोकव्यापी प्रभाव वाले कर्म और लोकव्यापिनी दशाएँ सूरदास ने वर्णन के लिए नहीं लीं। असुरों के अत्याचार से दुखी पृथ्वी की प्रार्थना पर भगवान का कृष्णावतार हुआ, इस बात को उन्होंने केवल एक ही पद में कह डाला है। इसी प्रकार कागासुर, बकासुर,

शकटासुर, आदि को हम लोक-पीड़कों के रूप में नहीं पाते हैं। केवल प्रलंब और कंस के वध पर देवताओ का फूल बरसाना देखकर उक्त कर्म के लोकव्यापी प्रभाव का कुछ आभास मिलता है। पर वह वर्णन विस्तृत नहीं है। सूरदास का मन जितना नन्द के घर की आनन्द-बधाई, बाल-क्रीड़ा, मुरली की मोहिनी तान, रास-नृत्य, प्रेम के रंग-रहस्य और संयोग-वियोग की नाना दशाओं में लगा है, उतना अन्य प्रसंगों में नहीं। ऐसे प्रसंगों को उन्होंने किसी प्रकार चलता कर दिया है।"[1] हिन्दी के एकमात्र समर्थ आलोचक की यह सम्मति है और हमें इसके विरोध में कुछ कहते भय होता है, तो भी कर्तव्य की अथवा उत्तरदायित्व की पुकार है कि हम इस विषय में आचार्य की सम्मति से असहमति प्रकट करें। शक्ति, शील और सौंदर्य की जिस कसौटी पर उन्होंने सूर के काव्य को तुलसी की भाँति कसा है, वह उचित नहीं है। कवि सूरदास की आत्मा का विकास जिन परिस्थितियों में हुआ था, वे परिस्थितियाँ तुलसीदास की परिस्थितियों से भिन्न थीं। सूरदास तुलसी की अपेक्षा सांप्रदायिक अधिक थे। उन्हें श्रीनाथ जी के मन्दिर में रहकर अपने भगवान की मूर्ति के सम्मुख विभिन्न अवसरों पर नित्य ही पद बनाने पड़ते थे। उनका क्षेत्र अपने 'पुष्टि मार्ग' संप्रदाय के कृत्यों से बँधा था, जिनमें बालकृष्ण के चरित ही प्रधान थे। अतः सूर उस क्षेत्र से बाहर कैसे जाते। उनकी दृष्टि उन्हीं बातों पर गई। यह उनकी सीमाओं को देखते हुए स्वाभाविक भी है। सौंदर्य की साधना उनके संप्रदाय की एकमात्र निधि रही है। उस बीच में यदि कोई लोकपक्षीय प्रसंग आ भी गया है तो उसकी ओर उन्होंने संकेत से काम इसीलिए लिया है कि यह

१—आचार्य पंडित रामचंद्र शुक्ल।

उनका ध्येय नहीं था। फिर हम तो यह मानते हैं कि कलाकार क्यों लोक-रंजन और लोक-रक्षण की सीमा-रेखाओं से बँधा रहे ? कला की धारा तो अबाधगति से बिना प्रतिबंधों के बहती है। उसी में उसकी अपनी विशेषतायें रक्षित रहती हैं। सूरदास जी ने जिस क्षेत्र में प्रतिभा की दौड़ लगाई है, यदि उसमें वे सफल हुए हैं तो कोई कारण नहीं कि हम उन्हें किसी से नीचा समझें। सूरदास जी की यह विशेषता थी कि वे संप्रदाय की दैनिक क्रियाओं, में बँधने पर भी उसमें न बँधकर स्वतंत्र रह सके। इस बात को और अच्छी तरह यों समझें कि न जाने कितने भक्तों ने सूरदास की भाँति अपनी वाणी के विलास से भगवान का गुण-गान किया होगा, कितनों ने अपने तानपूरे सँभाल कर मंदिर की दीवारों को भी स्वरों की गूँज से भर दिया होगा; लेकिन उनमें सूरदास ही क्यों अमरता के पद को पा सके ? क्यों शेष की वाणी निर्जन की प्रतिध्वनि की भाँति खो गई ? इसका उत्तर यही है कि सूर की प्रतिभा और उनकी अनुभूति इतनी तीव्र थी कि काल की दीवारों को बेधकर भी वह आज तक अपना प्रकाश फैला रही है। यही सूर की सबसे बड़ी सफलता है। भले ही उन्होंने शक्ति और शील की प्रतिष्ठा अपने आराध्य में नहीं की, लेकिन जो कुछ उन्होंने किया है, वह उनकी प्रतिभा की महत्ता को सिद्ध करने के लिए काफी है। उनका 'सूर-सागर' वास्तव में उच्च और पवित्र भावनाओं का भंडार है और उसमें मानव-जीवन की जिन दो प्रधान—शैशव और यौवन—दशाओं के मनोवैज्ञानिक चित्र अंकित हैं, वे कभी पुराने नहीं होंगे। वे सदैव आनन्द की अवतारणा करने वाले और मनोमुग्ध-कारी रहेंगे। वे स्थायी साहित्य की निधि रहे हैं, और रहेंगे। उनका रंग कभी फीका न होगा।

अब हम लोग सूर की प्रतिभा की वाटिका में विहार करें। उनकी प्रतिभा ने वात्सल्य और शृंगार के ही रंगीन गुलदस्ते सजाये हैं। और इस बात को सब एक स्वर से स्वीकार करते हैं कि इन दोनों क्षेत्रों में सूर की समता करनेवाला अन्य कोई कवि नहीं है। पहले हम उनके वात्सल्य भाव को लेते हैं। सूर के वात्सल्य की विशेषता केवल इसी में नहीं है कि उन्होंने बचपन की विविध दशाओं का स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है, वरन् उनकी निपुणता इसमें भी है कि उन्होंने माता के हृदय की बेचैनी और अकुलाहट का सजीव चित्र खींचा है। आश्चर्य की बात तो यह है कि जो लोग रात-दिन बालकों के साथ रहते हैं और उनके बीच में खेलते-कूदते भाग लेते हैं वे भी उनके बाल-वर्णन को पढ़कर अचंभे में पड़ जाते हैं। यही नहीं वे मातायें भी यशोदा के हृदय की कृष्ण के प्रति बेचैनी की चिन्ता से विचलित हो जाती हैं, जो बराबर उसी प्रकार का जीवन बिताती हैं। माता यशोदा का पुत्र प्रौढा-वस्था का पुत्र है, जब कि वे यौवन की सीमा पार कर चुकी हैं और निराशा उनके हृदय में बैठ-सी गई है। इसी लिए उनके हृदय में कृष्ण के प्रति बेचैनी अधिक है, जो सामान्य मातृ-हृदय में नहीं मिल सकती। वृद्धावस्था में जो पुत्र प्राप्त होता है, उसके लिए दंपति की यह अभिलाषा होती है कि वह शीघ्र ही बड़ा हो जाय और उनके बुढ़ापे का सहारा बन कर उनको जीवन में संतोष की निधि दे सके। जशोदा भी अपने मन में ऐसी ही अभिलाषा करती है कि मेरा लाल कब घुटनों चलेगा और कब पैरों से खड़ा होकर दो कदम रखेगा ! कब मुझे माता कहेगा और कब नन्द को बाबा कह कर पुकारेगा ! कब मेरा आँचल पकड़ कर वह मुझ से बात-

बात पर झगड़ा करेगा! कब अपने आप थोड़ा-थोड़ा खाना सीखेगा! कब हँस-हँस कर मुझ से बातें करेगा और कब मैं उसकी शोभा को देखकर अपने जी के दुःख को दूर करूँगी ?[1]

वस्तुतः यह स्वाभाविक कल्पना है, जो सूर के द्वारा मातृ-हृदय की की गई है। सूर का यह वर्णन देश-काल-निरपेक्ष है। कृष्ण के ऊपर यशोदा सौ-जान से निछावर है, उसे यह पता नहीं चलता कि कब दिन आया और कब रात। जीवन की घड़ियाँ कृष्ण की किलकारियों और आनन्दमयी क्रीड़ाओं से भरी होने के कारण उसे पता नहीं चलता कि वे कब बीत जाती हैं। संयोग की घड़ियाँ जाती हुई कब दिखाई देती हैं? वियोग ही दुःखदायी होता है। स्त्री-पुरुष के अथवा प्रेमी-प्रेमिका के वियोग के चित्र अन्य कवियों ने भी खींचे हैं और स्वयं सूर ने भी खींचे हैं, और हम आगे चलकर देखेंगे कि वे कितने मार्मिक और प्रभावोत्पादक हैं; परन्तु मातृ-हृदय की वियोगावस्था का जैसा चित्र सूर ने प्रस्तुत किया है, वैसा चित्र न तो कोई कवि कर सका है न कर सकेगा। वही कृष्ण जो कभी यशोदा को काम तक नहीं करने देते थे, उसे अपनी क्रीड़ाओं से फुरसत भी नहीं पाने देते थे, जब मथुरा चले गए हैं तब यशोदा की दशा क्या हुई है, इसे कोई शब्दों में कैसे समझावे? आज उस यशोदा को न मक्खन निकालने में रुचि

१—यशुमति मन अभिलाष करै।

कब मेरो लल घुटुरुवन रेंगै, कब धरनी पग द्वैक धरै॥
कब नन्दहि कहि बाबा बोलै कब जननी कहि मोहि ररै।
कब मेरो अंचरा गहि मोहन, जोइ सोइ कहि मोसों झगरै॥
कब धौं तनक-तनक कछु खैहै, अपने कर सौं मुखहिं भरै।
कब हँसि बात कहैगो मोहिसों, छवि पेखत दुख दूरि करै॥

रही है और न दूध दुहने में। आज तो वह बेचारी सूने घर में पुत्र के गुणों का स्मरण कर आँचल गीला कर रही है। कभी ग्वालिनें उपालंभ देने आती थीं और उसी में उसका मन लगा रहता था, पर आज! आज तो कोई उपालंभ देने भी नहीं आती। स्वामी के अभाव में इस गोकुल को आज कोई कौड़ी के मोल भी लेने वाला नहीं रहा है।[1] आखिर वह करे क्या? बेचारी विवश है। कृष्ण से उसे ऐसी आशा न थी कि वह ऐसा निष्ठुर हो जायगा। उसे यह दुःख नहीं है कि उसका पुत्र उस के पास नहीं है। बल्कि यह दुख है कि कृष्ण की खबर कौन रखेगा, उसकी सँभाल कौन करेगा? यही सोचकर वह देवकी के पास संदेश भिजवाती है और वह भी एक पथिक के द्वारा। असमर्थ अभागिनी माँ भेजे तो किसे भेजे? पथिक देखा; उसी से कहने लगीं कि "हे पथिक, देवकी से जाकर कह देना कि मैं उनके सुत की 'धाय' हूँ अतः वे मेरे ऊपर कृपा करती रहें। वे यद्यपि पुत्र की माता होने के कारण उस की आदत जानती हैं फिर भी मैं कहती हूँ कि प्रातःकाल होते ही 'उनके' (मेरे नहीं) कान्ह को मक्खन रोटी खाने की आदत है। वह तेल, उबटन और गरम पानी देख कर भाग जाता था और मन माँगी चीजें पाने पर ही नहाया करता था। हे पथिक,

---

१—मेरे कुँवर कान्ह बिनु सब कछु वैसेहि धरयो रहै।
को उठि प्रात होत लै माखन को कर नेत गहै॥
सूने भवन यशोदा सुत के गुन गुनि शूल सहै।
दिन उठि घेरत ही घर ग्वारनि उरहन कोउ न कहै॥
जो ब्रज में आनंद हुतो मुनि मनसाहु न गहै।
सूरदास स्वामी बिनु गोकुल कौड़ीहू न लहै॥

रात दिन मुझे यही सोच रहता है कि मेरा वह दुलारा मोहन संकोची है अतः बड़ी कठिनाई में होगा।" यशोदा के हृदय का चित्र इससे अधिक स्पष्ट क्या हो सकता है! ऐसे अनेक पद 'सूर-सागर' में बिखरे पड़े हैं। यशोदा का यह रूप आपको 'सूर-सागर' के अतिरिक्त अन्य किसी स्थल पर नहीं मिल सकता।

मातृ-हृदय की इस सरस व्यंजना का कुशल कलाकार बाल-मनोविज्ञान का भी गंभीर विचारक है। उसकी दृष्टि इतनी तीव्र और पैनी है कि उसकी प्रज्ञाचक्षुता पर आश्चर्य करना ही पड़ता है। उसका बाल-वर्णन विश्व-साहित्य में बेजोड़ है। कृष्ण-जन्म की आनन्द-बधाई के बाद ही बाल लीला का आरंभ होता है। शैशव से लेकर कौमार अवस्था तक सैकड़ों चित्र बाल-जीवन के उन्होंने दिए हैं। यहाँ एक बात और याद रखनी चाहिए कि सूर ने बाल-जीवन के जो चित्र दिए हैं, उनमें केवल बाह्य रूप-रेखाओं की ही झलक नहीं है वरन् उनमें बालकों की अंतः-प्रकृति का भी सजीव अंकन हुआ है। इसी अंतर्दर्शन ने ही उनके चित्रों को इतना आकर्षक बना दिया है।

१—सँदेसो देवकी सों कहियो।

हौं तो धाय तिहारे सुत की मया करत ही रहियो॥
जदपि टेव तुम जानत उनकी तऊ मोहिं कहि आवै।
प्रातहिं उठत तिहारे कान्ह को माखन रोटी भावै।
तेल उबटनो अरु तातो जल ताहि देखि भजि जाते।
जोइ जोइ माँगत सोइ सोइ देती क्रम क्रम करि करि न्हाते॥
सूर, पथिक सुनि, मोहि रैन दिन बढ़्यौ रहत उर सोच।
मेरो अलक लड़ैतो मोहन ह्वैहै करत सँकोच॥

कोई भी बात छूटने नहीं पाई। कभी वे घुटनों चल रहे हैं और मणिमय आँगन में अपना प्रतिबिंब निहार कर डर रहे हैं; कभी मणि-खंभों में अपनी छाया देखकर उस छाया को मक्खन खिला रहे हैं और उसे पकड़ कर नाच रहे हैं, कभी चोटी के बढ़ने-घटने, की बात पूछ रहे हैं; कभी स्वयं नाच रहे हैं और अपनी इच्छा के अनुकूल ही जो कुछ जी में आ रहा है, गा रहे हैं, कभी चंद्र खिलौने के लिए मचल रहे हैं, कभी पूजा करते नन्द के सम्मुख रखे शालिग्राम को मुँह में रखे चुप बैठे हैं। कहाँ तक कहें उनकी क्रीड़ाएँ इतनी अधिक हैं कि उनकी गणना नहीं हो सकती। उदाहरण देकर हम विस्तार में नहीं पड़ना चाहते फिर भी दो-एक चित्र दिए बिना हम से नहीं रहा जाता।

बालकों की क्रीड़ा का एक चित्र लीजिए। सब ग्वाल-बाल आपस में जोड़ी बनाकर और हाथ मार कर भाग रहे हैं। कृष्ण और बलराम भी वहाँ उपस्थित हैं। बलराम बड़े होने के कारण कृष्ण को दौड़ने से रोकते हैं और कहते हैं कि तुम्हारे चोट लग जायगी। कृष्ण को यह तनिक बुरा लगा और उन्होंने बलराम की अवहेलना करके भागने का निश्चय किया। जोड़ी बनी। श्रीदामा के साथ भागने लगे ! भागते समय हाथ मारना ही भूल गए। श्रीदामा ने नियम-भंग की बात सुझाई। पर कौन सुनता है, आप भागे चले जा रहे हैं। लेकिन भाग कर जायेंगे कहाँ, श्रीदामा ने उनको एक ही छलाँग में पकड़ लिया। हज़रत खड़े हो गये और बोले कि मैं तो जान-बूझ कर खड़ा हो गया था। इस पर झगड़ा हुआ तो आप खिसियाने लगे। ग्वाल-बालों ने चिढ़ाना शुरू किया। बलराम ने भी उसमें सहयोग दिया। अब वे निस्सहाय थे। करते

तो क्या ? दौड़े और लगे माँ से शिकायत करने—

मैया मोहिं दाऊ बहुत खिझायो ।
मोसों कहत मोल को लीनो तोहि जसुमति कब जायो ॥
कहा कहौं एहि रिस के मारे खेलन हौं नहिं जात ।
पुनि-पुनि कहत कौन है माता को है तुम्हरो तात ॥
गोरे नन्द यशोदा गोरी तुम कत स्याम शरीर ।
चुटकी दै दै हँसत ग्वाल सब सिखै देत बलवीर ॥
तू मोहीं को मारन सीखी दाउहिं कबहुँ न खीझै ।
मोहन को मुख रिस समेत लखि जसुमति सुनि सुनि रीझै ॥

इस पर माता धीरज बँधाती हुई कहती है—

सुनहु कान्ह बलभद्र चबाई जनमत ही को धूत ।
सूर श्याम मोहि गोधन की सौं हौं माता तू पूत ॥

कृष्ण की इस बाल-क्रीड़ा के साथ ही उनकी माखन चोरी आरंभ होती है । वे घर-घर में स्वयं छिप-छिपकर घुसते और माखन खा जाते हैं । यही नहीं कि वे स्वयं खाते हों, 'सखाओं की भीर' लेकर दल-बल सहित चोरी करते हैं । उनका सौंदर्य दिन-दिन बढ़ने लगता है और गोपियाँ उनपर पूर्ण रूप से आसक्त हो जाती हैं । वे यशोदा के पास उस नटखट नटनागर की शिकायत लेकर आती हैं और वह नटनागर एक नहीं, दो नहीं, अनेक युक्तियाँ ऐसी सोच लेता है कि गोपियाँ भी निरुत्तर हो जाती हैं और यशोदा भी । हास-परिहास के बीच में ही परस्पर प्रेम-व्यापार आरंभ हो जाता है । गो-चारण, दान-लीला और चीर-हरण आदि प्रसंग दिन-दिन गोपियों के हृदय में कृष्ण के प्रति प्रेमभाव को दृढ़ करते चले जाते हैं । कृष्ण मुरली बजाते हैं और गोपियाँ सब लोक-लाज छोड़कर यमुना-तट पर कुंज

में रास रचाने पहुँच जाती हैं। गोपियों के इस प्रेम-प्रसंग में न कहीं लज्जा है न झिझक और न संकोच। वह एकदम स्वच्छंद और लोक-बंधन से परे हैं। वे अनजाने ही इस प्रेम-व्यापार में प्रवेश कर जाते हैं और वह अस्वाभाविक नहीं लगता। कृष्ण की सुन्दरता गोपियों के लिए जीवन-मरण का प्रश्न हो जाती है।

प्रेम की यह आँख-मिचौनी, जो गोपियों और कृष्ण के बीच चल रही है, अचानक राधा और कृष्ण का परस्परिक मिलन करा देती है। कृष्ण ब्रज की गलियों में खेलने निकले हैं, कटि में कर्धनी है, पीतांबर ओढ़े हैं, हाथ में चकई और भौंरा है। मोर-पंखों का मुकुट सिर पर है, कुंडलों से कान शोभित हैं और दाँतों की चमक देखकर बिजली लजा रही है। अंग में चंदन की खौर शोभा दे रही है और पहुँचे हैं यमुना के तट पर—तीनों लोकों के सजीव सौंदर्य और आकर्षण के रूप में। अचानक ही वे वहाँ देखते हैं राधा को। उस राधा को, जिसके नेत्र बड़े-बड़े हैं, माथे पर रोली का टीका है, नीला लहँगा है और फरिया ओढ़े है, काली वेणी पीठ पर पड़ी है। और देखिए वह अकेली नहीं है, साथ में किशोर-वयस्का सुन्दरी सखियाँ भी हैं, जिनके बीच में वह सब की शिरोमणि जँच रही है। इस प्रकार आकर्षक छवि को देखकर कृष्ण मुग्ध हो जाते हैं। नेत्र राधा के नेत्रों से जा मिलते हैं और दोनों किसी जादू से बँधे-के-बँधे रह जाते हैं![1]

१—खेलन हरि निकसे ब्रजखोरी।
कटि कछनी, पीतांबर ओढ़े हाथ लिये भौंरा चकडोरी।
मोर मुकुट, कुंडल श्रवनन वर दशन दमक दामिनि छवि थोरी
गए श्याम रवि तनया के तट अंग लसति चंदन की खोरी।

यह नेत्रों के द्वारा जो मिलन हुआ है, यह युवावस्था का मिलन नहीं है ! यह मिलन बाल्यावस्था का है। युवावस्था का मिलन होता तो कृष्ण का कंठ गद्‌-गद्‌ हो जाता, कुछ कह नहीं पाते। लेकिन यह मिलन तो अत्यंत स्वाभाविकता से बाल्यावस्था में हुआ है, जहाँ वासना नहीं हैं, दुर्भावना नहीं है और न है दुराव-छिपाव या घात-प्रतिघात। तभी तो कृष्ण उससे पूछते हैं कि "हे गोरी ! तू कौन है ? कहाँ रहती है ? तुझे मैंने ब्रज की गलियों में कहीं नहीं देखा ?" राधा इसका उत्तर बड़ी चतुराई से देती है—"हम ब्रज की ओर नहीं आतीं, हम तो अपनी ही पौरी में खेलती रहती हैं और सुनती रहती हैं कि नंद का ढोटा (पुत्र) दधि और माखन की चोरी करता रहता है।" राधा की वाग्विदग्धता पर कृष्ण को बड़ा आश्चर्य होता है और वे झट कह उठते हैं—"तुम हमारे साथ खेलने चलो। हम तुम्हारा क्या चुरा लेंगे, जो डरती हो ?" और सूरदास के रसिक शिरोमणि बातों ही बातों में राधिका को फुसला लेते हैं।[1]

प्रथम परिचय के इस स्नेह के बाद उनमें आपस में प्रीति

औचक ही देखी तहँ राधा, नयन विशाल भाल दिये रोरी।
नील बसन फरिया कटि पहिरे बेनी पीठ रुचिर झकझोरी।
संग लरिकिनी चली इत आवति दिन थोरी अति छवि जन गोरी।
सूर श्याम देखत ही रीझे नैन नैन मिलि परी ठगोरी।

१—बूझत श्याम कौन तू गोरी।
कहाँ रहित काकी है बेटी देखी नहीं कहूँ ब्रज खोरी।
काहे को हम ब्रजतन आवति खेलति रहति आपनी पौरी।
सुनति रहति स्रवननि नँद ढोटा करत रहत दधि माखन चोरी।

चढ़ती जाती है। कोई ऐसा समय नहीं, जब वे एक-दूसरे के बिना रहते हों। राधा कृष्ण-मय और कृष्ण राधा-मय हो जाते हैं। कृष्ण राधा को घर ले आते हैं और यशोदा से परिचय भी करा देते हैं। यशोदा भी राधा को देख कर फूली नहीं समाती। वे अपने आप ही राधा का शृङ्गार भी कर देती है। उसकी माँग गूँथ देती है और नई फरिया भेंट करती है। आँचल में मेवे डालकर गोद भी भर देती है। राधा की माता को उसी के सामने गाली भी देती है और इसके साथ ही वह सूर्य की ओर आँचल पसार कर उनसे आशीर्वाद भी माँगती है कि यह जोड़ी चिरजीवी हो।

इसके पश्चात् राधा-कृष्ण का यह प्रेम दिन-दिन प्रौढ़ता को प्राप्त करता चला जाता है। परस्पर दोनों इतने घुल-मिले जाते हैं कि एक दूसरे के बिना रह ही नहीं सकते। यशोदा कृष्ण को डाँटती है। और राधा तो लड़की होने के कारण और भी संदेह का पात्र होती है।[1] लेकिन हाट-बाट में, घर-बाहर, पनघट और जंगल, जहाँ भी कहीं वे होते हैं प्रेम की तीव्रता को गति देते दीख पड़ते हैं। लेकिन यह बात आश्चर्य की है कि कहीं भी विलास की छाया नहीं है। उनकी ये बातें ऐसी स्वाभाविक हैं, मानों उनमें नवीनता ही न हो। राधा कृष्ण के साथ हँसती-खेलती अवश्य हैं लेकिन वे शुद्ध प्रेम के

तुम्हरो कहा चोरि हम लैहैं खेलन चलौ संग मिलि जोरी।
सूर दास प्रभु रसिक-शिरोमणि बातन भुरइ राधिका भोरी।

१—काहे को तुम जहँ तहँ डोलति, हमको अतिहि लजावति।
अपने कुल की खबर करौ धौं, सकुच नहीं जिय आवति॥

धरातल से नीचे नहीं उतरते। सूर की राधा के सौंदर्य और प्रेम का भव्यतम रूप देखने में आता है उद्धव के आने पर। उद्धव से गोपियों ने जी भर कर उलहना दिया—जो मन में आया कहा। कृष्ण को भी कहा और उद्धव को भी और भौंरे की तो दुर्गति ही कर दी। परन्तु राधा ने कुछ भी नहीं कहा—एक शब्द भी नहीं। प्रियतम के मित्र से वे कुछ नहीं कह सकीं; दरवाजे पर खड़ी-खड़ी पृथ्वी पर गिर पड़ीं पर संदेशा न कह पाईं।[1] यही नहीं जब कृष्ण को गोपियाँ दोष देने लगीं तो उन्हें बड़े प्रेम से रोक कर कहा 'दोष उनका नहीं—यह तो मेरे ही प्रेम का दोष है।'[2]

यह प्रेम की प्रतिमा राधा सूर की अन्यतम देन है। विश्व-साहित्य में ऐसी प्रेमिका नहीं मिल सकती। भागवत में राधा का व्यक्तित्व परिस्फुट नहीं हो पाता है। इसलिए वहाँ व्यक्तिगत प्रेमालाप, वैवाहिक लोकाचार आदि का अवसर हीं नहीं आया। व्यक्तित्व के अभाव में प्रेम की पूर्णता असंभव है। सूरदास ने इस अभाव की पूर्ति की है। उन्होंने राधा के व्यक्तित्व को पूर्णता दी है। प्रेम के अन्य ज्वलंत उदाहरण भी मिल सकते हैं, लेकिन शैशव की क्रीड़ा-स्थली से इतनी गंभीरता को पहुँचे हुए प्रेम का ऐसा उदाहरण अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। यद्यपि राधा और कृष्ण का यह संबंध प्रेमी-प्रेमिका का संबंध है तथापि इस प्रेमी-प्रेमिका संबंध का समाजी-

---

१—जब संदेशा कहत सुंदरि गवन मोहन कीन।
खसी मुद्रा चरन अरुझी गिरी भुवि बलहीन॥

२—सखी री हरि को दोष जनि देहु।
ताते मन इतनो दुख पावत, मेरोइ कपट सनेहु॥

करण होने से वह भक्ति में बदल गया है। प्रत्येक गोपी राधा के रूप में ही कृष्ण को भजती है। रास-स्थल में इस तथ्य का स्पष्टीकरण होता है, जहाँ प्रेमी-प्रेमिका का यह संबंध व्यापकता ग्रहण कर भक्ति और रहस्य का स्वरूप ले लेता है। प्रेमी कृष्ण के द्वारा आराध्य कृष्ण की स्थापना सूरदासजी ने जिस कौशल से करवाई है, वह निस्संदेह अनूठा है और राधा का चरित्र तो उससे भक्तों का सर्वस्व हो गया है।

रास-रंग की चहल-पहल, ज्योत्स्ना-मंडित पृथ्वी-मंडल, नाना प्रकार के सुगन्ध विकीर्ण करते पुष्प-समूह, योगमाया सी मुरली के स्वर और उससे स्तंभित यमुना-प्रवाह, तथा द्रवित पाषाण-समूह, वाद्य और गीत की दुहरी लहरें, इन सब ने मिलकर जिस प्रेम-मिलन की भूमिका बाँधी थी, वही कृष्ण के मथुरा जाने से छिन्न भिन्न हो गया और विषम-वियोग में परिवर्तित हो गया। यों तो सूरदास के संयोग के चित्र भी अत्यन्त पूर्ण हैं, लेकिन विरह की जैसी व्यञ्जना उनके द्वारा हुई है, वह अन्यन्त सुन्दर है, सरस है और उसकी समता में कोई वियोग-वर्णन नहीं ठहर सकता। सूर के विरह-वर्णन का आरम्भ वात्सल्य रस के वियोग पक्ष से हुआ है, जिसका उल्लेख हम यशोदा के वर्णन के समय कर चुके है। इस विरह-वर्णन का द्वितीय पक्ष है—गोपी-विरह। सूरदास जी ने गोपियों के द्वारा इतने आँसुओं की धारा प्रवाहित कराई है कि उस धारा में ब्रज का कण-कण डूब गया है। वियोग और करुणा के जितने भी भाव हो सकते हैं, उन सब का समावेश उन्होंने अपने काव्य में कर दिया है। एक ही भावना के अनेक-रूपी चित्रों का संग्रह यदि देखना हो तो गोपी-विरह में देखिए और मज़े की बात यह है कि कहीं भी जी नहीं ऊबता। वस्तुतः सूर ने जो विरह-काव्य लिखा है, उस में एकांगीपन नहीं है, वह समस्त

ब्रज मंडल की वस्तु बन गया है। प्रकृति के दृश्य भी बिलकुल बदल गए हैं। जो प्रकृति संयोग के दिनों में आनन्द की तरंगें उठाती थी, वही अब शूल चुभोती है। गोपियों को न चन्द्रमा अच्छा लगता है, न चाँदनी रात। चन्द्रमा उदय होता है और वे एक दम दुःख के आवेग से भर उठती हैं। वे उपालम्भ देती हुई उसे कोसती हैं। उसे ही नहीं उसके साथ सागर-मन्थन के समय चन्द्रमा को निकालने वालों तक को नहीं छोड़तीं।[1] यही बात चाँदनी रात, के सम्बन्ध में भी है। वे उसे उस सर्पिणी से उपमा देती हैं, जो आदमी को डस कर उलटी हो जाती हैं।[2] सूर का ज्ञान देखिए। सर्पिणी का पेट सफेद होता है, पीठ काली। उसके उलटने में काली रात का चाँदनीमय हो जाना किस प्रकार घटाया है। यहाँ उनके वस्तु-निरीक्षण की कैसी शक्ति प्रकट हुई है। गोपियाँ वृन्दावन के हरे-भरे पेड़ों को भी नहीं छोड़तीं। क्यों छोड़ें? प्रियतम के विरह में भी वे हरे रहें, यह उन्हें पसन्द नहीं है।[3] प्रत्येक ऋतु में उनके

१—या बिनु होत कहा अब सूनो।
लै किन प्रकट कियौ प्राची दिसि बिरहिन कौ दुख दूनौ।।
अब निरदय सुर असुर सैल सखि सागर सर्प समेत।
धन्य कहौं वर्षा ऋतु तमचुर औ कमलन कौ हेतु।
जुग-जुग जीवै जरा बापुरी, मिलै राहु औ केतु।।

२—पिया बिनु सापिन कारी राति।
कबहुँ जामिनी होत जुन्हैया डसि उलटी ह्वै जाति।।

३—मधुबन तुम कत रहत हरे।
बिरह-बियोग स्याम-सुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे?

हृदय में विरह नए-नए रूप लेकर उठता है और उनकी वेदना का अनुभव करता है। कभी-कभी प्रकृति के साथ जब गोपियाँ अपने हृदय की भावनाओं का प्रकाशन करती हैं, तब देखते ही बनता है। पावस-ऋतु के प्रसङ्ग में ऐसे वर्णनों का प्राचुर्य है। बादलों को देखकर उन्हें कृष्ण की याद आ जाती है। वे कृष्ण से अधिक बादलों को करुणामय समझती है, जो सुरलोक से, चातक कुल की पीर समझकर चले आए हैं। इन्द्र के सेवक थे और उन्हें आने का अवकाश न था, फिर भी वे चले आए हैं[1] यह देखकर उन्हें कृष्ण के प्रति खीझ स्वाभाविक है। बेचारियों के आँसू कभी बन्द नहीं होते और उन पर सदा ही पावस ऋतु बनी रहती है, तब भी उनके वे निष्ठुर प्रियतम नहीं आते।[2] कितने दुःख और सन्ताप का विषय है, यहाँ उनकी व्यथा वे ही जानती है—और किससे कहें वे असहाया विरहिणी नारियाँ!

इस प्रकार गोपियों के पास विरह के अतिरिक्त और कोई साधन नहीं है, जिससे वे जी सकें! उनके पास आँसू हैं, जिन्हें वे बहा-बहा कर सन्तोष की साँसें लेती रहती हैं। वे ही क्या, उनके साथ पशु-पक्षी और यमुना भी तो बदल गए हैं। प्रकृति की प्रत्येक वस्तु मानों कृष्ण के वियोग का अनुभव करती है। गायों को दशा यह है कि वे

१—वरु ए बदराहू बरसन आए।
अपनी अवधि जानि नँदनन्दन गरजि गगन घन छाए॥
सुनियत है सुरलोक बसत, सखि, सेवक सदा पराये।
चातक-कुल की पीर जानि कै तेउ तहाँ ते धाये॥

२—निसि दिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहत पावस ऋतु हम पर, जब ते स्याम सिधारे॥

अत्यन्त कृश-गात हो गई हैं दोनों आँखों से जलधारा बरसाती हैं और कृष्ण का नाम सुनते ही रँभाने लगती हैं। यही नहीं कृष्ण ने जहाँ-जहाँ गोदोहन किया था, बेचैनी से उसी-उसी स्थान पर वे जाती हैं, उसे सूँघती हैं और अंत में पछाड़ खाकर गिर पड़ती हैं।[१] गायों की बात छोड़िए, स्वयं कालिन्दी भी विरह के वेग से जलकर अधिक काली होगई है।[२] इस प्रकार समस्त जड़ और चेतन कृष्ण के विरह में डूब गए हैं और विशेषता यह है कि उन्हें स्वप्न में भी आशा नहीं है कि पुनर्मिलन भी होगा। मिलन की आशा होती तो कृष्ण इस प्रकार जाते ही क्यों और जाते भी तो कम से कम संदेशा तो अवश्य भेजते। सूर का यह एकांत विरह गोपियों के आँसुओं में अमर हो गया है।

कष्ट और संताप की बात यह है कि इसी बीच में कृष्ण के सखा उद्धव पहुँचते हैं, अपने ज्ञान की कथा लेकर। गोपियाँ वैसे ही दुःखी थीं। योग का संदेश लेकर कृष्ण-सखा क्या आए मानों जले पर नमक छिड़कने की तैयारी की गई। उद्धव और कृष्ण रूप रंग में एक से थे। गोपियों ने पहले तो यह समझा कि स्वयं कृष्ण ही आ

१—ऊधौ इतनी कहियो जाइ।
अति कृश गात भई ये तुम बिनु परम दुखारी गाइ॥
जल-समूह बरसति दोउ आँखैं हूँकति लीने नाउँ।
जहाँ-जहाँ गोदोहन कीनो सूँघति सोई ठाउँ॥
परति पछार खाइ छिन ही छिन अति आतुर ह्वै दीन।
मानहु सूर काढ़ि डारी है, वारि मध्य तें मीन॥
२—देखियत कालिन्दी अति कारी।
कहियो पथिक जाय हरि सों ज्यों भई विरह जुर जारी॥

गए लेकिन उनकी ज्ञान-गाथा सुनकर वे समझ गईं कि उनके साथ छल किया गया है। उद्धव की आव-भगत में गोपियों ने कोई कमी नहीं की, लेकिन उन्हें बनाने में भी उन्होंने कुछ उठा नहीं रखा। उद्धव गोपियों को जब योग समझा रहे थे ठीक उसी समय एक भ्रमर भी उड़ता हुआ वहाँ आ गया। उसी भ्रमर को संबोधित करके गोपियों ने उद्धव को जो खरी-खोटी सुनाई हैं, जो उपालंभ दिए हैं, वे अत्यंत आकर्षक हैं। 'भ्रमर-गीत' उपालंभ-काव्य की सर्वश्रेष्ठ कृति है। उद्धव के आने से उन्हें विश्वास हो गया कि अब कृष्ण नहीं आवेंगे। उससे करुण रस की सृष्टि हो गई है और उद्धव के ज्ञान-मार्ग का जो परिहास गोपियों द्वारा हुआ है, उसने हास्य की सृष्टि की है; लेकिन इस हास्य और करुण के भीतर भी उनके आँसू ऐसे झाँक रहे हैं जैसे झीने अंचल में से दीपक की ज्योति झाँका करती है।

'भ्रमर-गीत' में गोपियों के मुख से सूर ने निर्गुण का खंडन और सगुण का मंडन कराया है। और विशेषता यह है कि कहीं भी तर्क से उन्होंने काम नहीं लिया। वे प्रेम की प्रतिष्ठा केवल हृदय की सरल अनुभूति से करती हैं। वे उद्धव की बुराई नहीं करतीं। उनकी तो केवल एक ही रट है कि उन्हें किसी प्रकार कृष्ण मिल जायँ और कृष्ण कौन से, जो उनके बचपन के साथी हैं, जिनके साथ उन्होंने बराबर क्रीड़ा की है, वे कृष्ण उन्हें चाहिएँ। उन्हें यह योग कुछ अटपटा जान पड़ता है।[1] फिर वे इस योग को ग्रहण भी कर लें, लेकिन करें कैसे! मन तो एक है, जो श्याम के साथ चला गया है। ज्ञान गादि

१—राखौ यह सब योग अटपटौ ऊधौ पाँय परौं।
कहाँ रस-रीति कहाँ तन-सोधन सुनि सुनि लाज मरौं।

योग की साधना की जाय तो किस प्रकार की जाय, अब उनमें इतनी शक्ति नहीं है कि वे योग की साधना कर सकें।[1] सच भी है जब उनकी आँखें ही हरि-दर्शन की प्यासी हैं तब योग की इन शुष्क बातों को सुनकर कैसे धीरज धरें।[2] उनकी तो केवल एक ही प्रार्थना है कि उन्हें योग न सिखाकर केवल प्रियतम-मिलन की रीति बताई जाय

ऊधो जी हमें न योग सिखैये।
जेहि उपदेश मिलैं हरि हम को सो व्रत नेम बतैये॥
मुक्ति रहो घर बैठि आपने निर्गुन सुनत दुख पैये।
जिहि सिर केस कुसुम भरि गूँदे तेहि कैसे भस्म चढ़ैये॥
जानि-जानि सब मगन भए हैं, आपुन आप लखैये।
सूरदास प्रभु सुनहु न वा विधि बहुरि कि या व्रज ऐये॥

'भ्रमर-गीत' में सूर ने गोपियों के हृदय के सारल्य का जैसा दिग्दर्शन कराया है—हास-परिहास के बीच उनके हृदय की व्यथा का जैसा उद्घाटन किया है, वह बेजोड़ है। जैसे-जैसे उद्धव अपने ज्ञान का बखान करते जाते हैं, वैसे ही वैसे गोपियाँ उस ज्ञान को अपने लिए अगम बताती चली जाती हैं और प्रेम के सीधे मार्ग की

१—ऊधौ मन नाहीं दस बीस।
एक हुतौ सो गयो श्याम सँग को आराधै ईस॥
इंद्री सिथिल भई केशो बिन ज्यों देही बिन सीस।
सूरदास वा रस की महिमा जो पूछै जगदीस॥
२—आँखियाँ हरि दरसन की भूखी।
कैसे रहैं श्याम रँग राती ये बतियाँ सुनि रूखी॥

पथिकहोने के कारण उस नटवर नागर के दर्शनों की ही आकांक्षा करती हैं। उनके इस अनन्य प्रेम को देखकर उद्धव का ज्ञान कपूर की तरह उड़ जाता है और वे प्रेम की महत्ता समझ लेते हैं। वे भी गोपियों की भाँति कृष्ण के प्रेम की गहराई में उतरते हैं और लौटकर कृष्ण के पास जाने पर गोपियों के वकील बनकर उनकी व्यथा को दूर करने की उनसे प्रार्थना करते हैं। उद्धव के ज्ञान की जो पराजय सूर की गोपियों द्वारा हुई है, वह अभूत-पूर्व इसलिए है कि उसमें स्वाभाविक और प्राकृतिक आधार पर गोपियों ने अपनी बात कही है। 'भ्रमर-गीत' सूर-सागर के सर्व-श्रेष्ठ प्रसंगों में से एक है।

बालक्रीड़ा और शृंगार के वर्णन में सूर ने जो सफलता पाई है, उसका कुछ आभास ऊपर के संक्षिप्त विवेचन से हो गया होगा। अब तनिक उनकी भक्ति-भावना पर भी विचार कर लिया जाय। जैसा कि आरंभ में कहा गया है, सूर पहले विनय के पद बनाया करते थे। उन विनय के पदों में उनकी दीनता, आत्म-ग्लानि, वैराग्य, निराशा आदि की व्यंजना हुई है। भक्त ही नहीं, साधारण जन भी जब प्रार्थना करते हैं तो इन्हीं भावनाओं से भरे होते हैं। अतः दीनता आत्म-ग्लानि, निराशा आदि ऐसी भावनाएँ हैं जो भक्त के लिए आवश्यक हैं, क्योंकि कृपा यदि की जा सकती है तो असमर्थ और असहाय पर ही की जा सकती है। दूसरी बात यह है कि अपनी दीनता प्रदर्शन करना भक्त को अच्छा इसलिए भी लगता है कि उसके द्वारा वह अपनी लघुता प्रकट कर सकता है, क्योंकि लघुता प्रकट करना भक्ति का अनिवार्य अंग है। इस दृष्टि से सूर के ये विनय के पद अत्यंत मार्मिक और हृदयग्राही हैं और सूर के आंतरिक भावों तथा उनकी मनोदशाओं को भली-भाँति व्यक्त कर देते हैं। उनकी

भक्तिभावना इन पदों में पूर्ण रूप से व्यक्त हुई है लेकिन उसमें सांप्रदायिकता की छाप कम है, क्योंकि वे पुष्टि-मार्ग में पीछे दीक्षित हुए थे। यही क्यों, उन्होंने तो अपने गुरु वल्लभाचार्य पर भी रचना नहीं की। यहाँ तक कि सूरदास के अंतिम समय में जब चतुर्भुजदास ने कहा—"सूरदास ने भगवत जस वर्णन कीयौ परि श्री आचार्य महाप्रभून् को जस वर्णन ना कीयौ" तब उन्होंने अंतिम समय में ही निम्न पद कहा—

भरोसो दृढ़ इन चरनन केरों।
श्रीवल्लभनख-चंद्र-छटा बिनु सब जग माँझ अँधेरो॥
साधन और नहीं या कलि में जासों होत निबेरो।
सूर कहा कहि दुविध आँधरो बिना मोल को चेरो॥

सच तो यह है कि सूरदास जी अपने भाव में मग्न रहने वाले थे; उनको शेष जगत से विशेष अभिरुचि न थी। एक बार जो गुरु ने 'तत्त्व' दे दिया, उस तत्त्व में ही उनकी आत्मा रम गई, फिर उन्हें यह होश न रहा कि गुरु के लिए भी कुछ होना चाहिए। वे तो तत्त्व के उपासक थे[१]। इसीलिए उनकी भक्ति-भावना में दार्शनिक तत्त्वों की अभिव्यंजना कम है। उन्होंने तो कृष्ण और गोपियों के प्रेम पर ही अधिक समय व्यतीत किया है। हाँ अपने पूर्ववर्ती निर्गुणोपासकों की ओर उनका ध्यान अवश्य था, पर उसकी विवेचना या खंडन उन्होंने नहीं किया, केवल उधर संकेत मात्र

१—तत्त्व-तत्त्व सूरा कही, तुलसी कहीं अनूठि।
बची खुची कबिरा कही, और कही सब झूठि॥

कर दिया है और वह भी जल्दी में।[२] फिर अपने आराध्य की सगुण मूर्ति में लीन हो गए। उनके प्रारम्भिक पदों में दास्य-भाव की प्रधानता है और अंत के पदों में सख्य-भाव की। ये अंत के पद वे हैं, जिनमें उन्होंने कृष्ण की लीला बड़े सुन्दर ढँग से गाई है। तुलसीदास जी की भाँति उनको धर्म-समन्वय अथवा लोकादर्शों की चिंता न थी। हाँ वे धार्मिक सहिष्णु अवश्य थे, क्योंकि उन्होंने 'सूर-सागर' में अन्य अवतारों के साथ राम की भी गुण-गाथा गाई है। तो भी अपने क्षेत्र की सीमित परिधि होने के कारण उन्होंने अपनी दृष्टि भजन और गीत तक ही सीमित रक्खी, तुलसी की भाँति समाज और राजनीति की व्याख्या उन्होंने नहीं की और न वर्णाश्रम-धर्म की प्रतिष्ठा ही की। उनको इन सब बातों की चिंता न थी, इसलिए उन्होंने कोई समुदाय या पंथ न चलाया, यद्यपि वे चाहते तो ऐसा कर सकते थे।

सूरदास जी की रचना गीतिबद्ध है। गीति-काव्य में केवल रूप और सौंदर्य का वर्णन अथवा सूक्ष्म मानसिक गतियों और किसी विशेष अवसर पर उठने वाले मनोवेगों का ही वर्णन होता है। लेकिन स्थिति विशेष का पूरा चित्र देना, घटना-क्रम का ब्योरा देना

१—अविगत गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूंगे मीठे फल को रस अन्तर्गत ही भावै॥
परम स्वादु सब ही जु निरंतर अमित तोष उपजावै।
मन बानी को अगम अगोचर सो जानै जो पावै॥
रूपरेख गुन जाति जुगति बिनु, निरालंब मन चकृत धावै।
सब बिधि अगम बिचारहिं तातें, सूर सगुन लीला-पद गावै॥

और रूप-सौंदर्य या भाव-सौंदर्य की पूरी-पूरी झलक देना, यह गीति-काव्य में एक साथ समाविष्ट कर देना विरले ही प्रतिभाशाली का काम है। सूरदास ऐसे ही प्रतिभाशाली थे। उनके गीति-काव्य में कृष्ण-चरित्र की दबी हुई प्रबन्धात्मकता यद्यपि स्पष्ट नहीं है, तथापि खोज करने पर बाल और किशोर-जीवन के साथ कृष्ण का सम्यक् चरित्र भी उद्भासित हो उठता है। यह विशेषता सूर को छोड़ कर अन्य किसी कवि में न मिलेगी। दूसरी बात उनके काव्य में यह है कि वे पद सभी गेय हैं। गेय क्या हैं—वे गाये गए पहले और लिखे गए पीछे। गानेवाला भी कोई साधारण व्यक्ति नहीं है—प्रज्ञा-चक्षु गायनाचार्य सूर की आत्मा के स्वरों में वे गाए गए हैं अतः उनमें माधुर्य की प्रधानता है। माधुर्य का एक कारण और है कि वे ब्रजभाषा में गाए गए हैं, जो एक तो लोक-भाषा होने के कारण दूसरे अपनी निजी मिठास के कारण माधुर्य की विशेष रूप से अधिकारिणी है। सूरदास के पद इस लिए सीधे हृदय पर चोट करते हैं।

सूर की भाषा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह चलती हुई ब्रजभाषा है, जिसमें संगीत ने अद्भुत प्रभाव उत्पन्न कर दिया है। संगीतमय पदों में चित्रमयता होती है, क्योंकि वे मनोभावों का चित्र खींचते हैं और स्वरों के द्वारा उसे श्रोता के हृदय में उतारते हैं। सूर की रचना में चित्रमयता इतनी अधिक है कि संसार का कोई कवि उनकी तुलना में नहीं ठहर सकता। चित्र वही अच्छा होता है, जिसमें थोड़े से रंग और रेखाओं से ही काम चला लिया गया हो और भाव की व्यंजना पूरी हो, कोई बात छूटी न जान पड़े। काव्य में इसी को शब्द-लाघव कहते हैं। शब्द-लाघव में

—कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक भावों की व्यंजना कर देने में—सूर को कमाल हासिल है। वस्तुतः उनकी भाषा साहित्यिकता और ग्रामीणता का समन्वय है। गँवारू शब्दों का प्रयोग उन्होंने किया है और खूब किया है, पर वे शब्द साहित्यिक भाषा के आवश्यक अंग होने के कारण खटकते नहीं प्रत्युत सूर की भाषा को सजीवता प्रदान करते हैं।

तात्पर्य यह है कि सूर का काव्य भाषा, भाव, छन्द आदि की दृष्टि से सर्वथा अनूठा है। उनसे पहले भी कबीर नानक, दादू और उनसे भी पहले नाथपंथियों ने पदों में रचना की है, परन्तु उसको इतनी पूर्णता तक पहुँचाना उन्हीं का काम था। ब्रजभाषा जैसी लोक-भाषा को साहित्यिकता के साँचे में ढालना उन्हीं जैसे प्रतिभाशाली की सामर्थ्य की बात थी। काव्य-रसिकों को सूर की रचना में अलंकारों के विविध प्रयोग और दृष्टिकूटों की क्लिष्ट-कल्पना से सूर के पांडित्य का पता चल सकता है। परन्तु उनकी आत्मा का सच्चा स्वरूप यदि देखना हो तो बाल-क्रीड़ा और शृंगार के चित्र देखने चाहिएँ। विनय के पदों में उनकी दीनता की भी पूरी झलक मिलेगी। सगुण-लीला के पदों को इतनी पूर्णता के साथ गाने में सूर के पहले किसी को सफलता नहीं मिली। पीछे के कवि भी सूर की कोटि तक न पहुँच सके। मातृ-हृदय का चित्रण तो आज तक वैसा कोई कर ही नहीं सका। वस्तुतः सूरदास स्वतंत्र व्यक्तित्व रखने वाले एकमात्र सिद्ध कलाकार थे, इसीलिए उन्होंने एक रैकार्ड कायम किया, जिसे तोड़ने का साहस करने वालों को असफलता ही पल्ले पड़ी। सूर की स्वतंत्र-प्रकृति ने ही उन्हें इस योग्य बनाया था कि वे कला की इतनी ऊँची साधना कर सकते और राधा, यशोदा, नन्द, कृष्ण

आदि के ऐसे लोकोत्तर चरित्र दे सकते। सूर का व्यक्तित्व तथा उनकी रचना सर्वत्र बोलती है और कृष्ण की ही भाँति अमर हो गई है। इसे देख कर लगता है कि जिस व्यक्ति ने 'सूर सूर तुलसी ससी' कहा था उसने अत्युक्ति नहीं की थी। लेकिन छोड़िए, हम इस विवाद में नहीं पड़ना चाहते क्योंकि प्रत्येक कलाकार का अपना अलग स्थान होता है, कोई किसी विषय में विशेषता प्राप्त करता है कोई किसी में। यह विवाद कलाकार की वास्तविकता से दूर ले जाने वाले होते हैं। अतः हम इसे यहीं छोड़ कर केवल यही कहते हैं कि सूर की कविता में विश्व-व्यापी राग का—प्रेम का—संदेश है। उसमें मानव-जाति की सभी वृत्तियाँ अन्तर्हित हैं। उसमें न दार्शनिक पहेलियाँ बुझाई गई हैं न सांप्रदायिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है, उसमें तो केवल शुद्ध प्रेम के आधार पर निश्छल भाव से राधा-कृष्ण की लीला का गान है, जो सूर की तीव्र अनुभूति से इतना सजल, इतना मधुर और इतना सरस हो गया है कि भावुक जन कह उठते हैं—

किधौं सूर कौ सर लग्यौ, किधौं सूर की पीर।
किधौं सूर को पद सुन्यो, तन-मन धुनत शरीर॥



तुलसीदास

पंद्रहवीं, सोलहवीं, और सत्रहवीं शताब्दी का समय, जिसे हमारे साहित्य के इतिहास में भक्ति-काल कहा जाता है, साहित्य की दृष्टि से भले ही स्वर्ण युग हो, लेकिन राजनीतिक और धार्मिक दृष्टि से पूर्ण पराजय का काल था। शक्ति के अभाव में एक विदेशी जाति की सभ्यता और संस्कृति के प्रति हिंदुओं के आत्म-समर्पण का परिणाम यह हुआ था कि हिन्दू धर्म, हिन्दू-जाति, हिन्दू-संस्कृति और हिन्दू-सभ्यता की रक्षा का कोई साधन शेष नहीं था। लोगों में इतना साहस नहीं था कि वे संगठित होकर खड़े हों और धर्म के ऊपर होते हुए कुठराघात का सामना करें। भक्ति-काल में शांति के प्रयत्न शासकों की ओर से अवश्य किए जा रहे थे, परन्तु वे प्रयत्न पराजित हिन्दू जाति को सान्त्वना और आश्वासन देने में असमर्थ थे। हिन्दू जले हुए थे, अतः जो भी प्रयत्न शासकों की ओर से उनकी तुष्टि के लिए किए जाते थे, वे ही उन्हें आशंका और भय उत्पन्न करने वाले प्रतीत हों, यह स्वाभाविक ही था। फिर एक वेद-विहित धर्म को आपदस्थ कर यह नई जाति शासक बनी थी और अपने धर्म की जड़ें अधिकाधिक गहरी करती जाती थी, इससे हिन्दुओं में और भी घृणा का भाव था, जो भीतर-ही-भीतर गीली लकड़ी की तरह सुलग रहा था। उस समय देश में श्मशान की शांति व्याप्त थी। ऐसे निस्तब्ध और भयानक वातावरण में जन-साधारण के हृदय-कमल मुरझाए हुए थे। यह स्थिति दोनों ही जातियों के लिए

हानिकर थी। अतएव कुछ संत-महात्माओं ने इसका अनुभव किया कि अब समझौते का मार्ग ही श्रेयस्कर है। उन्होंने भक्ति की अमृतमयी धारा बहा कर धार्मिक विद्वेष की अग्नि से जलते हुए हृदयों को शीतल किया। इनमें दो प्रकार के भक्त थे। एक तो वे जो सामान्य मानवधर्म को मानने वाले थे। और दूसरे वे जो भारतीय परंपरा की ओर उन्मुख थे। पहले प्रकार के महात्माओं को हिंदू या मुसलनान दोनों में से किसी के प्रति पक्षपात नहीं था। यद्यपि वे मुसलमान थे तथापि उनमें मानव-मात्र के प्रति प्रेम और सद्भावना थी। वे चाहते थे कि किसी प्रकार यह घृणा और द्वेष की भावना, जो निरंतर जीवन में कटुता बो रही है, कम हो। इसलिए उन्होंने मानव की वृत्तियों की पवित्रता को श्रेष्ठता का आधार बताया और प्रेम पर अत्यधिक ज़ोर दिया। उन्हें न तो हिंदू धर्म की रक्षा की चिन्ता थी न इस्लाम के प्रचार की धुन। वे इन संकीर्ण घेरों में बँध कर नहीं चलते थे। इसका एक कारण यह भी था कि ये महात्मा निम्नवर्ग से आए थे और इन्होंने विशेष शिक्षा-दीक्षा भी प्राप्त नहीं की थी। केवल अपनी आत्मा की निर्मलता और भव्यता पर उन्हें विश्वास था और उसी के बल पर वे ऐसा काम करने चले थे, जिसे शासन-सत्ता भी करने में असमर्थ थी। उन्होंने अपने आपको जनता के साथ मिला कर और जीवन को आदर्शमय बनाकर मानवता का उपदेश देना आरंभ कर दिया। अपनी सचाई के कारण दोनों जातियों में वे प्रतिष्ठित भी हुए और दोनों धर्मों की सामान्य बातें लेकर एक नए धर्म का निर्माण किया, जिस में ईश्वर का स्वरूप हिंदुत्व और इसलाम दोनों से भिन्न था। इन्होंने मुसलमान होते हुए भी ऐसा इसलिए किया था कि वे मानव-मात्र के सच्चे हितैषी थे। उनमें इतना साहस

न था कि भक्ति में ईश्वर के उस सगुण रूप की स्थापना करते जो अत्याचारियों का नाश करने वाला है; इस लिए उन्हें निर्गुण ईश्वर की सृष्टि करनी पड़ी, जो भक्ति का विषय नहीं बन सका। यही कारण है कि कबीर जैसे उच्च कोटि के महात्मा का क्रांतिकारी व्यक्तित्व अपने समय में ही अधिक प्रकाश कर सका और उनका पंथ आगे न बढ़ सका। जायसी का प्रभाव तो कबीर से भी कम रहा। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि इन संतों की दृष्टि में धार्मिकता ही हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य की जड़ में थी। वे सांस्कृतिक और सामाजिक धरातल पर उतर कर नहीं सोच सकते थे। कारण, न तो उनके ऐसे संस्कार थे, न वे उस संस्कृति या समाज के अंग थे, जिसका अस्तित्व खतरे में था। एक प्रकार से ये लोग तटस्थ और किसी अंश में बहिष्कृत से थे, जिन्हें संस्कृत हृदय और संस्कृत मस्तिष्क की स्वीकृति नहीं मिली थी। अतः वे तत्कालीन परिस्थितियों में व्याप्त निराशा को तो दूर कर सके लेकिन आगे बढ़ने के लिए उत्साह न दे सके।

जीवन में उत्साह का संचार करने में दूसरे प्रकार के भक्तों को सफलता मिली। ये भक्त पंथों के प्रवर्तक न हो कर भारतीय संस्कृति की रक्षा के लिए धार्मिक आधार पर क्रांति करने वाले वेद-शास्त्रों के पंडित और तत्त्ववेत्ता आचार्यों द्वारा संचालित संप्रदायों के स्तंभ थे। इन संप्रदायों में संतमार्ग से तत्त्वतः भेद यही था कि ये जिनके द्वारा चलाए गए थे, वे हिन्दू-समाज के उच्च वर्ग के व्यक्ति थे और उन्हें समाज ने प्रतिष्ठा दी थी। वल्लभाचार्य और रामानुजाचार्यजी ऐसे ही व्यक्ति थे, जिन्होंने कृष्ण और राम को विष्णु का अवतार बनाकर हिन्दू-जनता की सुप्त भावनाओं को जगाया और उनके हृदय में आशा का संचार किया। इनमें भी सूरदास जी ने

केवल बालकृष्ण की माधुरी और सुन्दरता के गीत गाए, जिससे जीवन में हर्ष और आनन्द का संचार हुआ और जनता भगवत्-लीला के श्रवण, कीर्तन और स्मरण में डूब गई। परन्तु शिशु के साथ जी बहलाया जा सकता है, क्रीड़ा की जा सकती है। गंभीर समस्याओं और समाजोपयोगी कार्यों के लिए उससे प्रेरणा नहीं ली जा सकती, जो जीवन की सफलता के लिए अतीव आवश्यक है। बालकृष्ण की जो उपासना सूर के द्वारा ब्रजभाषा का शृंगार करती हुई जनता तक पहुँची उसमें जीवन का एकांगी दृष्टिकोण था—केवल लोकरंजन। भगवान के लोक-रक्षक स्वरूप की स्थापना के लिए अभी अवकाश था। प्रातःस्मरणीय गोस्वामी तुलसीदास जी ने इस कार्य के लिए भगवान राम के मर्यादाशील जीवन को अपनी वाणी का विषय बना कर, जीवन की व्यापक अभिव्यंजना की और आदर्श और कर्तव्यों का भक्ति में इस प्रकार समावेश किया कि हिन्दू-धर्म, हिन्दू-जाति, हिन्दू-सभ्यता और हिन्दू-संस्कृति, तात्पर्य यह कि समग्र हिन्दुत्व की भावना एकदम सजीव हो उठी। तुलसीदास जी का व्यक्तित्व इतना सर्वग्रासी है कि वे एक ही साथ साहित्य-शिरोमणि, राजनीति-विशारद, धर्म-संस्थापक, समाज-सुधारक और युग-निर्माता हैं। अकेले उन्होंने ही हमारे जीवन की सभी दिशाओं को घेर लिया है और हम आज ही नहीं, सदैव उनके ऊपर गर्व करते रहेंगे। यदि अंग्रेज़ शेक्सपीयर पर इतना अभिमान करते हैं कि वे उसके लिए अंग्रेज़ी साम्राज्य को भी छोड़ने के लिए तैयार हैं तो भारतीय भी तुलसीदास के ऊपर सर्वस्व निछावर कर सकते हैं। तुलसीदास और भारतीयता पर्यायवाची शब्द हो गए हैं। उनकी वाणी में वह ओज, वह प्रभाव और वह प्रेरणा-शक्ति है कि वे हमारे जीवन के कण-कण

में व्याप्त हैं। राजा से लेकर रंक तक और महलों से लेकर झोंपड़ियों तक सर्वत्र राम नाम की शीतल छाया में हिन्दू-हृदय अपने जीवन की निराशा, असफलता और सामर्थ्यहीनता खोकर नव-जीवन की अभूतपूर्व शक्ति पाता है, इसका एकमात्र श्रेय उसी महात्मा तुलसीदास को है।

अब हम उन कारणों और परिस्थितियों को भी देखें, जिन्होंने इस महात्मा के जीवन में इतना महत्त्वपूर्ण कार्य करने की प्रेरणा दी और उन्हें अपने युग का सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति बना दिया। इस संबंध में सब से पहली बात तो यह है कि ये महात्मा शैशवावस्था से ही सामाजिक प्रतिष्ठा से वंचित रहे थे। माता-पिता ने इनको जन्म के बाद ही छोड़ दिया था[1]। वे चार चनों को ही चार फल समझते थे[2]। जन्म उच्च कुल में हुआ था लेकिन दरिद्रता के कारण वे अपने को 'मंगन' कुल का समझा करते थे[3]। बचपन में ही उन्हें अनाथावस्था का अनुभव हो गया था। उस अवस्था में ही उन्होंने गुरु से रामकथा सुनी थी परन्तु उस समय 'अचेत' होने के कारण उसका महत्त्व नहीं समझ सके थे।[4] उनका जीवन बराबर अस्तव्यस्त

१—मातु पिता जग जाय तज्यौ विधिहूँ न लिखी कछु भाल भलाई।

२—बारे ते ललात बिललात द्वार-द्वार दीन
जानत हौं चार फल चार ही चनक को।

३—दियौ सुकुल जनम सरीर सुन्दर हेतु जो फल चारि को।
जायौ कुल मंगन बधावनों बजायौ सुनि, भयौ परिताप पाप जननी जनक को।

४—मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सो सूकर खेत।
समुझी नहि तस बालिपन, तब अति रहेउँ अचेत॥

बना रहा। वह अस्तव्यस्तता उनकी स्त्री के कारण दूर भी हुई लेकिन कुछ ही दिन के लिए। कारण, उसमें वे बुरी तरह आसक्त थे और क्षण भर को भी उसका वियोग नहीं सह सकते थे। तभी एक बार जब वह अपने पिता के यहाँ चली गई थी तो ये उसी समय उसके पीछे चले गए थे। उस समय उस नारी की उपदेशमयी वाणी ने तुलसीदास का जीवन ही बदल दिया। बचपन में गुरु से रामकथा सुनने पर चाहे वे अचेत रहे हों लेकिन यौवन-काल में अपनी प्रियतमा की फटकार खाकर उन्हें चेत हो गया[१]। विद्वान् कहते हैं और प्रमाण भी देते हैं कि उनके काव्य-गुरु और दीक्षा-गुरु नरहरि तथा शेष सनातन थे। हम विद्वानों की बात को महत्त्व न देने की धृष्टता नहीं करते, लेकिन इतना अवश्य कहेंगे कि हमारी दृष्टि में उनकी स्त्री ही उनकी एक-मात्र गुरु थी। यदि उसके द्वारा उनको आत्म-बोध न हुआ होता, उसके कारण राम-नाम में उनकी रुचि न हुई होती तो तुलसीदास का आज कहीं पता ही न होता। तुलसीदासजी तुलसीदास बन गए, यह सब उस तपस्विनी नारी की ही कृपा का फल है, जिसने अपने सुख-दुख की चिन्ता न की और समाज की मर्यादा को भंग करने पर तुलसीदास जी को इस प्रकार बुरा-भला कह दिया। मर्यादावाद की तुलसी में जो कुछ अधिकता है, उसका सूत्र यहीं खोजना चाहिए, उसके लिए अन्यत्र भटकना आत्म-वंचना है और कुछ नहीं।

१—लाज न आप को, दौरे आएहु साथ।
धिक-धिक ऐसे प्रेम को, कहा कहौं मैं नाथ॥
अस्थि-चरम-मय देह मम, तामें ऐसी प्रीति।
होती जो कहुँ राम में, होति न तो भव भीति॥

स्त्री के उपदेशमयी वाणी से चोट खाकर यह महात्मा जीवन भर के लिए विरक्त हो गए। वैराग्य ले कर इन्होंने समस्त तीर्थों और पवित्र पुरियों की खाक छानी। अधिकांश समय अयोध्या, काशी और चित्रकूट में बिताया और गंगा के किनारे बैठ कर राम-नाम की साधना की।[1] इस साधना में केवल आत्म-तुष्टि की ही भावना नहीं थी, लोक-कल्याण की भी भावना थी। तभी तो उन्होंने भ्रमण द्वारा, पंडितों और साधु-सन्तों के सत्संग द्वारा तथा वेदशास्त्र और पुराण-उपनिषदों के पारायण द्वारा ऐसी उत्कृष्ट कोटि की 'राम-रसायन' तैयार की कि जिसे सेवन करके हिन्दू जाति विदेशी सभ्यता के महारोग से सदैव के लिये मुक्त हो गई और आज भी जिसके प्रभाव से उसका अपनापन जीवित है। लेकिन तुलसीदास जी का यह जो वैराग्यमय जीवन था, उसमें कष्टों और आपत्तियों की कमी नहीं थी। वे रोगों, दुर्जनों और दुर्दिनों से घिरे थे और पीड़ा से उनका शरीर जर्ज़र था[2] तो भी उनका आत्म-विश्वास

१—अ—सेइय सहित सनेह देह भर कामधेनु कलि कासी।
    ब—तुलसी जो राम सो सनेह साँचो चाहिए,
        तौ सेइए सनेह सों विचित्र चित्रकूट को।
    स—भागीरथी जलपान करौं अरु नाम द्वै राम के लेत नितै हों।
२—(अ) घेर लियौ रोगनि, कुलोगनि कुजोगनि ज्यों,
        बासर जलद घन-घटा धुकि धाई है।
    (ब) पाँय पीर पेट पीर बाहु पीर मुँह पीर,
        जर जर सकल सरीर पीर भई है।

बड़ा उच्च कोटि का था और वे राम-नाम के प्रसाद से पैर पसार कर सोया करते थे [१]। वे अपने भगवान राम को ही एक-मात्र आराध्य मानते थे और अपना सब कुछ उनके अर्पण कर चुके थे। इसीलिए उनकी आत्मा में अभूतपूर्व शक्ति आ गई थी और वे इस बात की चिन्ता नहीं करते थे कि लोग उन्हें क्या कहते हैं।

तुलसीदास के जीवन से एक बात और स्पष्ट होती है कि उनको समाज की प्रत्येक परिस्थिति का बड़ा गहरा ज्ञान था। क्या राजनीति, क्या समाज-नीति और क्या धर्मनीति, सब की अच्छाई-बुराई की उन्होंने पूर्ण परीक्षा की थी और कुशल वैद्य की भाँति उनकी नाड़ी की प्रत्येक गति का अध्ययन किया था। यही कारण है कि अपने समय की परिस्थिति का उन्होंने बहुत अच्छा चित्र खींचा है [२]। ऐसी

१—(अ) कौन की त्रास करै तुलसी जो पै राखिहै राम तो मारिहै को रे।

(ब) प्रीति राम-नाम सों, प्रतीति राम-नाम की,
प्रसाद राम-नाम के, पसारि पायँ सूतिहौं।

२—(अ) खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि.
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।
जीविका-विहीन लोग-सीद्यमान सोच-बस,
कहैं एक-एकन सौं, "कहाँ जायँ का करी।"

(ब) एक तो कराल कलिकाल सूल-मूल तामें,
कोढ़ में की खाजु सी सनीचरी है मीन की।
वेद धर्म दूरि गए, भूमिचोर भूप भए,
साधु सीद्यमान जानि रीति पाप-पीन की॥

स्थिति में तुलसीदास जैसे आत्म-त्यागी महात्मा की आत्मा यदि वर्णा-श्रम-धर्म की प्रतिष्ठा के लिए, धर्म का शुद्ध रूप प्रदर्शित करने के लिए, राजनीति का आदर्श प्रस्तुत करने के लिए तड़प उठी हो तो कोई आश्चर्य नहीं है। वेद-पुराणों की निन्दा करने वाले और साथ ही भक्ति का निरूपण करने वाले व्यक्तियों को वे बड़ी घृणा की दृष्टि से देखते थे। उनकी दृष्टि में वेद-विहित और वैराग्य-विवेक-संयुत हरि-भक्ति-पथ को छोड़ कर अनेक पंथों की कल्पना करना और उस सत्य मार्ग को छोड़ना मोह-ग्रस्त होने की सूचना देने के समान था। वे इस बात को समाज के लिए अशोभनीय समझते थे कि शूद्र ब्रह्म-ज्ञानी होने का दावा करके ब्राह्मणों की बराबरी करें।[1]

वे वेद-शास्त्र-पारंगत और समाज-शास्त्र-वेत्ता थे तथा उच्च कोटि के त्यागी महात्मा और कवि थे, तथापि अत्यन्त विनम्र, शीलवान और सरल हृदय के व्यक्ति थे। उनकी दीनता और विनय के समक्ष

(स) आस्रम बरन धरम विरहित जग लोक वेद मरजाद गई है।
प्रजा पतित पाखंड पाप-रत अपने-अपने रंग रई है।
सांति सत्य सुभरीति गई घटि, बढ़ी कुरीति कपट कलई है।
सीदत साधु साधुता सोचति खल बिलसत हुलसति खलई है।

१—साखी, सबदी, दोहरा, कहि कहिनी उपखान।
भगति निरूपहिं भगत कलि, निन्दहिं वेद पुरान॥
स्रुति सम्मत, हरि-भगति पथ, संजुत बिरति-बिबेक।
तेहि परिहरहिं बिमोहबस, कल्पहिं पंथ अनेक॥
बादहिं सूद्र द्विजन सन, हम तुम्ह ते कछु घाटि।
जानै ब्रह्म सो बिप्रबर, आँखि दिखावहि डाँटि॥

किसी भी भक्त कवि के कथन नहीं ठहरते। 'रामचरित-मानस' जैसी श्रेष्ठतम रचना देने पर भी अपने को 'कबित-विवेक' से हीन और कला तथा विद्या-रहित कहना तुलसीदास जी की महानता ही सिद्ध करता है ।[१] कहते हैं कि जो जितना ही ऊँचा होता है, वह उतना ही विनम्र होता है । तुलसीदासजी पर यह उक्ति अक्षरशः चरितार्थ होती है । वे अपने संबंध में इस प्रकार की लघुता की बात करते हैं और इसमें गौरव का अनुभव करते हैं। वह इसलिए कि इससे उनकी आत्मा की महानता व्यक्त होती है ।

तुलसीदास जी को पाखंड और आडंबर से बड़ी चिढ़ थी। वे स्वयं सरल हृदय के व्यक्ति थे, इसलिए जहाँ कहीं वे इस प्रकार की अनर्थक बातें देखते थे वहीं उनका क्रोध प्रकट हो जाता था और कभी-कभी बुरी तरह उन्हें फटकार देते थे ।[२] इसके साथ ही वे 'नर-काव्य' करना नहीं जानते थे। उनके समय में अकबर के दरबार में रत्नों की चमक होती थी.। अनेक कवि राजाश्रय में रहते थे परन्तु तुलसीदास जी की यह विशेषता थी कि वे इस 'मुँह देखी प्रशंसा' और 'राजाश्रय' से कोसों दूर थे । किसी अपात्र की

१—कवि न होंउ नहि बचन प्रवीना, सकल कला सब विद्या-हीना।
कबित बिबेक एक नहिं मोरे, सत्य कहौं लिखि कागद कोरे ।
बंचक भगत कहाइ राम के, किंकर कंचन कोह काम के।
तिन्ह महँ प्रथम रेख जग मोरी, धिग धर्मध्वज धंधक धोरी।
जौ अपने अवगुन सब कहऊँ, बाढ़इ कथा पार नहिं लहऊँ।

२—हम लख हमहिं हमार लख, हम हमार के बीच ।
तुलसी अलखहि का लखै । राम नाम जपु नीच ॥

प्रशंसा करना वे सरस्वती का अपमान समझते थे।[1] ठीक भी है, जिसे समाज-निर्माण करना हो और समूचे राष्ट्र को जीवन देना हो वह व्यक्ति इन छोटी-छोटी बातों में किस प्रकार उलझ सकता था !

तुलसी के जीवन के संबंध में—उनकी अन्तरात्मा की प्रकृति के विषय में—इतना जानने के साथ ही एक बात और भी जानने योग्य है। वह यह कि तुलसीदास जी के समय विश्वनाथपुरी काशी संस्कृत का गढ़ थी, इसीलिए जब तुलसीदास जी ने अपनी रामायण अवधी भाषा में, जिसे भाखा कहा जाता था, लिखी तो पंडितों के क्रोध का ठिकाना न रहा। सुनते हैं तुलसीदासजी को उन लोगों ने अनेक कष्ट भी दिए थे और रामायण की हस्तलिखित प्रति को नष्ट भी कर दिया था। लेकिन तुलसीदासजी इससे विचलित नहीं हुए थे। होते भी क्यों? सिद्धान्त था कि दुष्टों के वचनों को चुपचाप सह लेना चाहिए, उसी प्रकार जिस प्रकार कि पहाड़ बूँदों को सह लेते हैं—"बुन्द अघात सहहिं गिरि कैसे, खल के वचन संत सह जैसे।" कर्तव्य की पुकार पर उनके हृदय ने भाषा में ही अपने अनुभव व्यक्त किए, यद्यपि वे चाहते तो संस्कृत में भी लिख सकते थे; लेकिन तब वे जनता के हृदय हार न बन पाते, गिने चुने त्रिपुंडधारी पंडितों के लिए कुछ सामग्री भले ही जुटा देते। जन-साधारण की भाषा में लिखकर उन्होंने अपनी महानता का परिचय दिया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तुलसीदास का जीवन, उनकी प्रकृति और स्वभाव भक्तिकाल के अन्य सभी कवियों से भिन्न हैं। वे जीवन में संतुलन के समर्थक थे और इसलिए वे चाहते थे कि जीवन का

१—कीन्हें प्राकृत जग गुन गाना, सिर धुनि गिरा लगत पछिताना।

ऐसा उचित पथ लोगों को बताया जाय जिसपर चल कर वे आत्म-रक्षा और राष्ट्र-रक्षा कर सकें। जन-साधारण की भाषा को अपनाना, समाज का गहरा अध्ययन करना, वेद-शास्त्रों के मंथन से युगानुकूल लाभ-प्रद तत्त्वों का संग्रह करना, दुर्भावनाओं और लोभ-लालच के सम्मुख न झुकना आदर्श के लिए सब कुछ बलि चढ़ा देना आदि ऐसे गुण हैं, जो विरले ही महात्माओं में होते हैं। तुलसीदास जी ने अपना जीवन एक वैरागी और संसार-त्यागी महात्मा के रूप में आरंभ किया था, परंतु जीवन की कटुता और पीड़ित जन-समुदाय के संताप-सागर की उत्ताल तरंगों से उनका हृदय इतना भयभीत होगया था कि वे आत्म-बोध के लिए की गई साधना को लोक-धर्म की प्रतिष्ठा के लिए उपयोग करने को बाध्य हो गए। उनके साहित्य में जीवन की जो व्यापक अनुभूति मिलती है, उसका कारण उनका यही लोक-धर्म और समाज की मर्यादा को पुनर्जीवित करने की भावना है, जिसके लिए उन्होंने जीवन की सम-विषम अवस्थाओं को पार कर 'सियराम मय सब जग जानी, कर हुँ प्रणाम जोरि जुग पानी' की टेक निभाई और भारतवर्ष की मृत-प्राय हिन्दूजनता को अमृत पिला कर युग-युग के लिए अमर कर दिया।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने बहुत लंबा जीवन पाया था। यह एक संयोग की बात थी। यह संयोग भी आवश्यक ही था; क्योंकि यदि वे इतना लंबा जीवन न पाते तो अपने ग्रंथों में जीवन की ऐसी मार्मिक विवेचना न कर पाते। यों तो उन्होंने अनेक ग्रंथ अपने जीवन काल में लिखे होंगे, परंतु रामलला नहछू, वैराग्य-संदीपिनी, बरवै-रामायण, पार्वती-मंगल, जानकी-मंगल, रामाज्ञा प्रश्न, दोहावली, रामचरित मानस, कवितावली, कृष्णगीतावली और विनयपत्रिका ये १२ ग्रंथ प्रामाणिक माने गए हैं। इनमें भी अंतिम छः विशेष महत्त्व के हैं, क्योंकि ये

तुलसीदास जी के जीवन के आदर्शों और सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक विचारों के कोश हैं, अंतिम छः ग्रंथों में कृष्णगीतावली का महत्त्व इस लिए है कि इसमें कृष्णचरित्र वर्णन होने से तुलसीदास ऐसे वैष्णव कवि के रूप में हमारे सम्मुख आते हैं, जिसे विष्णु की व्यापकता में पूर्ण विश्वास है और जो अवतार-वाद का प्रबल समर्थक है। यह ब्रजभाषा में है और पद-रचना में कवि के कौशल को प्रकट करती है। 'विनय-पत्रिका' कवि के आत्म-निवेदन और आत्म-बोध के प्रदर्शन के साथ-साथ उसके दार्शनिक और भक्ति के सिद्धान्तों को व्यक्त करती है। 'कवितावली' में राम के पराक्रम की प्रधानता है और 'गीतावली' में उनके बाल-वर्णन की। 'गीतावली' को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि इस ग्रंथ को लिखने से पूर्व वे 'सूर-सागर' देख चुके थे और कृष्ण का बाल-वर्णन पढ़ चुके थे। तभी उस रूप में बाल-वर्णन लिखने की उन्हें सूझी। इसकी शैली सूर से बहुत मिलती जुलती है। अब एक ही ग्रंथ बच जाता है और वह है 'रामचरित-मानस'। यही ग्रंथ मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र की यश-गाथा से सुशोभित है। राम-कथा का यह ज्वलन्त दीपक है, जिसके प्रकाश में जीवन का समस्त कलुष धुल जाता है। यों तो उनके सभी ग्रंथों में राम की कथा थोड़ी बहुत है ही, परंतु इसमें विशेष रूप से राम का जीवन चित्रित किया गया है। इस ग्रंथ को गोसाईं जी महाराज ने महाकाव्य के दृष्टिकोण से लिखा है। इसमें जीवन के समस्त अंगों का पूर्ण समावेश किया गया है। साथ ही धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्तों को रामकथा के साथ ऐसा जड़ दिया गया है कि शुष्क सिद्धान्त भी काव्य की वस्तु बन गए हैं। इस ग्रंथ को उन्होंने 'स्वान्तः-सुखाय' लिखा है और इसके लिए 'नानापुराणनिगमागम' की सहायता ली

है ।[1] विशेषता यह है कि उन्होंने सहायता लेने पर भी उसे ऐसा अपना बना लिया है कि सरलता से उसे आप खोज नहीं सकते । यही उनकी मौलिकता है । उन्होंने राम को नारायणत्व से अभिभूषित करके उपस्थित किया है, वाल्मीकि की भाँति नरत्व से नहीं । वे भू-भार उतारने के लिए पृथ्वी पर आए हुए हैं, यह दिखाना ही कवि का लक्ष्य है; लेकिन कवि की विशेषता यह है कि पाठक को वे मनुष्य के रूप में सर्वत्र दिखाई देते हैं । कहीं भी उनका वह ब्रह्म का रूप पृथक्त्व की सृष्टि करके इस पार्थिव संसार से दूर की चीज़ नहीं दिखाई देता । तुलसीदास की यही मौलिकता है, जो उन्हें सदैव हमारे निकट रखती है, चाहे किसी भी परिस्थिति में हो । और आश्चर्य की यह बात है कि नर-चरित पढ़ते हुए भी हमें सदैव उनके प्रभु पर श्रद्धा और भक्ति बनी रहती है । तुलसीदास जी की इस कला की प्रशंसा के लिए वाणी मूक हो जाती है । रामायण निस्संदेह भारतीयता का प्रतीक है और जब तक यह है हिन्दुत्व का ह्रास भले ही हो जाय, नाश नहीं हो सकता । यह क्या कम सौभाग्य की बात है ।

बार-बार 'हिन्दुत्व' शब्द पढ़कर पाठक यह न समझें कि हम तुलसीदास जी को संकीर्ण-हृदय का व्यक्ति समझते हैं । वास्तव में तुलसीदास जी ने जो कुछ किया उसमें हिन्दू-राष्ट्रीयता की स्थापना का उद्देश्य निहित था, इसलिए हम यह शब्द अधिक प्रयोग कर रहे हैं । कुछ लोग तुलसीदास जी को संप्रदायवादी, हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य का

१—नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्—
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोपि ।
स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथ-गाथा ,
भाषा-निबन्धमतिमंजुलमातनोति ॥

प्रचारक और दकियानूस समझते हैं। उनकी दृष्टि बड़ी कमज़ोर है, वे किसी कवि को उसकी परस्थितियों में रखकर नहीं देख सकते। इसीलिए वे ऐसा कहते हैं। इसमें दोष उनकी शिक्षा का है, उनका नहीं। व्यक्ति समय के साथ आता और चला जाता है। उसे उस समय के अतिरिक्त आगे या पीछे की परिस्थितियों के बीच में रखकर देखना उस व्यक्ति के प्रति अन्याय करना है। तुलसीदास जी को आज की परिस्थितियों में रखकर देखना और उन्हें चाहे जो कह बैठना असंगत है। उनके हिंदुत्व से घबराकर उन्हें आप बुरा-भला कहें, इससे उनकी महत्ता कम नहीं होती। वे अपने समय के सजग द्रष्टा थे और उस नाते उन्हें राष्ट्रीयता की कल्पना केवल हिंदू जाति के सामूहिक उत्थान में ही दीख पड़ी। शासक जाति की ओर से प्रयत्न हो रहे थे और धार्मिक उदारता का परिचय दिया जा रहा था, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। परंतु काव्य-जगत् अथवा साहित्य की सृष्टि इतिहास से बहुत भिन्न है। तुलसीदास जी इतिहास-लेखक नहीं थे, जो शुष्क घटनाओं या ऊपरी बातों से प्रभावित होकर रोजनामचा तैयार करते। वे युग-द्रष्टा कवि थे। जनता की भावनाओं को पढ़ने की शक्ति रखते थे। फिर जिस प्रकार के संस्कार लेकर वे जन्मे थे और जैसे वे अनुभव के लिए मारे-मारे फिरे थे, उस सबसे उनका व्यक्तित्व विशेष प्रकार का बन गया था। हिंदू संस्कृति के प्रत्येक अंग का उन्हें ऐसा ज्ञान था कि वे सरलता से विशेषज्ञ कहे जा सकते थे। उसी संस्कृति के उत्तराधिकारी होकर उन्होंने उसकी रक्षा के लिए अपनी समस्त शक्ति लगायी। इसमें द्रष्टव्य यह है कि उन्होंने शासक जाति के प्रति उथली अनुदारता का परिचय नहीं दिया। हाँ सांस्कृतिक दृष्टि से उसकी आलोचना अवश्य की।

उनकी सबसे बड़ी देन है 'रावणत्व' पर 'रामत्व' की विजय। यह अकेली देन ही उनको त्रिकालदर्शी कवि बना देती है। एक परम पुरातन इतिवृत्त को लेकर उसमें राजनीति, धर्म, समाज आदि के सिद्धांतों का समन्वय करते हुए 'रावणत्व' पर 'रामत्व' की विजय दिखाने में ही उनके काव्य-कौशल की छटा देखी जा सकती है। प्रश्न यह है कि यह 'रावणत्व' की कल्पना कहाँ से आई? यह कल्पना कहीं यों ही उनके मस्तिष्क में नहीं आगई थी। यह उनके गहन चिंतन और मनन का परिणाम थी। उन्होंने देखा कि राजाओं में आपस में फूट है, परस्पर विरोध है और साम्राज्य मुसलमानों के हाथ में है। भीतरी कलह ने देश को बरबाद कर रखा है। लोग महाभारत की रीति बरतने लगे हैं। भाई-भाई में, बंधु-मित्र में, परिवारी-कुटुंबी में, थोड़ी-थोड़ी बात पर परस्पर कलह है। बाहरी वैरी दबाए बैठा है। उस वैरी से छुटकारे का कोई साधन नहीं है। लोग निराश होकर उसको आत्म-समर्पण कर रहे हैं। गोस्वामी जी ने इसे बड़ी गहरी दृष्टि से देखा था, और वे चाहते थे कि इस रोग की कोई दवा की जाय। हमारा विश्वास है कि यदि उस काल में हिंदू-जनता में ज़रा भी बल होता तो तुलसीदासजी ने क्रियात्मक रूप से भाग लिया होता और वे राज-नीतिक नेता हो गए होते और उन्होंने अपना सारा समय इस बात के लिए लगाया होता कि हिंदू उठें और अपने को सँभालकर देश और जाति की रक्षा करें। लेकिन निराश हिंदू जति के लिए वे इससे अधिक कुछ नहीं कर सकते थे कि अपनी लेखनी की शक्ति का उपयोग करके ही जाग्रति का मंत्र दे जायँ। यह अच्छा ही हुआ, क्योंकि यदि वे साहित्यकार न बने होते तो उनके तत्कालीन नेतृत्व से ही हम लाभान्वित होते; जब कि आज हमें इतने वर्ष बाद भी उनके विचारों

से लाभ उठाने का अवसर मिल रहा है। तो हम यह कह रहे थे कि तुलसीदास जी ने अपने समय में मुसलमानों की बढ़ती हुई शक्ति को देखा था, उस से वे बड़े परेशान थे। परेशान इसलिए थे कि उनका व्यक्तित्व हिन्दुत्व के लिए अपने को मिटा चुका था। वे जो कुछ सोचते थे, विशाल हिन्दू-राष्ट्र की दृष्टि से ही सोचते थे। इसलिए उन्होंने अपने साहित्य के मंथन द्वारा रामचरित-चिंतामणि का पुनरुद्धार किया और रामत्व का मंत्र दिया। यह रामत्व है क्या? भगवान् ने गीता में कहा है कि जब-जब धर्म की हानि होती है तब-तब धर्म के अभ्युत्थान के लिए, साधुओं के परित्राण के लिए और दुष्टात्माओं के विनाश के लिए मैं अवतार लिया करता हूँ।[1] तुलसीदास जी ने इस प्रतिज्ञा की याद दिलाने के लिए ही मानो रामचरित का गान किया। उस रामचरित के गान में स्थान-स्थान पर उनके राजनीतिक विचार बिखरे पड़े हैं। रावण ऐसा दंभी और पाखंडी राजा था, कि उसने ऋषियों तक को कर से मुक्त नहीं किया था। वह देव, गंधर्व, किन्नर सब को परेशान किया करता था और प्रभुता के मद में सदा चूर रहा करता था और सोचता था—

छुधाछीन बलहीन सुर, सहजहिं मिलिहहिं आइ।
तब मारिहौं कि छाँड़िहौं, भली भाँति अपनाइ॥

ऐसे रावण का प्रकट रूप में मुकाबिला करना असंभव था और

१—यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां, विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

उस दशा में जब कि ब्राह्मण और क्षत्रिय परस्पर विरोध में रत हों। यह देखकर रावण सारे भारत में अपना आतंक जमाए था और मानव मात्र का जीवन खतरे में था। राम की ही ऐसी शक्ति थी कि उसे ज्यों त्यों करके समाप्त किया जाता और उन्होंने साम, दाम, दंड, भेद से उसका संहार करके ही छोड़ा। तुलसीदास के समय के शासकों के अत्याचारों और उनकी राजनीति तथा धार्मिक कट्टरता को आप रावण की उस क्रूरता से मिलायें तो आपको उसमें शायद ही कहीं असमानता मिले। वे मानों तत्कालीन राजनीतिक स्थिति के ही सजीव चित्र हैं, जिनमें दलित और पीड़ित मानव के लिए एक संदेश निहित है। रावण के अन्यायों का वर्णन कर तुलसीदास जी ने अपने समय के शासकों के राजनीतिक अत्याचारों की ओर ही संकेत किया है। इसीलिए उन्होंने राम जैसे आदर्श राजा और 'राम राज्य' जैसे आदर्श राज्य की कल्पना की। तुलसी के राजनीतिक विचारों के ज्ञान के लिए राम का जीवन और राम-राज्य का वर्णन दोनों ही उपयुक्त साधन हैं। अन्य स्थानों पर भी उन्होंने राज धर्म का वर्णन किया है और स्वराज्य, सुराज, राजा का आचरण, प्रजा का व्यवहार, मंत्री का कर्तव्य, इनका धर्म, आपद्धर्म, दंड की विधि, राजा-राजा, मित्र-मित्र, शत्रु-शत्रु और शत्रु-मित्र का पारस्परिक व्यवहार, सेवक और स्वामी का संबंध आदि बातों पर विस्तार से विचार किया है। उपयुक्त विवेचन का उद्देश्य पाठकों को यह बतलाना है कि तुलसीदास जी ने, 'रामत्व' और 'रावणत्व' की जो कल्पना की है, उसके मूल में भारत की तत्कालीन राजनीतिक दुरवस्था थी जिस से दुःखी होकर उन्होंने प्रच्छन्न रूप से संकेत कर दिया है। एक युग प्रवर्त्तक कवि के लिए ऐसा करना अत्यंत आवश्यक

भी था। तुलसीदास जी ने यद्यपि उस समय की भारतीय राजनीतिक परिस्थिति के चित्रण की ओर ध्यान दिया है और यह बताया है कि उसकी बुराइयों के प्रतिकार के लिए क्या किया जा सकता है, तथा वास्तविक राज-धर्म क्या है, तथापि उनकी वह राज-धर्म की कल्पना एक-देशीय नहीं है, बल्कि सार्वभौमिक है और उसकी व्यापकता त्रैकालिक है। जब तक अत्याचारी शासक पृथ्वी पर हैं और जब तक उनका दमन मानव-कल्याण के लिए आवश्यक है तब तक तुलसीदास जी के राजनीतिक आदर्शों को सार्वभौमिकता से वंचित नहीं किया जा सकता।

राजनीति तो उन्होंने संकेत से चित्रित की है और उसमें कथा द्वारा अपने विचारों का प्रदर्शन किया है। वैसे उनका मूल ध्येय तो समाजनीति की स्थापना का था। वे किसी पंथ, संप्रदाय या मत-विशेष को न मान कर प्राचीन सनातन परिपाटी के हामी थे। उनकी दृष्टि बड़ी दूर तक जाती थी। वैदिक काल में आर्य-सभ्यता का जो सूर्य समस्त जगत में प्रकाश करता था, उसका कारण यह था कि समस्त आर्यजाति वर्णाश्रम-धर्म की भावना से ओतप्रोत थी और उस धर्म का पालन करना ही प्रत्येक व्यक्ति का पावन कर्तव्य था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चार वर्णों में समाज का विभाजन हुआ था। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास इन चार आश्रमों का पालन इस प्रकार किया जाता था कि जीवन के विकास की पूरी-पूरी सुविधा रहती थी और सामाजिक संतुलन भी बराबर रहता था। धर्म, ज्ञान-विज्ञान और स्वार्थ-परमार्थ की सिद्धि के लिए जीवन का यह मार्ग अत्यन्त उपयोगी था। इस प्रयोग ने एक बार भारत-वर्ष की गुण-गरिमा से समस्त विश्व को चौंका दिया था। तुलसी-

दास जी ने वेद-शास्त्रों के अध्ययन से इसका अनुभव किया था और वे उस प्राचीन सभ्यता के काल्पनिक स्वर्ग के निवासी हो गए थे। लेकिन जब उन्होंने अपने सामने ही आर्य जाति के वंशजों की दुर्दशा देखी तो वे तत्काल समझ गए कि इस दुर्दशा से मुक्ति पाने का एक-मात्र साधन उस वर्णाश्रम-धर्म की पुनः प्रतिष्ठा है, जिसने आदि काल से अब तक इस जाति की रक्षा की है। इसीलिए उन्होंने लोक-धर्म के नाम पर वर्णाश्रम-धर्म की प्रतिष्ठा पर ज़ोर दिया। प्रश्न हो सकता है कि छूआछूत और धनी-निर्धन की समस्या ही हिंदुओं के पतन का मूल कारण थी। तब तुलसीदास जी ने कबीर की भाँति अथवा साम्यवाद के सिद्धांत से मिलते जुलते मार्ग को लेकर इस समस्या को क्यों नहीं सुलझाया? इसका उत्तर तुलसीदास जी के दृष्टि-कोण से ही यह दिया जा सकता है कि उनकी दृष्टि तात्कालिक हल ढूँढने में न थी और न वे यही चाहते थे कि समयानुसार साधनों का उपयोग कर मामला सुलझा लिया जाय। वे तो बहुत गहरी नींव रखना चाहते थे और आर्य-संस्कृति के गगनचुंबी प्रसाद की जो दयनीय अवस्था थी उसे वे मरम्मत द्वारा ठीक नहीं करना चाहते थे, न कोई नया रूप ही देना चाहते थे, वे तो उसे उसी रूप में पुनः साज-सज्जा से उपस्थित करना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने भारतीय संस्कृति के प्रतीक राम को लिया, जब कि उनके पूर्ववर्ती कवियों ने या तो साधारण राजाओं की गुणावली गाई, या निर्गुण ब्रह्म की पहेलियाँ बुझाई, या प्रेम-कथायें कहीं। कुछ कवियों ने, जैसे सूर आदि ने, भगवान का राम से मिलता-जुलता रूप लिया भी था परन्तु वह केवल एकांगीपन को लिये हुए था, संस्कृति का प्रतीक वह नहीं था। तुलसीदास जी ने

ही सर्व-प्रथम राम के रूप में ऐसी कल्पना की कि भारतीय संस्कृति के लिए जीवन में नए प्रकाश की किरणें चमकीं। फिर वे नए मार्गों और पंथों के घोर विरोधी थे। वे तो कहा करते थे कि अपने मतों की कल्पना करके पंथों का प्रकाशन करना दंभियों का काम है। ऐसी स्थिति में जब कि वर्णाश्रम-धर्म नहीं है और सब नारी-नर वेद-विरुद्ध हैं, ऐसे पंथों प्रकाशन हेय है[1]। इसीलिए स्वयं त्यागी और विशेष प्रकार के सिद्धांतों के मानने वाले महात्मा होते हुए भी उन्होंने कोई पंथ नहीं चलाया। हाँ, उनका ध्यान इस ओर अवश्य था कि जितने भी पात्र उनके द्वारा चित्रित किए जाँय वे सब सात्विक भावना से भरे हों, उन में दुर्भावना या तामस वृत्ति न हो। रावण को छोड़कर उन के किसी पात्र को लीजिए, वह सद्-भावना से विमुख नहीं मिलेगा।

रावण की भी विद्या-बुद्धि की उन्होंने जी खोलकर प्रशंसा की है और उसकी महत्ता को स्वीकार किया है। हाँ, निंदा उसके विद्या-बुद्धि के दुरुपयोग की ही की है, जिसने उसे राक्षस बना दिया। सबसे पहले राम को ही लीजिए। वे आदर्श राजा थे। उनके पिता दशरथ भी पुत्र-प्रेम और राजधर्म के ज्वलंत उदाहरण थे। परंतु राम ने अपने पिता की स्त्रैणता देखी थी और देखा था उसका दुष्परिणाम! अतएव उन्होंने एक-पत्नी-व्रत का पालन किया। हमारी सम्मति में तुलसीदास जी ने राम के एक-पत्नी-व्रत-पालन का जो आदर्श

१—दंभिन निज मत कलपि कर प्रकट कीन्ह बहु पंथ।

बरन धरम नहिं आश्रम चारी, स्रुति विरोधरत सब नर नारी।

द्विज स्रुति वंचक भूप प्रजासन, कोउ नहिं मान निगम अनुशासन।

रखा है, वह उनकी सबसे बड़ी देन है। राम ही नहीं, उनके सभी भाइयों के एक ही एक स्त्री थी। स्त्री ही नहीं, संतानें भी दो से अधिक किसी के नहीं थीं। यह एक ऐसा उदाहरण है, जिसकी समानता के लिए हमारे पास कोई अन्य उदाहरण नहीं है। उनकी सीता भी ऐसी तपस्विनी स्त्री हैं, जो पति के इंगित पर जीती हैं। उनके लिए सर्वस्व वही हैं और वे राजमहिषी होते हुए भी अपने हाथ से घर का काम काज करती हैं—"निजकर गृह परिचर्या करहीं।" राजा-रानी ही नहीं प्रजा भी अपने कर्तव्य-पालन में उसी प्रकार रत है। चाहे आधुनिक साम्य-वादी समाज़ वहाँ न हो लेकिन वानर, राक्षस, दानव, कोल, भील, किरात, गीध सब रामचंद्र जी के लिए समान थे और सबको उन्होंने सम्मान भी दिया था। नारी जाति के प्रति भी तुलसीदास जी का आदर-भाव था। पार्वती, अनुसूया, कौशल्या, सीता, ग्राम-वधू आदि का उनका चित्रण इस बात का प्रमाण है। कुछ लोग तुलसी-दास जी को स्त्री-निंदक कहते हैं और उनके उन स्थलों को उद्धृत करते हैं; जहाँ उन्होंने नारी जाति की निंदा की है[1]। लेकिन यह भूल है। जिस लेखनी ने उक्त चरित्र अंकित किए हैं और उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है, वही लेखनी स्त्री-निंदा का जघन्य कार्य कैसे कर सकती है। बात यह है कि ऐसे कथन विशेष स्थिति में पड़े पात्रों

१—ढोल गँवार शूद्र पशु नारी। ये सब ताड़न के अधिकारी।
(सागर की उक्ति राम के प्रति, अपनी क्षुद्रता बतलाने के लिए)
नारि स्वभाव सत्य कवि कहहीं। अवगुण आठ सदा उर रहहीं॥
साहस अनृत चपलता माया। भय अविवेक अशौच अदाया॥
(रावण की उक्ति मंदोदरी के प्रति, अपनी महत्ता बतलाने के लिए)

द्वारा ही कहलाए गए हैं, इसलिए वे तुलसी के न होकर विशेष स्थिति में पड़े पात्रों के ही समझने चाहिएँ। तुलसीदास जी का समाज वर्ग-हीन भले ही न हो परंतु वह था आदर्श और उस में सुख-समृद्धि की कमी न थी। उत्तर कांड में तुलसीदास जी ने रामराज्य का जो चित्र खींचा है वह इसी आदर्श का मूर्तिमान रूप है, जिसमें वर्णाश्रम-धर्म के तत्त्व निहित हैं—

बयरु न करु काहू सन कोई। राम प्रताप विषमता खोई॥

\+ + + +

बरनाश्रम निज निज धरम, निरत वेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहिं नहिं भय शोक न रोग॥

\+ + + +

दैहिक दैविक भौतिक तापा। रामराज नहिं काहुहि ब्यापा॥
सब नर करहिं परसपर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत-श्रुति-नीती॥
सब उदार सब पर उपकारी। विप्र चरन सेवक नरनारी॥
एक-नारि-व्रत रत सब झारी। ते मन, वच, क्रम पति हितकारी॥

रामराज्य के साथ ही उन्होंने 'कलियुग' के वर्णन में तत्कालीन समाज की अव्यवस्था का जो चित्रण किया है उससे पता चलता है कि उस परिस्थिति की ही यह प्रतिक्रिया थी जो उन्होंने ऐसे आदर्श-समाज की कल्पना की।

राष्ट्र और समाज के साथ उनके पारिवारिक और व्यक्तिगत जीवन की आदर्श भावना भी अत्यंत भव्य है। रामचरित-मानस पारिवारिक और व्यक्तिगत आदर्शों का खज़ाना है। यदि भ्रातृप्रेम का उदाहरण देखना हो तो लक्ष्मण को लीजिए। नवविवाहिता पत्नी को छोड़ कर भाई-भाभी को पिता-माता के रूप में अपनी सेवा का

आदर्श बनाना खेल नहीं है। १४ वर्ष तक जो व्रत इस त्यागी ब्रह्मचारी ने लिया उसे निभाना किसी दूसरे का काम नहीं। उनका क्रोध भी राम के अर्थ है। वैसे वे धीर भी हैं और गंभीर भी। यह तो हुआ भ्रातृ-प्रेम। भ्रातृ-भक्ति का साकार रूप यदि देखना हो तो भरत की ओर देखिए। राज्य मिला, ठुकरा दिया। और मज़े की बात देखिए, राम के लौटने तक शासन-कार्य सँभाला स्वयं और राजा माना भाई की पादुकाओं को। वे पादुकाएँ राम के रूप में सिंहासन पर रहीं और भरत ने मानो उनके साथ यह आदर भाव प्रकट करके अपना ही महत्त्व बढ़ाया। राम ने उन्हें प्रमाण-पत्र दिया—"जो न जनम जग होत भरत को। अचर सचर चर अचर करत को।" शत्रुघ्न भी कम नहीं हैं। लक्ष्मण के छोटे भाई हैं। उग्रता उनमें जन्मजात है, पर उच्छृंखलता नहीं। मंथरा को चोटी से पकड़ कर खींचने में उनका दोष भी क्या है! ऐसे श्रेष्ठ परिवार को अशान्त बनाने वाली के साथ जो न किया जाय, वही थोड़ा है। छोटे भाई ही नहीं, बड़े भाई के रूप में आदर्श राम को लीजिए। समुद्र से गंभीर, हिमालय से धीर और आकाश से उदार हैं। शक्ति, शील और सौंदर्य के संगम हैं। वज्र से भी कठोर और कुसुम से भी कोमल हैं। अत्याचारियों के दमन में उनके रौद्र रूप के और शरणागतों पर कृपा प्रदर्शन में उनके कोमल रूप के दर्शन होते हैं। लक्ष्मण का क्रोध, भरत का त्याग, शत्रुघ्न की उग्रता अपने बड़े भाई की गंभीरता के समक्ष अनायास शान्त हो जाती हैं। ये भाई पुत्र-कर्तव्य के पालन में भी आदर्श हैं। पिता ने एक माता के कहने से—जिसे दासी ने बहका दिया था—बड़े भाई को वनवास दिया। बड़ा भाई तो आज्ञा मान कर वन जाता ही है, छोटा भी साथ चल देता है।

हम तो समझते हैं कि यदि भरत और शत्रुघ्न भी उस समय वहाँ होते तो वे भी राम के साथ चल देते और दशरथ के लिए एक समस्या खड़ी हो जाती। परन्तु वे वहाँ थे नहीं, इसलिए यह समस्या खड़ी नहीं हुई। लेकिन दशरथ भी सत्यपालन और पुत्र-प्रेम में कम नहीं हैं। वरदान तो आखिर देने ही थे; सत्य की रक्षार्थ दे दिए। पुत्र-प्रेम भी पालना था। पुत्र के वनवासी होने पर प्राण दे दिए। इस प्रकार दोनों बातें हो गई—राजधर्म की भी रक्षा हो गई और पुत्र-प्रेम की भावना की भी।

पिता पुत्र ही नहीं, परिवार के अन्य सदस्यों में माताओं का व्यवहार और भी त्याग-पूर्ण है। कौशल्या का पुत्र राम वन जाता है और आज्ञा के लिए आता है तो वह कैकेयी की ही आज्ञा को ऊपर स्थान देती है। अपने को राम की माता ही नहीं मानती। और आश्चर्य यह कि कैकेयी के प्रति एक भी कटु शब्द नहीं कहती। यही हाल सुमित्रा का है। जवान बहू का ध्यान न कर बेटे को भाई-भाभी की सेवा के लिए उपदेश देकर वन भेज देती है। न अपनी चिन्ता है न अपनी सन्तति की। ऐसा बलिदान-भाव आप अन्यत्र नहीं देख सकेंगे। लक्ष्मण के समान यशस्वी, त्यागी, वीर और आज्ञाकारी पुत्र पैदा करने पर भी उसे अभिमान या ईर्ष्या छू तक नहीं गई है। स्त्री-पात्रों में सुमित्रा का चरित्र बहुत उज्ज्वल है। कैकेयी का चरित्र कुछ ऊँचा नहीं है, परन्तु कवि को इस चरित्र द्वारा ही अपने कौशल दिखाने की सुविधा थी। इसलिए उसकी अवतारणा भी हेय नहीं है। फिर कैकेयी ने जो कुछ किया है, पुत्र-प्रेम के वशीभूत होकर किया है; उसमें उसका अपना स्वार्थ क्या है? स्वयं उसके पुत्र ने ही उसका तिरस्कार किया है। उसका चरित्र घृणा

का नहीं दया का पात्र है। यदि नारी के चरित्र का विकास देखना हो तो सीता का चरित्र देखिए। सीता जैसी आदर्श-स्त्री विश्व-साहित्य में चित्रित नहीं हुई। उसका व्यक्तित्व अत्यंत उज्ज्वल और भव्य है और वह नारी जगत् की आदर्श प्रतिमा है। हनुमान जी आदर्श सेवक हैं, जो अपने स्वामी के लिए संभव असंभव सब कार्य निरालस भाव से करते हैं। मित्रता के लिए निषाद, विभीषण और सुग्रीव के चरित्र लीजिए। प्रभु के सख्य-भाव का यहाँ पूर्ण विकास है। इस प्रकार परिवार और व्यक्तित्व की दृष्टि से तुलसीदासजी ने जिन पात्रों की कल्पना की है वे सब ऐसे हैं जो आदर्श पिता, आदर्श पुत्र, आदर्श माता, आदर्श भाई, आदर्श सेवक और आदर्श मित्र का श्रेष्ठतम स्थान प्राप्त करते हैं। व्यक्ति से परिवार बनता है, परिवार से समाज और समाज से राष्ट्र। इस तथ्य को तुलसीदासजी बहुत अच्छी तरह समझते थे। यही कारण है कि उन्होंने ऐसे सुन्दर व्यक्तियों से निर्मित परिवार की कल्पना की और ऐसे श्रेष्ठ समाज तथा ऐसे उत्कृष्ट राष्ट्र का चित्र प्रस्तुत किया।

तुलसीदासजी आदर्श भक्त और त्यागी महात्मा थे। इसलिए उन्होंने जो कुछ लिखा वह लोकहिताय होगया। वे अपने प्रभु को सर्वत्र व्याप्त देखते थे। 'जड़ चेतन जग जीव जत, सकल राम-मय जानि। बंदहुँ सब के पद कमल, सदा जोरि जुग पानि॥' कह कर उन्होंने इसी तथ्य की ओर संकेत किया है कि उनके लिए सृष्टि का प्रत्येक पदार्थ राम-मय है। उनके इस विश्वास का परिणाम यह हुआ कि उन्होंने धर्म की जो कल्पना की वह बड़ी विशाल थी। यदि उनकी कल्पना इतनी विशाल न होती तो वे अपने समय के शैवों, शाक्तों और पुष्टि मार्गियों

के पारस्परिक झगड़ों को न मिटा पाते। इन तत्कालीन संप्रदायों के एकीकरण का सुफल यह हुआ कि वैष्णव धर्म का ऐसा स्वरूप लोगों के सम्मुख आ गया जो एक ओर तो भारतीय संस्कृति पर आश्रित होने के कारण हिन्दू-राष्ट्रीयता को स्थापित कर सका और दूसरी ओर मानव-धर्म के सिद्धान्तों से युक्त होने के कारण आघात पर आघात सहने पर भी नष्ट न हो सका। एक लाभ उनके धर्म-समन्वय का यह भी हुआ कि उससे हिन्दू धर्म दूसरों की प्रतिद्वंद्विता में खड़ा होने योग्य होगया। इसके कारण रामभक्ति का प्रचार भी हुआ और उनका 'रामचरितमानस' धार्मिक ग्रन्थ भी हो गया। उनके इसी समन्वय को लोक-धर्म का नाम दिया गया है जिसमें अज्ञात स्वर्ग के सुखों की आशा न होकर व्यावहारिक जीवन में ही स्वर्ग की अवतारणा की गई है और श्रुति-सम्मत हरि-भक्ति पथ पर चलने के लिए शील के साथ सदाचार की आवश्यकता पर ज़ोर दिया गया है। समीक्षकों ने उनके विचारों और दार्शनिक निरूपण को देखकर उन्हें अद्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी, स्मार्त वैष्णव आदि अनेक संप्रदायों का अनुयायी बनाया है। ऐसा इसलिए हुआ है कि तुलसीदासजी के कथन का ढँग ऐसा अनूठा है कि जो चाहे वह अपने अनुकूल अर्थ कर सकता है। वस्तुतः बात यह है कि गोस्वामीजी रामानुजाचार्य जी की परंपरा में श्रीरामानन्द के सिद्धान्तों के मानने वाले थे। ये वे ही रामानन्द हैं, जिन्होंने कबीर को (रामनाम) का मंत्र दिया था और जिसके आधार पर कबीर ने 'निर्गुण सगुण से परे' अपने राम की कल्पना की थी। तुलसी का राम भी 'विधि-हरि-शंभु-नचावनहारा' और दशरथ-सुत होकर भी परब्रह्म है। हम तो समझते हैं कि कबीर के व्यापक निर्गुण संप्रदाय के विरोध में ही तुलसी ने उनसे मिलते जुलते ईश्वर की

कल्पना की है। उन्होंने कबीर के संप्रदाय को नाम-शेष करने के लिए उनके आध्यात्मिक ईश्वर को, जो केवल साधकों के काम का था और जो भक्ति का विषय नहीं बन सकता था, लौकिकता का विषय बनाकर जन-जन के लिए भक्ति-सुलभ बना दिया। उसके निर्गुण और सगुण दोनों रूप इसलिए रखे कि अपनी बात भी वे कह सकें और बिना कुछ कहे निर्गुणिए संतों को भी पराजित कर सकें। यही क्यों उन्होंने तो सरस्वती, गणेश, शिव, पार्वती, गुरु, वाल्मीकि, मारुति, सूर्य, गंगा आदि सब की वंदना की है। 'विनय-पत्रिका' की विष्णु, शिव, दुर्गा, सूर्य और गणेश की वंदना से लोग उनको स्मार्त वैष्णव कहते हैं, परन्तु यह भूल है। वे सब देवताओं की वंदना केवल इसलिए करते हैं कि उनसे राम-भक्ति का वरदान ले सकें। ये देवता भगवान के रूप नहीं, विभूति हैं। इसलिए वे न स्मार्त वैष्णव हैं, न अद्वैतवादी और न विशिष्टाद्वैतवादी। वे तो सीधे-सादे राम के भक्त हैं। इन वादों की झलक लोगों को इसलिए मिल जाती है कि तुलसीदासजी अपने भगवान का निरूपण करते समय इनके सिद्धान्तों की भी सहायता लेते हैं, जिन्हें देख कर लोग उन्हें भिन्न-भिन्न वादों के अंतर्गत घसीटते हैं। वस्तुतः तुलसीदास जी राम के अनन्य सेवक हैं और उनका सिद्धान्त है कि 'सेवक सेव्यमान बिनु भव न तरिय उरगारि।' यही 'सेवक-सेव्य' भाव उनकी विशेषता है। तभी वे कहते हैं—

सो अनन्य जाके असि, मति न टरे हनुमंता।
मैं सेवकु सचराचर, रूप रासि भगवंता॥

यही कारण है कि उन्हें ज्ञान का पथ कृपाण की धार दिखाई देता है, क्योंकि ज्ञान-भ्रष्ट होने में देर नहीं लगती।[१] वैसे वे ज्ञान

१—ज्ञान कै पंथ कृपान की धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा।

और भक्ति में भी कोई भेद नहीं रखते,[१] क्योंकि दोनों से ही भव-जात दुःख दूर होते हैं। लेकिन भक्ति को आवश्यक समझते हैं क्योंकि वही सरल मार्ग है, और उससे मुक्ति स्वतः चली आती है।[२]

तात्पर्य यह है कि तुलसीदास सीधे-सादे भक्त-हृदय हैं। किसी वाद की कोटि में नहीं आते। यदि उन्हें वाद में रखना ही अभीष्ट हो तो वे समन्वयवादी कहे जा सकते हैं। क्योंकि गीता से लेकर गाँधीवाद तक सभी धर्म-प्रवर्तकों के सिद्धांत उनकी वाणी के विषय हैं। डा० बलदेव प्रसाद मिश्र के शब्दों में गीता का अनासक्ति योग, बौद्धों और जैनों का अहिंसावाद, वैष्णवों और शैवों का अनुराग-वैराग्य, शाक्तों का जप, शंकर का अद्वैतवाद, रामानुज की भक्ति-भावना, निंबार्क का द्वैताद्वैतभाव, मध्व की रामोपासना, वल्लभाचार्य की बालकृष्णोपासना, चैतन्य का प्रेम, गोरख आदि योगियों का संयम, कबीर आदि संतों का नाम माहात्म्य, रामकृष्ण परमहंस का समन्वयवाद, ब्रह्म समाज की ब्रह्मकृपा, आर्य-समाज का आर्य-संगठन और गांधीवाद की सत्य-अहिंसा मूलक आस्तिकता-पूर्ण लोक-सेवा आदि सभी कुछ तो उसमें है ही; साथ ही मुसलमानों का मानव-बंधुत्व और ईसाइयों का श्रद्धा तथा करुणा से पूर्ण सदाचार भी क्रीड़ा कर रहे हैं।

अब तक हमने तुलसीदासजी के राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक विचारों का ही परिचय पाया है। लेकिन इतना पर्याप्त नहीं हैं। ये महात्मा कुशल राजनीतिज्ञ, योग्य समाज-शास्त्री और तत्त्वदर्शी

१—भगतिहिं ज्ञानहिं नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव-संभव खेदा॥

२—राम भजत सोइ मुक्ति गुसाईं। अन इच्छित आवइ बरिआईं॥

दार्शनिक होने के साथ-साथ कवि-शिरोमणि और सरस्वती के वरद पुत्र भी हैं। और सच तो यह है कि काव्य की मीठी कुनैन में ही उन्होंने ऊपर के विभिन्न विषयों का समावेश कर दिया है, जिससे ग्रहण में सुविधा हो। उनके कथन की भी यह विशेषता है कि वे भक्त और कवि एक साथ हो गये हैं। इसका कारण है—उनकी द्रवण-शील वृत्ति। यह वृत्ति साधारण प्राणी और कवि में अंतर उपस्थित करती है। साधारण व्यक्ति के लिए बड़ी-से-बड़ी घटना कुछ मूल्य नहीं रखती, जब कि कवि के लिए छोटी-से-छोटी बात भी महत्त्वपूर्ण होती है। आदि-कवि वाल्मीकि ने जिस क्रौंच पक्षी के वध से कातर होकर करुण चीत्कार किया था[1] उसे सैकड़ों व्यक्तियों ने देखा होगा पर वह द्रवणशीलता किसी में न थी, जो कवि बना जाती और जिससे वे ऋषि की भाँति अभिशाप दे सकते। ऋषि की वही भावुकता उन्हें आदि-कवि बना गई। यही अंतर होता है साधारण व्यक्ति में और कवि में। तुलसीदासजी सच्चे अर्थों में कवि थे। उनकी सब से बड़ी विशेषता तो यही है कि अपनी वाणी के स्फुरण के लिए उन्होंने ऐसा असाधारण चरित्र चुना, जिसे उनके सिवाय—कम से कम उस समय—कोई छूने का साहस भी नहीं कर सकता था। यद्यपि वह कथानक प्राचीन था तथापि उस प्राचीनता में ऐसी नवीनता उत्पन्न कर देना कि नवीनता ही श्रेय की वस्तु बन जाय और प्राचीनता की ओर से लोग उदासीन से होकर कहने लगें कि भाई इस नवीनता में प्राचीन और नवीन सब कुछ आ गया है, अब हमें

१—मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समा।
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

कुछ और नहीं चाहिए; तुलसीदासजी का ही काम था। वाल्मीकि-रामायण, अध्यात्म-रामायण, हनुमन्नाटक, प्रसन्न-राघव और श्रीमद्भागवत तथा अन्य अनेक ग्रंथों से उन्होंने अपने काव्य की सामग्री जुटाई और उसे ऐसा रूप दिया कि कोई पहचान न सके कि इसमें कितनी नवीनता है और कितनी प्राचीनता। उन्होंने एक प्राचीन कथा को लेकर उसे ऐसा रूप दिया कि वह उनकी कल्पना और कला से और भी भव्य हो गया।

कथा के अतिरिक्त कवि की दूसरी विशेषता है उस कथा के अंतर्गत ऐसे मार्मिक स्थलों का चुनाव कर लेना, जिनसे कि कवि को अपनी भावुकता के प्रदर्शन के लिए पर्याप्त अवसर मिले। तुलसीदास जी ने ऐसे अवसर ढूँढ निकलने में बड़ी बुद्धिमत्ता से काम लिया है। उन्होंने इस के लिए स्थान-स्थान पर कथा में हेर-फेर भी किया है परंतु उस हेर-फेर से कथा की सौंदर्य-वृद्धि ही हुई है, हानि नहीं। राम का अयोध्या-त्याग और वन-गमन, चित्रकूट में भरत और राम का मिलन, वन में सीता-हरण के बाद राम का विलाप, लक्ष्मण के शक्ति लगने पर राम का साधारण मनुष्य की भाँति रोना और पश्चात्ताप करना, भरत का सिंहासन पर राम की पादुकाएँ रख कर स्वयं उदास-चित से राम के आगमन की प्रतीक्षा करना आदि स्थल ऐसे हैं, जहाँ तुलसीदासजी को अपनी भावुकता दिखाने का पूरा अवसर मिला है।

वन-गमन के प्रसंग में ग्राम-वधुओं का चित्रण भावुकता की दृष्टि से उत्कृष्ट कोटि का है। 'मानस', 'कवितावली' और 'गीतावली' सभी में उन्होंने इस दृश्य का सहृदयता से वर्णन किया है। इस दृश्य में ग्राम-वधुओं की सरलता और भोलेपन का जो चित्रण

गोस्वामी जी ने किया है, वह अन्यत्र नहीं मिल सकता। स्त्रियाँ उन सुंदर राजकुमारों के साथ एक अतीव सुंदरी को वन में देखकर विधि की विडंबना पर सोचती हैं और परस्पर कहती हैं कि वह रानी बड़ी अज्ञान है और उसका हृदय पत्थर से भी कठोर है। राजा भी नासमझ है, जिसने स्त्री की बात पर ध्यान दिया। ऐसी सुंदर मूर्तियों से बिछुड़ कर प्रिय जन (माता-पिता, परिवारी जन और नगर-निवासी) कैसे जीते होंगे! हे सखी ये आँखों में रखने योग्य हैं, इन्हें वनवास कैसे दे दिया[1]? इस भोलेपन के ऊपर—इस सरलता के ऊपर—सारा ज्ञान—सारा विज्ञान—निछावर है। तुलसीदास की भावुकता यहाँ पंख लगाकर उड़ी है।

चित्रकूट में जो सभा आयोजित की गई है उसमें पारिवारिक और सामाजिक मर्यादा का आदर्श उन्होंने उपस्थित किया है। भरत ने उस सभा में जो अश्रु-सरिता प्रवाहित की है, उसमें समस्त जड़-चेतन डूब गए हैं। वह वातावरण बड़ा गंभीर है। कैकेयी के परिताप की तो सीमा ही नहीं है। उसकी ग्लानि का जो चित्रण तुलसीदास जी ने किया है, वह अत्यंत मार्मिक है। सीता जी के साथ दोनों सरल भाइयों को देखकर 'कुटिल' कैकेयी जी भर कर पछता रही है और सोचती है कि पृथ्वी फट जाय तो वह उसमें समा जाय लेकिन जब वह पृथ्वी और यम से इसकी याचना करती है तब न तो पृथ्वी

१—रानी मैं जानी अजानी महा पवि पाहन हू ते कठोर हियौ है।
राजहु काज अकाज न जान्यों, कह्यौ तिय को जिन कान कियौ है॥
ऐसे मनोहर मूरति ये, बिछुरे कस प्रीतम लोग जियौ है।
आँखिन में सखि राखिये जोग, तिन्हें किमि कै बनवास दियौ है॥

फटती है न मृत्यु ही आती है।[1] कैसी विधि-विडंबना है इस अभागिनी रानी के जीवन में! राम का तो कहना ही क्या है! वे तो ऐसे सौम्य और शीलवान हैं कि चित्रकूट की वह सभा उनके प्रभाव से स्वर्गीय हो उठी है। आचार्य शुक्ल जी ने इस सभा को 'आध्यात्मिक घटना' कहा है। यह उचित ही है, क्योंकि धर्म के इतने स्वरूपों की एक साथ योजना अन्यत्र नहीं देखी जा सकती। राजा और प्रजा, गुरु और शिष्य, भाई और भाई, माता और पुत्र, पिता और पुत्री, श्वसुर और जामाता, सास और बहू, क्षत्रिय और ब्राह्मण, ब्राह्मण और शूद्र, सभ्य और असभ्य के परस्पर व्यवहारों का, उपस्थित प्रसंग के धर्म-गांभीर्य और भावोत्कर्ष के कारण अत्यंत मनोहर रूप प्रस्फुटित हुआ है।

रामचंद्रजी सीता-हरण पर जब विरह-व्याकुल होकर 'खग-मृग' और 'मधुकर-स्रेनी' से सीताजी का पता पूछते हैं तब कौन सहृदय होगा जो उनके आँसुओं में अपने हृदय के रस को न मिलाए।[2] विरह की उस कातर पुकार के कारण मानव-हृदय अपने प्रभु को अपने निकट पाता है। राम का वही विलाप क्यों, उससे भी अधिक आप लक्ष्मण को शक्ति लगने का प्रसंग लीजिए। भाई की मृत्यु पर वे विकल हो रहे हैं, रो रहे हैं, परंतु वहाँ ध्यान है तो अपने शरणागत बंधु विभीषण का। उनकी इस दशा पर कौन हृदय की पीड़ा की धारा को रोक सकता है—

१—लखि सिय सहित सरल दोउ भाई। कुटिल रानि पछितानि अघाई॥
अवनि जमहि जाचति कैकेई। महि न बीचु, विधि मीचु न देई॥

२—हे खग हे मृग मधुकर स्रेनी। तुम देखी सीता मृग नैनी॥

मेरो सब पुरुषारथ थाको।
विपति बँटावन बंधु बाहु बिनु करहुँ भरोसो काको।
सुनु सुग्रीव साँचेहु मो सन, फेरयौ बदन विधाता।
ऐसे समय समर-संकट हौं, तज्यौ लखन सो भ्राता।
गिरि कानन जो हैं शाखामृग, हौं पुनि अनुज सँघाती।
ह्वै है कहा विभीषण की गति, रही सोच भरि छाती।
तुलसी सुनि प्रभु वचन भालु कपि, सकल विकल हिय हारे।
जामवंत, हनुमंत बोलि तब औसर जानि प्रचारे।

ऐसे अनेक उद्धहरण दिए जा सकते है, जिनमें कविकुल-गुरु तुलसी की भावुकता का सार है। शृंगार की दृष्टि से तुलसी के काव्य का अलग ही महत्त्व है। उन्होंने मर्यादा का वहाँ भी पालन किया है और ऐसा कौशल दिखाया है कि कवि की प्रतिभा पर आश्चर्य करना पड़ता है। सीता, राम और लक्ष्मण बन जा रहे हैं। मार्ग में ग्राम-वधुएँ एकत्र हो जाती है, उनके दर्शनों के लिए। वे सीता जी से राम के विषय में पूछती हैं कि उनका उनसे क्या संबंध है। सीता जी की उस समय की मनोदशा का सजीव चित्र खींचते हुए कवि लिखता है—

सुनि सनेहमय मंजुल बानी। सकुचि सीय मन महँ मुसुकानी॥
तिनहिं बिलोकि बिलोकति धरनी। दुहुँ सँकोच सकुचत बरबरनी॥
सकुचि सप्रेम बालमृगनयनी। बोली मधुर वचन पिकबयनी॥
सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नाम लखन लघु देवर मोरे॥
बहुरि बदन बिधु अंचल ढाँकी। पिय तन चितै भौंह करि बाँकी॥
खंजन मंजु तिरीछे नैननि। निजपति कहेउ तिन्हहि सिय सैननि॥

सीता के अतिरिक्त इतनी मर्यादा कहाँ मिल सकती है? ऐसे अनेक अवसरों पर तुलसीदासजी को अपने सिद्धांत की रक्षा के लिए

न जाने कितने संयम से काम लेना पड़ा होगा? उनकी ही प्रतिभा से यह संभव हो सका कि सर्वत्र वे मर्यादा की रक्षा कर सके।

वस्तुतः तुलसीदास जी बड़े कुशल मनोवैज्ञानिक थे। मानव-प्रकृति और बाह्य प्रकृति दोनों का अध्ययन उन्होंने बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से किया था। यही कारण है कि उनके सभी पात्र अपने-अपने वर्ग के प्रतिनिधि हैं। राजा-प्रजा, स्वामी-सेवक, स्त्री-पुरुष, माता-पिता, पुत्र-पुत्रवधू सभी के आदर्श उनके पात्रों में सजीव हो गए हैं।

इसके अतिरिक्त वे रस-सिद्ध कवीश्वर थे। सभी रसों, गुणों और काव्य की शक्तियों के उदाहरण उनकी रचना में मिल सकेंगे। उनसे पहले काव्य की जितनी भी शैलियाँ प्रचलित थीं, उन सबका उन्होंने उपयोग किया है। चारणों की छप्पय की शैली, कबीर आदि की दोहा की शैली, जायसी की दोहा-चौपाई की शैली, विद्यापति सूर आदि की पद-शैली, गंग आदि भाटों की कवित्त सवैया शैली, सभी का उनकी रचना में समावेश है। छंद-अलंकारों का स्वाभाविक और प्रवाहानुकूल चयन स्वतः ही हो गया है। इसका कारण है—उनका भाषा पर अधिकार। गोस्वामीजी की भाँति भाषा पर अधिकार रखनेवाले कवि बहुत कम हुए हैं। उनकी सरलता और लोकप्रियता का यह भी एक कारण है। ब्रज और अवधी में तो उन्होंने रचना की ही है, अन्य भाषाओं के शब्द भी अपने आप उसमें आगए हैं। वे शब्द हिंदी के ही होगए है। 'गीतावली', 'कवितावली' और 'विनय-पत्रिका' आदि ब्रज-भाषा की रचनाओं और 'रामचरित-मानस' 'बरवै-रामायण' 'जानकी-मंगल' आदि अवधी की रचनाओं में अरबी, फारसी के शब्द सैकड़ों ही मिल जायँगे। उनकी अवधी भाषा जायसी की अपेक्षा अधिक संस्कृत है और उसमें अवधी का साहित्यिक रूप निखर आया है।

तुलसीदास जी ने भाषा का ऐसा रूप 'रामचरित-मानस' में दे दिया कि फिर किसी कवि ने लेखनी उठाने का साहस न किया। भाषा ही क्या विषय का भी उन्होंने ऐसा सम्यक् विवेचन किया है कि फिर कोई कवि उस पर उतने अधिकार के साथ लेखनी न उठा सका और केशव आदि ने साहस किया भी तो वह बात न आ पाई, जो तुलसीदास में थी। उन्होंने काव्य-कला की भी चरम परिणति अपने काव्य में कर दी। उनसे पहले शुद्ध साहित्य-निर्माण बहुत कम हो पाया था। चरण-काल में तो काव्य की भाषा का रूप ही स्थिर नहीं हो पाया था। संत-साहित्य में केवल ईश्वर की वंदना और छायावादी ढंग पर संकेतात्मक उक्तियाँ ही अधिक रहीं, जिनमें साहित्य की ओर ध्यान कम था। कृष्ण-काव्य में अभी साहित्यांगों का स्वरूप स्पष्ट नहीं हुआ था। अतः तुलसी द्वारा ही साहित्य की समृद्धि का मार्ग प्रशस्त हुआ।

सारांश यह है कि तुलसीदास जी महान् स्रष्टा थे। साहित्य के लिए मानव-हृदय की जिस गहरी भावुकता की आवश्यकता है वह उन्हें प्राप्त थी; इसीलिये वे अंतस्तल के भावों के कुशल चित्रकार हो सके। वे भावों के पुजारी थे और वह भाव-पूजा उन्हें राम के प्रति अनन्य विश्वास से मिली थी। राम के प्रति उनका प्रेम-विश्वास चातक की भाँति दृढ़ था। ऐसे अनन्य भावुक उपासक के हृदय से फूटी वाणी में ही वह शक्ति हो सकती थी, जो मृत-प्राय जाति को बल प्रदान कर उसके शुष्क और निराश जीवन में सजीवता और सरसता लावे। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'गोस्वामी तुलसीदास' नामक ग्रंथ में तुलसीदास जी को प्रतिनिधि कवि मानते हुए हिंदी का सर्वश्रेष्ठ कवि घोषित किया है और कहा है—"तुलसी के 'मानस' से

रामचरित की जो शील-शक्ति-सौंदर्यमयी स्वच्छ धारा निकली उसने जीवन की प्रत्येक स्थिति के भीतर पहुँच कर भगवान् के स्वरूप का प्रतिबिंब झलका दिया। रामचरित की इसी जीवन-व्यापकता ने उनकी वाणी को राजा-रंक, धनी-दरिद्र, मूर्ख-पंडित सब के हृदय और कंठ में सब दिन के लिए बसा दिया। किसी श्रेणी का हिन्दू हो वह अपने जीवन में राम को साथ पाता है। संपत्ति में, विपत्ति में, घर में, वन में, रणक्षेत्र में, आनन्दोत्सव में, जहाँ देखिए वहाँ राम। गोस्वामीजी ने उत्तरापथ के समस्त हिन्दू-जीवन को राममय कर दिया। गोस्वामीजी के वचनों में हृदय को स्पर्श करने की जो शक्ति है वह अन्यत्र दुर्लभ है। उनकी वाणी की प्रेरणा से आज हिन्दू-जनता अवसर के अनुकूल सौंदर्य पर मुग्ध होती है, महत्त्व पर श्रद्धा करती है, शील की ओर प्रवृत्त होती है, सन्मार्ग पर पैर रखती है, विपत्ति में धैर्य धारण करती है, कठिन कर्म में उत्साहित होती है, दया से आर्द्र होती है, बुराई पर ग्लानि करती है, शिष्टता का अवलंबन करती है और मानव जीवन में महत्त्व का अनुभव करती है।"

आचार्य की इस सम्मति से हम अक्षरशः सहमत हैं। हमारी दृष्टि में भी तुलसीदास का स्थान हिन्दी साहित्य में सर्वोत्कृष्ट है और वे हमारे साहित्य के प्रतिनिधि-कवि हैं, जिनकी जीवन के सभी क्षेत्रों तक पूरी-पूरी पहुँच हैं। उनमें भारतवर्ष का भूत, वर्तमान और भविष्य झाँकता है। वे हमारे साहित्य के शृंगार है और हम उन्हें पाकर गौरवान्वित हैं। ये यशस्वी और अमर कलाकार हैं और जब तक हिन्दी भाषा और साहित्य जीवित हैं तुलसी की वाणी भी जीवित है; वह अजर अमर है।

मैथिलीशरण गुप्त

श्री मैथिलीशरण गुप्त आधुनिक युग के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। उनकी ख्याति और लोक-प्रियता भी हिन्दी में सबसे अधिक है। उनकी इस लोकप्रियता का कारण है ३०-३५ वर्षों से निरंतर, निरालस हृदय से माँ भारती की सेवा में संलग्न रहना और अपने काव्य-ग्रंथ रूपी सुमनों के हारों से उसका शृंगार करते रहना। संख्या और विषय-वैविध्य की दृष्टि से तो गुप्तजी ने सबसे अधिक काव्य-ग्रंथ लिखे ही हैं, साथ ही वे सामयिक आवश्यकताओं के अनुकूल भी साहित्य सृजन करते रहे हैं। यह विशेषता हिन्दी के और किसी कवि में नहीं मिलेगी। इतनी लंबी साहित्य-साधना में उन्होंने अपने समय की माँगों की अवहेलना नहीं की है और यह देखते और अनुभव करते हुए भी कि उनका समय विभिन्न राष्ट्रीय विचार-परंपराओं और सामाजिक क्रान्ति की भावनाओं से उद्वेलित रहा है, वे योग्य नाविक की भाँति संघर्ष समुद्र में अपनी काव्य-नौका को खेते आए हैं। उनकी इसी संतुलित काव्य-दृष्टि का परिणाम है कि वे हिन्दी भाषियों में ही नहीं अपितु अन्य प्रान्त के निवासियों में भी लोक-प्रिय हैं और काव्य के क्षेत्र में दूसरी भाषाओं के कवियों के समक्ष हिन्दी का प्रतिनिधित्व करते दीखते हैं उसी प्रकार जिस प्रकार गद्य के क्षेत्र में—कथा-साहित्य के क्षेत्र में—स्वर्गीय प्रेमचंद हिन्दी का मस्तक ऊँचा रखते हैं। ये दोनों कलाकार हिन्दी के लिए वरदान रहे हैं। दुःख यह है कि प्रेमचंद चले गए हैं—असमय, जब कि आज उनकी बड़ी भारी आवश्यकता थी। गुप्त जी और प्रेमचंद जी का जन्म लगभग

एक ही समय में हुआ और दोनों का विकास भी एक-सी ही सामाजिक परिस्थितियों में हुआ, परंतु दोनों की घरेलू परिस्थितियाँ और संस्कार कुछ भिन्न रहे इसलिए उनमें एक बड़ा अंतर हो गया दृष्टि-कोण का। गुप्त जी की संपन्नता और वैष्णव-धर्म-प्रियता ने उन्हें अतीत के प्रति मोही बना दिया और उन्होंने वर्तमान समस्याओं का हल पुराणों और इतिहास के पृष्ठों की कथाओं में खोजा, जब कि प्रेमचंद ने सीधे, ग्रामीण-जीवन और और राष्ट्रीय उथल-पुथल के धागों में युग की समस्याओं को बाँध लिया। फल यह हुआ कि गुप्त जी की अपेक्षा प्रेमचंद जी अधिक युग-स्रष्टा हो गए। इसका यह अर्थ नहीं कि गुप्तजी ने युग की समस्याओं की अपेक्षा की या संघर्ष की अवहेलना की। नहीं। उन्होंने अपनी कथाओं में ही ऐसे अवकाश निकाल लिये कि वे युग की समस्याओं पर आलोचना कर सकें और उस अलोचना के द्वारा अपनी एक दृष्टि भी दे सकें। समय से गुप्त जी ने भी पीठ नहीं फेरी परंतु उनके साधन अर्थात् गृहीत विषय ऐसे रहे, जिनमें युग की समस्याओं की अधिक गुंजायश नहीं रही।

गुप्त जी के काव्य के रस का आस्वादन करने से पहले उन परिस्थितियों को भी देखें, जिन में गुप्त जी के कवि ने आँखें खोलीं। गुप्त जी का जन्म संवत् १६४३ वि० (सन् १८८६) है। यह समय वह है, जिससे एक वर्ष पहले (सन् १८८५ में) कांग्रेस की स्थापना हुई थी और देश में राष्ट्रीय चेतना का क्रियात्मक सूत्र-पात्र हुआ था। राष्ट्रीय चेतना का सूत्रपात्र भले ही हो गया हो, देश में अब भी सामाजिक आंदोलन की लहर थी। वह लहर थी आर्य-समाज की। कांग्रेस से पहले देश को महर्षि दयानंद ने देश-प्रेम

और जातीय गौरव की रक्षा का पाठ पढ़ाया था। उन्होंने अपना सर्वस्व समाज के उत्थान के लिए समर्पित कर दिया था। लेकिन एक बात यहाँ याद रखनी चाहिए कि वह समाज हिंदू-समाज था। उसमें आज की भाँति हिंदू-मुसलमानों की सम्मिलित भावना समाज नहीं बनाती थी। हिंदुओं को सौभाग्य से स्वामी दयानंद मिले, जब कि मुसलमानों को तीसरी शक्ति पर भरोसा करने के कारण ऐसी विभूति उस समय न मिली। हाँ पीछे सर सैयद अहमद खाँ जैसे व्यक्ति अवश्य मिले, जिन्होंने मुस्लिम राष्ट्रीयता का पक्ष लिया। स्मामी दयानंद ने इस स्थिति से रक्षा करने के लिए आर्य-समाज की स्थापना की और उस आर्य-भावना का प्रचार करना आरंभ किया जो वैदिक युग में प्रचलित थी और जिस भावना ने भारत को विश्व का शिरमौर बना दिया था। समाज में उस भावना के प्रति आदर बढ़ा और देश में हवन की धूम-राशि के द्वारा वैदिक भावना प्रसार पाने लगी; आर्य संस्कृति सजग होने लगी, समाज में कर्म को प्रधानता देकर जाति-उपजाति के झगड़े मिटाये जाने लगे, अछूतों को गले लगाया जाने लगा, स्वदेश-प्रेम और जातीय भावना का उदय हुआ और विदेशी संस्कृति और सभ्यता से दूर रहने का भाव जगा। यही नहीं शुद्धि के आंदोलन द्वारा आर्य-जाति की उस पाचन शक्ति को बढ़ाने पर भी ज़ोर दिया गया, जिसे खोकर वह दिन-दिन क्षीण-हीन होती जाती थी। इस प्रकार भारत भर में हिंदू धर्म, हिंदी-भाषा, हिंदू सभ्यता और संस्कृति के प्रचार का संगठित आयोजन आरंभ हुआ। स्वामी जी इस आयोजन के प्रमुख प्रवर्तक थे और निस्संदेह गांधी जी से पहले उनके जैसा प्रबल व्यक्तित्व वाला दूसरा कोई नहीं हुआ था।

किसी व्यक्ति ने कहा है कि स्वामी दयानंद ने गांधी जी के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया था। यह बहुत अंशों में ठीक है। कांग्रेस के प्रारंभिक दिनों में उस में काम करने वाले लगभग सभी कट्टर आर्य-समाजी थे।

कहने का तात्पर्य यह है कि कांग्रेस से पहले आर्य-समाज के संगठन द्वारा देश के उत्थान का कार्यक्रम बना था। साहित्य में समाज की इस क्रांति की प्रतिक्रिया हुई भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के द्वारा। उन्होंने मानों दयानन्द की विचार-धाराओं का साहित्यिक भाष्य किया। नाटकों, कविताओं, निबंधों और भाषणों द्वारा उन्होंने आर्य-भावना का प्रचार किया। स्त्रियों के लिए पत्र निकाल कर स्त्री-जाति की सम्मान-रक्षा के लिए भारतेन्दु ने सब से पहले आवाज़ उठाई। संस्थायें स्थापित कर अपने साहित्यिक आदर्शों को जीवित स्वरूप दिया। स्वभाषा, स्वजाति, स्वदेश की पुकार से मानो भारतेन्दु जी का साहित्य भरा पड़ा है। उनके साहित्य में स्वामी दयानंद द्वारा प्रवर्तित आंदोलन की स्पष्ट छाप है और विराट् आर्य भावना उसके मूल में काम कर रही है।

"रोवहु सब मिलि आवहु भारत भाई।
हा! हा! भारत-दुर्दशा न देखी जाई॥"

में उनकी भारतीयता का वही स्वामी दयानंद द्वारा प्रवर्तित रूप है। वैसे उनमें वैष्णव धर्म के प्रति भी अगाध ममता थी। भारतेन्दु युग में यही वैष्णव-धर्म-मिश्रित आर्य-भावना प्रधान रही। श्री प्रताप नारायण मिश्र की निम्न पंक्तियाँ मानों भारतेन्दु युग का सूत्र हैं—

सब मिलि बोलो एक ज़बान।
हिंदी, हिंदू हिन्दुस्तान॥

ऐसी परिस्थितियों में ही भारतेन्दु युग का विकास हुआ। गुप्त जी का काव्यकाल यद्यपि इस युग की समाप्ति पर आरंभ होता है और तब आर्य समाज की अपेक्षा कांग्रेस की लोक-प्रियता बढ़ती जा रही थी तथापि गार्हस्थ्य जीवन में आर्य-समाज की तब भी प्रधानता थी। कांग्रेस तब भी राजनीति के क्षेत्र की वस्तु थी, समाज के क्षेत्र की नहीं। इसलिए गुप्त जी का साहित्य-सृजन के समय आर्य सस्कृति के प्रति जबर्दस्त मोह था। यही कारण है कि गुप्त जी आर्य-संस्कृति के वर्तमान वैतालिक कहे जाते हैं। आगे चलकर हम उनकी रचनाओं का वर्गीकरण और छान-बीन करेंगे। उस समय इस बात का युक्ति-युक्त और सम्यक् निरूपण भी होगा। यहाँ तो उनकी बाह्य परिस्थितिं का विवेचन किया गया है। बाह्य परिस्थिति के साथ उनकी आंतरिक परिस्थितियों की भी झाँकी पा लेना उनके काव्य को समझने में सहायक होगा। अतः हम उनके पारिवारिक जीवन का भी संक्षिप्त दे व्योरा देते हैं।

गुप्त जी चिरगाँव (झाँसी) के रहने वाले हैं। वैश्य कुलोत्पन्न हैं। पिता सेठ श्रीरामचरण जी भगवत्प्रेमी और कवि थे—पक्के वैष्णव। रामोपासना उनकी अपनी वस्तु थी। गुप्त जी को बेहद प्यार करते थे। बचपन में एक छंद गुप्त जी ने लिखा था तो उन्होंने आशीर्वाद दिया था—"तू आगे चलकर हम से हज़ारगुनी अच्छी कविता करेगा।" इस प्रकार कवित्व और रामभक्ति दोनों उन्हें पिताजी से विरासत में मिलीं।

शिक्षा उनकी गाँव में ही हुई। दर्जा दो पास करने पर जब झाँसी के मेकडानल हाई स्कूल में आए तो किताबों से अधिक खेल में ध्यान रखते। घरवालों ने स्कूल छुड़ा दिया और घर पर ही

संस्कृत पढ़ाने का प्रबंध हुआ। पढ़ने में तेज़ थे पर खेलने में उस से अधिक। चकई और पतंग का भी शौक था। एक और शौक था, जिसके पीछे वे दीवाने थे। वह था जोर जोर से आल्हा पढ़ने का। कोई पुस्तक मिली और उन्होंने सस्वर उसे पढ़ना प्रारंभ किया। सुनने वाले मुग्ध हो जाते थे। घरवालों ने देखा लड़का बिगड़ जायगा और उन्हें हिन्दी के प्रसिद्ध कवि मुंशी अजमेरी जी के सुपुर्द कर दिया। मुंशी जी को गुप्त जी के पिता ने मुसलमान होते हुए भी पुत्रवत् पाला था और वे उन्हें अपना छठा पुत्र मानते थे। मुंशी जी की कहानियों और कंठस्थ कराई हुई कविताओं ने उनके काव्यांकुर को पल्लवित किया और आचार्य द्विवेदी जी के गुरुत्व ने उसे पुष्पित-फलित बनाया। द्विवेदी जी की कृपा से वे प्रकाश में आ गए और 'सरस्वती' द्वारा सरस्वती की साधना के लिए अपना मार्ग प्रशस्त करने लगे। संस्कृत और बँगला से विशेष प्रेम होने से भाषा में स्थायित्व और माधुर्य ले आए और खड़ी बोली का शृंगार कर दिया, उसे ब्रजभाषा की भाँति मधुर-भावनाओं की अभिव्यंजना-शक्ति से युक्त कर दिया।

तीन शादियाँ हुई हैं। बच्चे होकर जाते रहे हैं। एक लड़का सुदर्शन बड़ा हुआ था पर जलोदर रोग से वह भी चल बसा। यों संतान की ओर से उनका जीवन बड़ा करुण रहा है।

लिखते स्लेट-पेंसिल से हैं और स्लेट भर जाने पर उसे कागज पर उतारते है। लिखते समय गुनगुनाते हुए तल्लीन रहते हैं और शोर गुल की परवाह नहीं करते। लिखने का 'मूड' हो तो रात दिन लिखें अन्यथा महीनों न लिखें, ऐसी उनकी आदत है। लिखकर पहले आप स्वजनों को सुनाते हैं और वाद-विवाद होने पर उसमें कुछ

संशोधन भी कर लेते हैं।

पोशाक उनकी साधारण है—वह भी खादी की। धोती-कुरता और पगड़ी से काम चला लेते हैं। देशभक्ति उनकी नसों में भगवद्भक्ति की भाँति बिंधी है। उसके लिए सरकार के महमान भी रह चुके हैं। १९३६ में जब काशी में विश्ववंद्य गांधी जी द्वारा उनको काव्य-मान-ग्रंथ दिया गया तो उसमें उन्होंने अपनी देशभक्ति के संबंध में कहा था—

"नवीन भाषा के साथ ही पद्य-रचना के लिए भारतवर्ष ऐसा महान विषय भी मुझे आरंभ से ही प्राप्त हो गया था, वह भी एक संयोग से। व्यापार में लंबा घाटा होने पर घर की बहुत सी चल और अचल संपत्ति भी चल दी थी। मेरे बाल-हृदय ने जो घर देखा था वही बाहर भी था। मेरे घर के वैभव को व्यापार ले बैठा था और बाहर सब कुछ विदेशी व्यापारी लिये बैठे थे। मैं अपना रोना रोकर देश के लिए रोने वाला बन बैठा।"

स्वभाव से विनम्र, सरल और स्वाभिमानी हैं। भोलेपन में किसान जँचते हैं। शहरियत से चिढ़ है इसीलिए ग्राम्य वातावरण में रहना पसंद करते हैं। खुशामद और आडंबर को कभी प्रश्रय नहीं देते। घर पर फर्श पर गद्दी लगाकर बैठते हैं और इधर-उधर किताबे बिखरी रहती हैं। काव्य न लिखते समय चरखा कातते हैं।

ऊपर गुप्त जी के घरेलू जीवन की एक झलक है। पहले बाह्य परिस्थितियों की बात हो चुकी है। घर और बाहर की इन बातों को मिलाने से गुप्त जी के संबंध में कहा जा सकता है कि वे सीताराम के भक्त होने के साथ-साथ देशभक्त भी हैं। उनकी जन्मभूमि में बुन्देला छत्रसाल और झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई के रक्त कणों का योग होने

से उनमें वीर-पूजा और आशावादिता आवश्यक है। आल्हा के शौक ने उन्हें राजपूती शौर्य के गान की प्रेरणा दी होगी। खड़ी बोली को भी ब्रजभाषा की अपेक्षा अधिक महत्त्व इसी कारण दिया जान पड़ता है क्योंकि उसमें ओज अधिक है। संस्कृत और बँगला ने उनके शब्द-भंडार और वाक्य-विन्यास को सजाया। स्लेट पर पर लिखने की आदत से उनकी भाषा-संबंधी मितव्ययिता (Economy) प्रकट होती है, जो उपयुक्त शब्द-चयन में सहायक बनकर काव्य-कला का विकास करती है। ग्रामीण वातावरण से रुचि और शहरी वातावरण से घृणा होने से यह प्रकट है कि वे भारतीय संस्कृति के प्रेमी हैं, और ग्रामों में ही भारतीयता देखते हैं—उसी प्रकार जैसे गांधी जी बंबई और पूना को छोड़कर 'सेवाग्राम' में ही रहना पसंद करते हैं। मुंशी अजमेरी जी के संपर्क से उनमें मुसलमानों के प्रति घृणा का अभाव है। व्यापार में हानि होने से उन्हें भारत के आर्थिक पतन की प्रेरणा हुई है और वे राष्ट्रीयता के पोषक बने हैं। चरखा उनकी राष्ट्रीयता का प्रतीक है और उससे गाँधी-वाद के सिपाही बनने में उन्हें आनन्द भी है। यही कारण है कि प्रारंभ में उन्होंने जो कुछ लिखा है—उसमें हिंदू-राष्ट्रीयता का प्राधान्य है और बाद की चीज़ों में वे भारतीय राष्ट्रीयता की ओर झुके हैं, यद्यपि उसमें हिंदू मुस्लिम सम्मिलन के आधार की राष्ट्रीयता का अभाव है। उसका कारण गुप्तजी की हिंदुत्व-भावना या आर्य-भावना के प्रति ममता और कथानकों का चुनाव है, अन्यथा उनकी हाल की ही कृति "काबा और कर्बला" से मुस्लिम-संस्कृति के प्रति उनकी उदार भावना व्यक्त है। तात्पर्य यह है कि जिन बाह्य और आंतरिक परिस्थितियों के प्रभाव से उनके व्यक्तित्व का निर्माण हुआ है, उन्हीं से उनकी सांस्कृतिक और राष्ट्रीय भावना का विकास हुआ है,

जिसमें एक ओर रामभक्ति से प्रेरित आर्य-संस्कृति प्रधान है और दूसरी ओर युग की आवश्यकताओं और समस्याओं के समाधान वाली राष्ट्रीयता। अभी हम इस विषय को यहीं छोड़ते हैं। आगे उनके कृतित्व पर विचार करेंगे और यथा-स्थान इस विषय की भी सम्यक आलोचना होगी।

गुप्त जी की रचनाओं, उनके विषयों तथा भावों का निरीक्षण-परीक्षण करने से पहले एक बात और जान लें। वह है खड़ी बोली का काव्य की भाषा बनना। आधुनिक काल की सबसे बड़ी विशेषता यही है, जो भारतेन्दु युग से द्विवेदी युग को अलग करती है। भारतेन्दु युग में गद्य की भाषा तो खड़ी बोली थी पर पद्य की भाषा ब्रजभाषा ही थी। यद्यपि भारतेन्दु ने ब्रजभाषा में सुधार किया पर खड़ी बोली को अपनाने के लिए उनकी भावना ने साथ नहीं दिया। विचार था कि कविता ब्रजभाषा में ही हो सकती है। भारतेन्दु-मंडल के सभी लेखक इसी विचार-धारा को मानकर चले। लेकिन सन् १९०० में 'सरस्वती' के प्रकाशन ने हिंदी की काव्य-भाषा—ब्रजभाषा—को बड़ा धक्का पहुँचाया। द्विवेदी जी के संपादक होते ही खड़ी बोली को काव्य की भाषा बनाने पर ज़ोर दिया जाने लगा। द्विवेदी जी के विचार में बोलने और कविता लिखने की भाषा में अंतर रखना उचित नहीं था इसलिए उन्होंने यह प्रश्न उठाया कि पद्य भी ब्रजभाषा की अपेक्षा खड़ी बोली में लिखा जाय। यह बात अंग्रेजी के कवि वर्ड्सवर्थ से मिलती-जुलती थी, जिसने बोलचाल और काव्य दोनों की भाषा को एक रखने की सूझ दी। हिंदी में द्विवेदी जी ने जब यह बात कही तब लोगों को वह पसंद नहीं आई। आती भी कैसे? ब्रजभाषा के माधुर्य पर लोग लोग लट्टू थे। तभी क्या बहुत पीछे तक—खड़ी बोली

के छायावादी रूप के विकास तक लोग ब्रजभाषा की मिठास के कायल थे। कविवर सत्य नारायण ने तो यहाँ तक लिखा था कि जिस भाषा में भगवान् ने मचल-मचलकर मक्खन-रोटी माँगी है उसकी विशेषता कौन वर्णन कर सकता है।[1] ऐसी दशा में खड़ी बोली के 'खुरदरेपन' के प्रति अरुचि होना स्वाभाविक था। लोगों को विश्वास ही नहीं होता था कि माधुर्य-निधि इस खड़ी बोली में भी सुरक्षित रक्खी जा सकती है। श्री श्रीधर पाठक ने 'एकांतवासी योगी' लिखकर खड़ी बोली के विरोधियों को चुनौती दी पर वे भी ब्रजभाषा के मोह को न छोड़ सके। यही बात श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' के सर्व-प्रथम खड़ी बोली के महाकाव्य 'प्रिय-प्रवास' के प्रकाशन पर रही। 'प्रिय प्रवास' की भाषा में भी खड़ी बोली का वह रूप नहीं आ पाया, जिसको शुद्ध खड़ी बोली का रूप कहा जा सके। द्विवेदी जी ने स्वयं भी कवितायें लिखीं और दूसरों से भी लिखाईं। इसका परिणाम यह हुआ कि 'सरस्वती' में खड़ी बोली की कवितायें ही प्रकाशित होने लगीं। इसी बीच गुप्त जी का उदय हुआ। 'आल्हा-पाठी' और बुन्देलखंडी इस वैतालिक को प्राचीन-काव्य परंपरा से वैसे ही अरुचि थी, वह अपने अनुकूल परिस्थितियाँ पाकर खड़ी बोली में लिखने लग पड़ा। द्विवेदी जी द्वारा कविताओं के संशोधित होकर छपने से भाषा का स्वरूप भी एक दम निखर गया और उसके बाद एक के बाद दूसरी रचना प्रकाश में आने लगी। 'भारत-भारती' का प्रकाशन खड़ी बोली के लिए चिर-स्मरणीय घटना है। यदि देवकीनन्दन खत्री की

१—मचलि-मचलि माँगी हरि जामैं माखन रोटी।
बरननि को करि सके कहौ तिहि भाषा कोटी॥

'चंद्रकांता संतति' ने हिंदी के पाठक पैदा किए और उर्दू पढ़ने वालों को हिंदी सीखने के लिए बाध्य किया तो 'भारत-भारती' ने हिंदी में कवि पैदा किए और ब्रजभाषा के कवियों को खड़ी बोली में लिखने की प्रेरणा दी। प्रसाद और महादेवी ही नहीं अन्य कितने ही कवियों ने अपनी क़लम ब्रजभाषा द्वारा साधी थी, पर 'भारत-भारती' के प्रकाशन ने उन्हें खड़ी बोली—एक मात्र खड़ी बोली—का बना दिया और वे गुप्त जी द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर सीधे बढ़ने लगे। यही नहीं उनकी 'भारत-भारती' के छंद हरिगीतिका का इतना अधिक प्रचार और प्रसार हुआ कि उस काल के हर कवि ने उस छंद में कुछ न कुछ लिखा। कुछ कवियों ने तो 'खंड-काव्य' भी उसी छंद में लिखे। परिणाम यह हुआ कि शीघ्र ही वह छंद काव्य-जगत में प्रतिष्ठित हो गया।

इस प्रकार द्विवेदीजी के सहयोग से गुप्त जी ने खड़ी बोली का शृंगार करना आरंभ किया और कहना न होगा कि उन्होंने अकेले ही खड़ी बोली को खड़ा करके उसमें वह शक्ति और ओजस्विता भरी जिस पर आज का युग गर्व कर सकता है। उस दृष्टि से देखें तो कोई कवि उनके सामने नहीं ठहरता। उनके समकालीन और उतनी ही प्रतिभा रखने वाले कवि श्री 'हरिऔध' हैं, जिन्होंने 'प्रिय-प्रवास' द्वारा खड़ी बोली में नई चेतना फूँकी थी, लेकिन उसके पश्चात् वे विकास नहीं कर सके। मुहावरों के ज्ञान-प्रदर्शन के लिए 'बोल-चाल' और 'चौपदे' लिखने में वे लगे रहे। तभी उनकी 'वैदेही वनवास' आदि पिछली कृतियों में भाषा का वह सुष्ठु रूप भी स्थिर नहीं रह सका जो पहले की 'प्रिय-प्रवास' आदि रचनाओं में था। इसके विपरीत गुप्त जी सदैव विकासोन्मुख रहे हैं। निरंतर काव्य-ग्रंथों के प्रणयन के साथ

उनकी भाषा में परिष्कार होता गया है। आरंभ में उनमें 'हरि औध' जी की भाँति संस्कृत के तत्सम शब्दों और समास-बहुल वाक्यावली लिखने की ओर प्रवृत्ति थी; लेकिन ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, वे तद्भव शब्दों की ओर झुकते गए और उनकी भाषा की सामासिकता दूर होती गई। भारतेंदु-कालीन अव्यवस्था ही नहीं, उन्होंने अपने समय की अनिश्चितता भी दूर की और उसे व्यवस्थित कर दिया। यों सर्वश्री रामनरेश त्रिपाठी, रामचरित उपाध्याय, रूपनारायण पांडेय लोचन प्रसाद पांडेय आदि भी उसी समय से कविता लिखते आ रहे थे और उनकी भाषा में खड़ी बोली की शुद्धता का उतना ही ध्यान था, जितना गुप्त जी की भाषा में, परंतु काव्य-भाषा में कवित्व की सृष्टि लेकर खड़ी बोली का जो रूप आया, वह गुप्त जी की छाप लेकर ही आया। दूसरे शब्दों में खड़ी बोली कविता की इतिवृत्तात्मकता में रस-संचार का कार्य सर्व-प्रथम गुप्त जी ने ही किया। सारांश यह कि गुप्त जी द्वारा खड़ी बोली को काव्य की सर्वमान्य भाषा बनाने में जो योग दिया गया, उसकी महत्ता और उपयोगिता निर्विवाद है और इस दृष्टि से वे इस युग के हिंदी कवियों के अग्रणी हैं।

नई काव्य भाषा, नई राष्ट्रीय उद्भावना और नई अभिव्यक्ति की शैली के लिए गुप्त जी को काव्य का आधार भी नया ही चुनना पड़ा और उन्होंने अपने विषयों का चुनाव इस दृष्टि से किया कि वे अन्य कवियों से अलग एक नई ही भावना को जन्म देने वाले बन गए। पीछे हम कह आए हैं कि गुप्त जी आर्य-संस्कृति के आधुनिक वैतालिक हैं और आर्य-समाज की चढ़ती के दिनों में उनकी काव्य-रचना आरंभ हुई थी। हम यह भी कह आए हैं कि आर्य-समाज का प्रयत्न हिंदू-राष्ट्रीयता को प्रश्रय देना था। इसलिए गुप्त जी ने अपने कथानकों

का चुनाव वहीं से किया है, जहाँ से वे इस हिंदू-राष्ट्रीयता के सम्यक् निदर्शन के लिए अवकाश पा सकें। लेकिन चूँकि वे भारतीय राष्ट्र की कल्पना और गांधीवाद से भी प्रभावित हैं और क्रियात्मक रूप से उसका प्रमाण भी दे चुके हैं इसलिए उनकी राष्ट्रीयता में संकीर्णता नहीं प्रत्युत सांस्कृतिक चेतना की पुकार है। उसमें सिक्ख, बौद्ध और हिंदू तथा मुस्लिम इन चारों संस्कृतियों का संगम है। गुप्त जी द्वारा लिखित रचनाओं को श्री धर्मेंद्र ने निम्नलिखित ढंग से विभाजित करके तालिका बनाई है।[1]:—

संख्या	स्रोतश्रेणी	रचनाएँ
१	राष्ट्रीय, जातीय या सामाजिक	भारत-भारती, स्वदेश-संगीत, वैतालिक, किसान
२	रामचरित-मूलक	साकेत, पंचवटी
३	कृष्णचरित-मूलक	द्वापर
४	बौद्ध-संकृति मूलक	यशोधरा, अनघ
५	हिन्दूसंस्कृति-मूलक	हिन्दू, विकट भट, रंग में भंग, पत्रावली
६	सिक्ख-संस्कृति-मूलक	गुरुकुल
७	पुराण-मूलक	चन्द्रहास, शकुन्तला, तिलोत्तमा, शक्ति
८	महाभारत-मूलक	जयद्रथ-वध, सैरंध्री, वक-संहार, वन-वैभव, नहुष
६	विविध संग्रहात्मक	मंगल घट, झंकार

१—'गुप्त जी के काव्य की कारुण्य धारा'।

यह तालिका अत्यंत सुंदर है और विद्वान् लेखक ने विभाजन भी अत्यंत बुद्धिमानी से किया है; किन्तु इसमें 'सिद्धराज' जैसी मध्यकालीन भारतीय संस्कृति की कृति को कहीं स्थान नहीं दिया गया। उसे भी हिन्दू-संस्कृति-मूलक श्रेणी में स्थान दिया जा सकता है। हाल में गुप्त जी कई कृतियाँ और निकली हैं, जिनमें 'कुणाल' और 'काबा और कर्बला' प्रमुख हैं। इन कृतियों में 'काबा और कर्बला' का विशेष महत्त्व इसलिए है कि कवि ने बहुत दिन से मुस्लिम-संस्कृति को वाणी देने के लिए 'हसन-हुसेन' लिखने की सोची थी। संभवतः उसी विषय को 'काबा और कर्बला' में पूर्ण किया है। इस कृति से वे इस दोष से बच गए हैं कि उन्होंने मुस्लिम-संस्कृति पर कुछ नहीं लिखा। इन कृतियों के अतिरिक्त उन्होंने बँगला के नवीनचन्द्र सेन के 'पलासी का युद्ध' और माइकेल मधुसूदन दत्त के 'विरहिणी व्रजांगना' तथा 'मेघनाथ वध', संस्कृत के भास के 'स्वप्न वासवदत्ता' और फारसी के उमर खैयाम के 'रुबाइयात उमर खैयाम' आदि ग्रंथों के अनुवाद भी 'मधुप' नाम से किए हैं। उनके मौलिक और अनुवादित ग्रंथों के अतिरिक्त बहुत सी फुटकर रचनाएँ भी पत्र-पत्रिकाओं में बराबर छपती रहती हैं। यों सब मिलाकर संख्या की दृष्टि से गुप्त जी ने काव्य की सर्वाधिक पंक्तियाँ लिखी हैं और हिन्दी का कोई कवि उनकी समता इस सम्बन्ध में नहीं कर सकता, यह कहना किसी सीमा तक अत्युक्तिपूर्ण नहीं है। साथ ही इस तालिका से यह भी प्रकट कि उनकी अधिकांश रचनाएँ कथात्मक हैं। कथानक उनकी प्रतिभा के विकास का साधन सा है। यही कारण है कि उनको प्रबन्ध काव्य में अधिक सफलता मिली है—स्फुट काव्यों में नहीं।

हमने यह देखा है कि गुप्त जी की अधिकांश रचनाएँ कथानकों के सहारे विकसित हुई हैं और वे कथानक भी अतीत इतिहास के पृष्ठों से लिये गए हैं। प्रश्न होता है कि युग के साथ चलने वाले इस कवि ने ऐसा क्यों किया? उत्तर सहज ही यह दिया जा सकता है कि गुप्त जी राष्ट्रीयता का शंखनाद करने वाले रहे हैं। अतः अतीत की ओर उनकी दृष्टि इसलिए रही है कि वर्तमान संघर्ष में उन्हें उद्बोधन के लिए कोई सामग्री नहीं मिली। अतीत की कथाएँ हृदय में वीरता जगाती हैं, गौरव के प्रति ललक पैदा करती हैं, पतन के गर्त से उठने की प्रेरणा देती हैं, मृत-प्राय शिराओं में नवस्पन्दन भरती हैं, वर्तमान से जूझने की शक्ति देती हैं और भविष्य के लिए ठोस आधार प्रस्तुत करती हैं।[1] अतः गुप्त जी जैसे पूर्व गौरव की कथा कहने वाले वैष्णव कवि द्वारा यदि ऐसा हुआ है तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। फिर जिस भारतेन्दु युग के सांस्कृतिक विचारों के संस्कार लेकर वे जन्मे थे, उनमें अतीत की गाथा गाने की अलग प्रेरणा थी। इसीलिए जब उन्होंने 'जयद्रथ-वध' की रचना की तो उसकी भूमिका में उन्होंने लिखा—"हिंदी में आजकल ऐसी पुस्तकों की बड़ी आवश्यकता है, जिनके द्वारा हमें अपनी पूर्व परिस्थिति का यथार्थ ज्ञान होकर सब प्रकार की उन्नति करने में प्रोत्साहन मिले।"

यही बात 'भारत-भारती' की इन पंक्तियों में है:—

हम कौन थे क्या हो गए हैं और क्या होंगे अभी।
आओ विचारें आज मिलकर ये समस्यायें सभी॥

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि गुप्त जी की अतीत के प्रति विशेष ममता

१—वर्तमान यह आयोजन है, जिस भावी जीवन का
कुछ अतीत संकेत मिले तो, अधिक काम इस जन का॥

का कारण यही है कि उसके बिना वर्तमान और भविष्य की दिशा का निर्देश ही नहीं हो सकता। गुप्त जी की सबसे पहली रचना 'रंग में भंग' है जो सन् १६०८ में प्रकाशित हुई थी। इस रचना में बूँदी-नरेश वीर सिंह के अनुज लालसिंह की कन्या से चित्तौड़ के राणा का पाणिग्रहण संपन्न हुआ। बिदाई के समय बात-चीत में आपस में बिगड़ गई और वर-समेत बरातियों को वीर-गति पानी पड़ी। बंधू को सती होना पड़ा और 'रंग में भंग' हो गया। यह प्रथम काव्य है। इसमें परस्पर की फूट की वह झलक है, जो राजपूतों के गौरव के लिए कलंक रही है, परंतु जिसको लेकर भी नारियों के सतीत्व की झलक दिखाने में कवि को आनन्द आता है। इसके बाद दूसरी रचना 'जयद्रथ-बध' में भी कथानक भले ही महाभारत का ही, विषय वही आपसी फूट है। पर राजपूतों की नहीं, उनसे सहस्रों वर्ष पूर्व कौरवों और पाण्डवों की। उत्तरा के चरित्र की उसमें विशेष रूप से विकसित झाँकी है। उसका लक्ष्य है 'न्यायार्थ अपने बंधु को दण्ड देना' और कर्तव्य के लिए बलिदान होना।

'जयद्रथ-वध' में कवि ने बड़े ऊँचे स्वर से पूर्वजों के चरित-गान[१] का उपक्रम किया था और उसका वह स्वर कभी मंद नहीं हुआ। यह कृति भी काव्य-प्रेमियों के निकट बड़ी आदर की वस्तु रही है। उसके बाद 'शकुन्तला' एक पद्य-बद्ध कथा है, जिस पर कालिदास का स्पष्ट प्रभाव है। 'शकुन्तला' के पश्चात् 'पंचवटी' का नाम आता है। यह भी खण्ड काव्य है और लक्ष्मण के चरित्र के प्रकाश के लिए लिखा गया है। यह सन १६२५ की रचना है। यह काल वह है, जब छाया-वादी काव्यों का उत्थान आरंभ हो गया था और 'कला कला के लिए'

१—वाचक प्रथम सर्वत्र ही जय जानकी-जीवन कहो।
फिर पूर्वजों के शील की शिक्षा तरंगों में बहो॥

के सिद्धांत की पुकार हिंदी में भी लगाई जाने लगी थी। हमारा कवि भी समय की आवश्यकता के अनुकूल काव्य सृजन में तत्पर हुआ और उसने 'पंचवटी' की रचना द्वारा यह बताया कि भले ही मैं कथानक लेकर काव्य-रचना करता हूँ लेकिन तुम यह मत समझो कि मैं तुम्हारी सूक्ष्मता को ग्रहण नहीं कर सकता। 'पंचवटी' में प्रकृति भी पहले-पहल गुप्त जी के काव्य में स्वतंत्र रूप से स्थान पाने लगी है[1]। राम-लक्ष्मण और सीता की वन की रहन-सहन में पशु-पक्षी और बनचारी मिलकर एक तपोवन की छटा छहरा देते हैं। लक्ष्मण को गुप्त जी ने यहाँ सजीव बनाया है। सजीव का अर्थ यह है कि बाल्मीकि और तुलसी के लक्ष्मण उग्र होते हुए भी उस बिगड़ी हुई मोटर की तरह हैं, जो चालू मोटर के पीछे बाँध दी जाती है और जिसकी अपनी कोई हलचल नहीं होती। परंतु गुप्त जी के लक्ष्मण यहाँ सजीव होगए हैं—बोल उठे हैं। 'पंचवटी' में हास-परिहास के बीच जीवन की कठोर वास्तविकता को सहने में सक्षम राम, लक्ष्मण और सीता का चरित्र गार्हस्थ्य जीवन की ऐसी उज्ज्वल झलक देता है कि वन भी स्पृहणीय हो उठा है। 'पंचवटी' शुद्ध कलात्मक दृष्टि-कोण से लिखी गई कृति है, जिसमें कथा में थोड़े से परिवर्तन के अतिरिक्त—और वह भी काव्यगत सौंदर्य की अभि-वृद्धि के लिए—कवि ने न उपदेश दिया है न 'जानकी-जीवन की जय' बुलवाई है। मानवता की सामान्य भूमि पर ही उसके पात्रों के कार्य-कलाप होते हैं। कुछ लोगों को यह अखरा है, पर काव्य-कला

१—चारु चंद्र की चंचल किरणें खेल रही हैं जल थल में।
स्वच्छ चाँदनी छिटक रही है अवनि और अंबर तल में।
पुलक प्रकट करती है धरती हरित तृणों की नोकों से।
मानो झीम रहे हैं तरु भी मंद पवन के झोंकों से।

के चरम विकास की दृष्टि से यह सामान्यता वांछनीय हो उठी है। भाव,भाषा और शैली की दृष्टि से 'पंचवटी' अत्युत्तम ग्रंथ है। कहते हैं कि 'पंचवटी' 'साकेत' की भूमिका है, जिसमें कवि ने लक्ष्मण के चरित्र को सबसे आगे रखकर उस पर ही सारा ध्यान केन्द्रित किया है। शूर्पणखा, राम, लक्ष्मण तथा सीता के संवादों ने इसकी रोचकता कई गुना बढ़ा दी है।

'अनघ' भी इसी काल की रचना है। यद्यपि वह नाटक की श्रेणी में आता है, तथापि कथात्मक होने से वह प्रबन्धकाव्य की दृष्टि से यहाँ भी विचार का विषय बन सकता है। उसको गाँधी जी के प्रभाव से पूर्ण आच्छादित समझिए। उसका नायक 'मघ' गाँधी जी का ही संक्षिप्त संस्करण या बौना रूप है। ग्रामोद्धार, अछूतोद्धार और रचनात्मक कार्य-क्रम में उसकी पूर्ण श्रद्धा है। सत्याग्रही वीर है, जो दुश्मन का भी प्रतिकार नहीं करता। इस काव्य के उपसंहार में राज्य की महारानी द्वारा मघ के कार्य के औचित्य की प्रशंसा की गई है। इसमें मानवता के प्रति उदार दृष्टि-कोण के साथ राष्ट्रीय भावना भी पूर्ण रूप से समाविष्ट है। उसके आगे कवि फिर देश की महाभारतीय संस्कृति के प्रति उन्मुख होता है और 'त्रिपथगा' देता है। इसमें 'वन-वैभव', 'बक-संहार' और 'सैरन्ध्री' तीन काव्य सम्मिलित हैं। तीनों खंड काव्य हैं और महाभारत के कथानकों के आधार पर हैं। 'अनघ' बौद्ध कथानक था, उसमें गाँधीवाद की सामयिक आवश्यकता का समाधान मिल सकता था, क्योंकि बौद्ध धर्म और गाँधीवाद की मानव-पूजा में काफी साम्य है। अब कवि फिर हिन्दू-राष्ट्रीयता की ओर आया और महाभारत से कथानक चुने। 'वन-वैभव' में युधिष्ठिर के चरित्र

की महत्ता प्रदर्शित है। गंधर्वों के कौरवों को बन्दी बना लेने पर अर्जुन, भीम आदि कौरवों की ओर से लड़ते हैं। चित्ररथ जैसे मित्र से भी अर्जुन को लड़ना पड़ता है—कर्त्तव्य-वश। युधिष्ठिर ने उस समय जो कुछ कहा है, वह भारतीय-राष्ट्र की हिन्दू-मुस्लिम-दो जातियों के लिए अनुकरणीय है[१]। 'बक-संहार' में कुन्ती के कर्त्तव्य-पालन और वात्सल्य की भावना के संघर्ष का चित्र है। अतिथि-धर्म की व्याख्या भी उसमें सुंदर ढंग से की गई है। ब्राह्मण-परिवार के सदस्यों में जब बक राक्षस के यहाँ जाने के लिए विवाद होता है तब उसकी करुण दशा देख कुन्ती अपने पुत्र को भेजने की स्वीकृति देती है। स्वीकृति के साथ ही वात्सल्य भाव उमड़ता है। वह द्वंद्व उसमें अच्छी तरह प्रदर्शित है। भीम द्वारा बक का वध होने पर प्रजा निर्भीक होकर जीवन-यापन करती है। 'सैरन्ध्री' में कीचक और द्रौपदी की कथा है। कीचक की बहन सुदेष्णा का चरित्र इसमें अच्छा नहीं उतरा। ये रचनाएँ सन् १९२७ की हैं। इनके बाद 'विकट-भट' और 'गुरुकुल' का काल है। ये १९२८ की रचनाएँ हैं। पहली में जोधपुर-नरेश के सरदार देवीसिंह का अपने प्राणों द्वारा आत्म-सम्मान का मूल्य चुकाने का वर्णन है। उनके पुत्र और पौत्र भी उसी पथ के पथिक होते हैं। यहाँ भी 'रंग में भंग' जैसी ही राजपूती आन-बान की ओर संकेत है, जिसमें देवीसिंह के पौत्र सवाई सिंह की माँ का क्षात्र तेज वर्णित है। वह ससुर

१—जहाँ तक है आपस की आँच। वहाँ तक वे सौ हैं हम पाँच।
किन्तु यदि करे दूसरा जाँच। गिने तो हमें एक सौ पाँच।
कौन हैं वे गंधर्व गँवार। करें जो आकर यह व्यवहार।

और पति की मृत्यु होने पर भी रोने की नहीं, आन-बान की चिन्ता करती है [1]। 'गुरुकुल' में सिक्खों के गुरुओं के जीवन-वृत्त वर्णित हैं। वीर बन्दा का चरित्र इसमें अत्यंत उज्ज्वल है। आधी से अधिक कविता गुरु गोविन्दसिंह के चरित्र पर केंद्रित है। 'सिद्धराज' का प्रकाशन यद्यपि १६३६ में हुआ, तथापि उसका प्रारम्भ बहुत पहले हो चुका था। उसमें मध्यकालीन वीरों की कथा है। इसमें क्षत्रियों के पतन की मीमांसा है [2]। गाँधी जी के ३०-३१ के आन्दोलन से पहले कवि की यही कथात्मक रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं। इनमें 'शक्ति' और 'किसान' दो खंड-काव्यों को हमने जान बूझ कर पीछे के लिए रखा है। पहला 'सम्मिलित शक्ति' द्वारा वर्तमान दुर्दशा के कर्ताओं को मिटाने की ओर संकेत करता है [3]। दूसरे में एक किसान की करुण

१—रोने तक का भी अवकाश मुझे है नहीं;
तो भी आनबान बिना मरना है जीना भी।
तुझको भी प्राणहीन देख सकती हूँ मैं,
किन्तु मानहीन देखा जायगा न मुझ से।

२—किन्तु क्षत्रियों की आज यादवों की गति है,
नष्ट हो रहे हैं हम आपस में जूझ के !

× × ×

धार्मिक विरोध हमें दुर्बल बना रहे।
यवन बसे हैं यहाँ आकर कहीं कहीं,

× × ×

ऊँचे हम अब भी परंतु नीच मानना
औरों का हमारा, हमें नीचा दिखलायगा।

३—संघ-शक्ति ही कलि-दैत्यों का मेटेगी आतंक।

कथा है, जो पहले अफ्रीका में कुली बन कर और फिर युद्ध में टिगरिस नदी के किनारे बलिदान हो जाता है। पहली कृति में देवी की भावात्मिक मूर्ति है, दूसरी में सामयिक समस्या है। दूसरी का मूल्य इसलिए भी है कि वही अकेली कृति गुप्त जी ने सामयिक कथानक पर लिखी है। इन प्रबंध-काव्यों के अतिरिक्त 'भारत-भारती' (१६१३), 'पत्रावली' (१६१६), 'स्वदेश-संगीत' (१६२५) आदि काव्य-ग्रंथ हैं, जो कथात्मक नहीं हैं परन्तु भावनाएँ लगभग कथा-काव्यों की हिन्दू-राष्ट्रीयता से मिलती-जुलती हैं।

यहाँ पुस्तकों के विषय का संक्षिप्त-सा परिचय देने की चेष्टा की गई है। यह सन् १६३० तक की पुस्तकों के विषय में है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि का ध्यान हिन्दुओं की दुर्दशा की ओर है और वह कभी ऐसा कथानक चुनता है, जिससे उनका पतन प्रकट हो; कभी ऐसा, जिससे उनमें जोश आए और कभी ऐसा जिससे वर्तमान राष्ट्रीय जीवन की भी झलक आ जाय। लेकिन अभी कवि का पथ निश्चित नहीं है। वह न गाँधीवाद की ओर ही झुक पाता है, न हिन्दुत्व की ओर ही। उसकी आत्मा खोज रही है कि सच्चा पथ कहाँ है। वह राजपूती शौर्य में है या सिक्खों के गौरव में, महाभारत-कालीन संस्कृति की कथाओं में है या बुद्ध की मानवता में, राम की गुणावली में है या भारत-माता के गुण-गान में? कहाँ है वह ध्येय जिसकी ओर कवि बढ़े? सन् १६३० तक वह अनिश्चय की दशा में पड़ा रहता है। उसमें साधना है, लगन है, भाषा का सौष्ठव है, कला है, अभिव्यंजन का कौशल है, परन्तु स्थिरता नहीं है। हाँ इतना अवश्य है कि उसकी कला का विकास सब से अधिक हुआ है राम-कथा के अंश में, अर्थात् 'पंचवटी' में।

यह बात उसके हृदय में बैठ गई है। उससे पहले वह राम के चरित के लिए कलम उठा भी चुका है—'साकेत' के चार सर्ग सन् १९१६-१७ में लिख कर। सन् ३० के बाद उसी को फिर से उठाता है और उसी रामचरित को गाने के लिए प्रस्तुत होता है। उसमें वह अब तक की सामाजिकता और राष्ट्रीयता का अध्याहार कर देता है और शुद्ध मानवता की दृष्टि से उस लोक-पावन चरित्र को गाता है, जिससे सहज ही लोग कवि बन सकते हैं।[1]

'साकेत' कवि के जीवन-काल में एक विभाजक रेखा का काम करता है। इसके प्रकाशन के बाद उसके साहित्य-सृजन में स्पष्ट ही कई परिवर्तन हुए हैं। सब से पहली बात तो यह है कि अब वह छोटी-छोटी कथाएँ न लिखकर बड़ी-बड़ी कथाएँ लिखने लगा है। 'साकेत' 'यशोधरा', 'द्वापर' आदि से प्रकट है। 'नहुष', 'कुणाल', 'काबा और कर्बला' आदि की कथा भले ही छोटी हो और कलेवर भले ही बड़ा न हो, परंतु वे प्रतिपादित विषय की विशदता से बड़ी-बड़ी कथाओं की कोटि में ही आते हैं। दूसरी बात यह है कि कवि 'साकेत' से राम का पक्का भक्त हो गया है। 'साकेत' राम के चरित्र का गान है ही। 'यशोधरा' और 'नहुष' के मंगलाचरण में भी उसकी राम-भक्ति दर्शनीय है।[2] यही क्यों 'द्वापर' भी, जो कृष्ण-चरित्र का

१—राम, तुम्हारा वृत्त स्वयं ही काव्य है,
कोई कवि बन जाय, सहज संभाव्य है।

२—(अ) राम तुम्हारे इसी धाम में, नाम-रूप-गुण-लीला-लाभ,
इसी देश में हमें जन्म दो, लो प्रणाम हे नीरजनाभ।
धन्य हमारा-भूमि भार भी, जिससे तुम अवतार धरो,
भुक्ति-मुक्ति माँगें क्या तुम से, हमें भक्ति दो, हे अमिताभ!

गान है, उन्होंने राम का भक्त होकर ही लिखा है ![3] यह देखकर एक आलोचक ने गुप्त जी को तुलसी का अवतार भी कहा है। तुलसी ने भी कृष्ण की मूर्ति को देखकर ऐसी ही बात कही थी।[4] तीसरी बात यह है कि मानवता की व्याख्या वह प्रस्तुत करने लगा है। जीवन के उच्चस्तर पर वह खड़ा होकर समानता और विश्व-बन्धुत्व की रट लगाता है।[5] चौथी बात यह है कि अब वह नारी जाति के प्रति अपार श्रद्धा-भाव से भरा है और उन्हें उनके उज्ज्वल-तम रूप में प्रस्तुत करना चाहता है। यों तो राजपूती-संस्कृति की खंड-कथाओं और महाभारत के कथांशों पर लिखी कृतियों में भी यह विशेषता थी। 'रंग में भंग', 'जयद्रथ-वध', 'विकट-भट', 'त्रिपथगा आदि में नारी को महत्त्व का स्थान दिया गया है। लेकिन इनमें नारी का जो रूप है, वह परंपरा-मुक्त-सा है; विकसित चरित्र के

२—(ब) क्योंकर हो मेरे मन-मानिक की रक्षा ओह।
मार्ग के लुटेरे—काम क्रोध मद लोभ मोह॥
किन्तु मैं बढ़ूँगा राम,
लेकर तुम्हारा नाम,
रक्खो बस तात, तुम थोड़ी क्षमा, थोड़ा छोह॥

३—धनुर्बाण वा वेणु लो श्याम-रूप के संग,
मुझ पर चढ़ने से रहा, काम दूसगारने ।

४—कहा कहौं छवि आज ीर भले बहोर नाथ !
तुलसी मस्तक तब नवै, धनुष बान लो हाथ॥

५—निज हेतु बरसता नहीं व्योम से पानी।
हम हों समष्टि के लिए व्यष्टि-बलिदानी॥

दर्शन वहाँ नहीं होते, कर्तव्य धर्म की पुकार लगाकर चुप हो जाना ही इन काव्यों की नायिकाओं का कार्य है; स्वतंत्र अस्तित्व वे नहीं रखतीं। लेकिन 'साकेत' की उर्मिला और कैकेयी, 'यशोधरा' की यशोधरा और 'द्वापर' की विधृता को आप कभी भुला नहीं सकते। एक बात इन नारी-चरित्रों के विषय में यह भी है कि ये सब उपेक्षित पात्र हैं। 'साकेत' की उर्मिला तो स्पष्ट ही गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा सुझाए पथ पर चलकर ही कवि ने निर्मित की है और कवि ने वाल्मीकि और तुलसी की भूल का परिष्कार करने के लिए ही उर्मिला के चरित्र को प्रधानता दी है। वह प्रधानता मिली है या नहीं इसे हम आगे चलकर देखेंगे। 'यशोधरा' के संबंध में कवि ने स्वयं ही लिखा है कि "भगवान् बुद्ध और उनके अमृत-तत्त्व की चर्चा तो दूर की बात है, राहुल-रजनी के दो-चार आँसू ही तुम्हें इस में मिल जायँ तो बहुत समझना। और, उनका श्रेय भी 'साकेत' की उर्मिला देवी को है, जिन्होंने कृपापूर्वक कपिलवास्तु के राजोपवन की ओर मुझे संकेत किया है।" 'द्वापर' की विधृता तो उनके द्वारा ही खोज कर निकाली गई है; जो उर्मिला, कैकेयी और यशोधा जैसी महारानियों के बीच अपनी साधारणता लेकर भी कवि की लेखनी से ऊँची उठ गई है। पाँचवीं बात यह है कि अब कवि की कल्पना और अनुभूति में विशदता आ गई है, इसीलिए उसने 'साकेत' से पूर्व की रचनाओं में प्रदर्शित इतिवृत्तात्मकता छोड़ दी है। अब वह कथाओं और उसके पात्र तथा घटनाओं का वैसा ब्योरा नहीं देता जैसा पहले देता था। अब तो उसमें काट-छाँट कर पुरानी चीज़ को भी नया रूप देने की प्रवृत्ति जाग गई है। अब वह कला का पुजारी हो गया है और कला अभि-

व्यक्ति की कुशलता को मानने लग गया है।[1] यही कारण है कि अभिव्यंजना शैली की विभिन्नता से 'साकेत' से आगे वाले काव्य-ग्रंथों में अधिक कलात्मकता है। छठी बात यह है कि अब वह समन्वय की ओर बढ़ा है। यद्यपि कथायें रामचरित-मूलक (साकेत), बुद्ध-चरित-मूलक (यशोधरा), कृष्ण-चरित-मूलक (द्वापर), राजपूत-चरित-मूलक (सिद्धराज), ऋषि-चरित-मूलक (नहुष), मानव-चरित-मूलक (कुणाल) और मुस्लिम-वीर चरित मूलक (काबा और कर्बला) हैं, तथापि सब के भीतर मानवता की खोज और सद्गुणों की व्याख्या है। मानों कवि मधुप-वृत्ति से सब संस्कृतियों के तत्त्व लेकर मानव-संस्कृति गढ़ रहा है। सातवीं बात यह है कि उसमें भारतीयता का वह विशाद रूप आया है, जो मानव-मात्र के लिए ग्राह्य और कल्याणकारी है। पहले की संकीर्णता उसमें नहीं रही है।

'साकेत' के पश्चात् लिखे जाने वाले काव्यों के सम्बन्ध में इतना जान लेने पर अब हम संक्षेप में कुछ प्रमुख ग्रंथों पर भी विचार कर लें। वैसे 'साकेत' के पहले लिखे जाने वाले ग्रंथों में 'भारत-भारती' 'जयद्रथ-वध', 'अनघ' और 'पंचवटी' पर भी विचार होना चाहिए। लेकिन जैसा कि हम पहले कह चुके हैं इन ग्रंथों में कवि की कला का पूर्ण विकास नहीं है। 'पंचवटी' को छोड़कर, जो कवि के भविष्य में कला-प्रिय होने का संकेत करती है और जिसमें उसकी कला विहग-शावक की भाँति पंख फड़फड़ाने लगी है, शेष ग्रंथों में आवेग, उत्साह और स्फूर्ति तो है, पर कला का सुन्दर रूप नहीं है। हाँ, स्थल-स्थल पर कवि की रसात्मकता स्पष्ट लक्षित है। तो हम कवि

१—अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति ही तो कला।

के 'साकेत' से पूर्व लिखे ग्रंथों के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी केवल बाद के कुछ ग्रंथों का ही परिचय देंगे । स्थानाभाव भी इस में एक कारण है ।

'साकेत' गुप्त जी की सब से प्रमुख रचना है । इसे उन्होंने बड़े मनोयोग से लिखा है और इसमें कवि की कला का चरम-विकास हुआ है । इसकी कथा वही है, जो वाल्मीकि की 'रामायण' और 'रामचरित मानस' की है, लेकिन उसमें गुप्त जी ने परिवर्तन कर दिया है । इस परिवर्तन से उसमें मौलिकता आ गई है । तुलसी ने भी वाल्मीकि के कथा-विधान में परिवर्तन किया था और उनके नर राम को नारायण बना दिया था । तुलसी ने राम को ईश्वर का अवतार कहा है । उन्होने उसे आराध्य बना कर भक्ति का साधन बनाया है और एक ओर आदर्श मानव और दूसरी ओर प्रभु बनकर वे यहाँ रहे हैं । उनकी लौकिकता भी अलौकिक है । वे सगुण और निगु'ण दोनों हैं—'सगुणहि अगुणहि नहि कछु भेदा' । लेकिन गुप्त जी के राम उन से भिन्न हैं । वे अवतार भले ही हों पर हम से भिन्न नहीं हैं ।[1] वह इसलिए कि तुलसी की धार्मिकता का स्थान आज विज्ञान ने ले लिया है और भक्ति बौद्धिकता की चट्टान से टकराकर चूर-चूर हो गई है तथा नैतिकता की हरिणी भोग-विलास की मरुभूमि में तड़प-तड़प कर प्राण दे चुकी है । ऐसी स्थिति में तुलसी की वह राम-कथा जो भक्ति की चीज़ थी गुप्त जी में आकर एक गृहस्थ वैष्णव के काव्य की वस्तु बन गई है । इसलिए स्वयं गुप्त जी के राम कहते हैं कि मैं भव को

१—राम राजा ही नहीं पूर्णावतार पवित्र,
पर न हम से भिन्न है, साकेत का गृह-चित्र ।

वैभववान बनाने और मानव को इतना विकसित करने आया हूँ कि वह ईश्वर बन जाय। मैं स्वर्ग या मुक्ति का संदेश (तुलसी के राम की भाँति) लेकर नहीं आया, वरन् इस पृथ्वी को ही स्वर्ग बनाने आया हूँ।[१] मानों कोई आधुनिक महापुरुष राम के रूप में हमें अपना संदेश दे रहा हो। तभी गुप्त जी को अपने राम के मानव और ईश्वर होने के संबंध में दुबिधा भी होती है।[२] लेकिन वह दुबिधा उनके राम को मानव के चरम विकास—ईश्वरत्व—की ओर सृष्टि को ले जाने में बाधा नहीं डालती। इस प्रकार गुप्त जी के राम आदर्श गृहस्थ हैं, जिसकी इस काल में, जब कि गार्हस्थ का नाम मिट-सा चला है, अत्यन्त आवश्यकता है। राम हम से दूर न हो जाँय इसीलिए तुलसी की वह अलौकिकता भी गुप्त जी ने नहीं रक्खी, जिससे समुद्र में पत्थर तैरते हैं या चरण-धूलि से अहल्या तर जाती हो।

वैसे 'साकेत' का उद्देश्य राम-गुण-गान नहीं है। उसका उदेश्य है—उर्मिला के चरित की महत्ता प्रतिपादित करना। कवि ने अपने गुरु द्विवेदी जी से प्रेरणा पाई कि उपेक्षित पात्रों पर भी लिखा जाय। कवीन्द्र रवीन्द्र ने उर्मिला की ओर संकेत किया था और वाल्मीकि

१—भव में नव वैभव व्याप्त कराने आया,
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया।
संदेश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया,
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।

२—राम तुम मानव हो? ईश्वर नहीं हो क्या,
विश्व में रमे हुए नहीं सभी कहीं हो क्या?

और तुलसी की भूल भी बताई थी । द्विवेदी जी ने कवीन्द्र की बात हिन्दी में रक्खी और योग्य शिष्य की भाँति गुप्त जी ने उर्मिला ही नहीं 'साकेत' के भीतर कैकेयी, माण्डवी, श्रुतकीर्ति, भरत, शत्रुघ्न, सभी पात्रों का उद्धार करने की चेष्टा की । लक्ष्मण के लिए वे 'पंचवटी' में प्रयत्न कर ही चुके थे । यों रामायण के लगभग सभी पात्रों को उन्होंने प्रकाश दिया । इसी के लिए उन्होंने कथा के घटित होने का क्षेत्र 'साकेत' (अयोध्या) ही रक्खा, जहाँ उपेक्षित पात्र रहते रहे हैं और वनवास से लेकर लंका-विजय तक की सारी कथा हनुमान जी द्वारा संक्षेप में कहला दी और वसिष्ठ जी ने सब को दिव्य दृष्टि द्वारा रावण-वध दिखा दिया । इसमें बेचारे हनुमान भी हिमालय जाने से बच गए क्योंकि भरत ने उन्हें बाण से गिरा लिया था और अपने पास की संजीवनी बूटी से उन्हें जिला लिया था । उसी संजीवनी को लेकर हनुमान लंका गए और लक्ष्मण जीवित होगए । इसका परिणाम यह हुआ कि अयोध्यावासियों तथा उनके नेता भरत और शत्रुघ्न की वीर-भावना का परिचय मिल गया । साथ ही उर्मिला की दुर्गा-मूर्ति का दर्शन होगया । यह सब परिवर्तन केवल उर्मिला के चरित्र पर अधिक ज़ोर देने के लिए ही हुए हैं; परंतु लोगों की दृष्टि में लक्ष्मण और उर्मिला ऐसे महाकाव्य के नायक-नायिका नहीं बन सकते जहाँ राम और सीता की उपस्थिति हो; क्योंकि राम का चरित्र हाथी का पाँव है, जिसमें सबके पाँव समा जाते हैं । इस लिए लोग इसे असफल महाकाव्य मानते हैं । हम शास्त्रीयता की उलझन में नहीं पड़ना चाहते । हमें तो यह देखना है कि कवि उपेक्षितों को प्रकाश में लाने में सफल हुआ है या नहीं । यदि हुआ है तो 'साकेत' का महाकाव्यत्व सफल है और यदि नहीं हुआ त

असफल ! इसी दृष्टि से हम कवि के प्रति सहानुभूति रख कर विचार कर सकते हैं और उसके प्रति न्याय भी कर सकते हैं।

जैसा कि हम कह चुके हैं 'साकेत' का महल उर्मिला के आँसुओं पर आश्रित है। आरंभ भी उर्मिला और लक्ष्मण के संवाद से हुआ है। उस वार्तालाप में गुप्त जी ने अपनी वाग्विदग्धता का परिचय तो दिया ही है उर्मिला के जीवन में आने वाले लंबे वियोग की तीव्रता के लिए हास्य-विनोद का चरम रूप भी प्रकट कर दिया है। इस हास-परिहास से साकेत का प्रारंभ कवि के कला-प्रेम को भी प्रकट करता है और अभिव्यक्ति कौशल को भी। लक्ष्मण के जागने पर उर्मिला तोते को मौन देख कर पूछती है—

रे सुभाषी बोल, क्यों चुप हो रहा ?

लक्ष्मण उत्तर देते हैं—

नाक का मोती अधर की कांति से,
बीज दाड़िम का समझ कर भ्रांति से,
देख कर सहसा हुआ शुक मौन है,
सोचता है, अन्य यह शुक कौन है ?

इसे पढ़ कर लगता है कि उर्मिला और लक्ष्मण नाटक के दो पात्र हैं, जो कविता में बोल रहे है।

परन्तु यह हास्य-विनोद चिर-स्थायी नहीं। राम के वनवास से सब कुछ चिर-रुदन में बदल गया। राम के साथ लक्ष्मण और सीता चल दिए। सीता को अपना भाग मिल गया।[१] पर उर्मिला ? वह वन भी न जा सकी।[२] वही उर्मिला जो स्वर्गीय सुख में डूबी थी

१—सीत ने अपना भाग लिया। पर इसने वह भी त्याग दिया।

२—चरण-जीवन की यह संगिनी। बन सकी वन की न विहंगिनी।

सदा को अकेली रह गई। उसने कुछ कहा तक नहीं। कहती तो प्रियतम के पथ का विघ्न बनती। उसने अपने मन से कहा कि धैर्य धर।[1] और यह आशा प्रकट की कि यदि कभी रात की निस्तब्धता में भी प्रियतम ने याद कर लिया तो वह सब कुछ पा लेगी।[2] पर यह मूक त्याग जीवन भर उसे रुलाता रहा। कवि ने नवम सर्ग में इस विषय का सुन्दर विवेचन किया है। उसमें प्रकृति-वर्णन कुछ परंपरा-बद्ध है, परन्तु फिर भी सुन्दर है। छंदों का क्षण-क्षण बदलना कवि की मनोवैज्ञानिकता को प्रकट करता है। उसके लिए वह रुदन ही गान बन जाता है।[3] हनुमान द्वारा लङ्का की कथा सुनने पर कवि ने उर्मिला की दर्पाकृति का भी चित्रण किया है, जो उसके आँसुओं में एक नवीन कांति उत्पन्न कर देता है। उसके आँसू मिलन में भी नहीं सूखते।[4] यों उर्मिला के आँसू ही आँसू साकेत में प्रधान हैं। लोगों का कहना है कि उर्मिला का अतिरुदन उसे सामान्य स्त्री बना देता है, जो महाकाव्य की नायिका में न होना चाहिए। हमारा कहना है कि गुप्त जी ऐसे युग में है जहाँ सामान्य ही लोक-प्रिय और उपयोगी है, अतः उर्मिला का चरित्र सुन्दर है, उसमें कोई कमी नहीं।

१—कहा उर्मिला ने—हे मन! तू प्रिय पथ का विघ्न न बन।
आज स्वार्थ है त्याग भरा। है अनुराग विराग भरा।

२—आराध्य-युग्म के सोने पर। निस्तब्ध निशा के होने पर।
तुम याद करोगे मुझे कभी। तो बस फिर मैं पा चुका सभी।

३—यही रुदन है मेरा गान, हे मेरे प्रेरक भगवान।

४—विरह रुदन में गया मिलन में भी मैं रोऊँ।
मुझे और कुछ नहीं चाहिए पद-रज धोऊँ।

उर्मिला से भी अधिक विकसित चरित्र कैकेयी का है। जिस कैकेयी को सबसे अधिक कलङ्किनी समझा जाता था वही गुप्त जी की सहानुभूति पाकर चिरकाल के लिए अपना कलंक प्रक्षालन कर उठी है। कैकेयी को गुप्त जी ने चित्रकूट की सभा में उपस्थित किया है। तुलसी की कैकेयी से राम चित्रकूट में सबसे पहले मिले हैं। उन्हें समझाया भी बहुत है। लेकिन 'उत्तरकांड' तक कैकेयी का संकोच और लज्जा दूर नहीं हुई है।[१] इसके विपरीत यहाँ 'साकेत' में कैकेयी ने चित्रकूट में ही अपना हृदय खोल दिया है और मंथरा का दोष भी दूर कर दिया है।[२] 'साकेत' में कैकेयी की ग्लानि बाँध तोड़ कर बह निकली है और उसके परिताप-प्रदर्शन में उसकी आत्मा बोल उठी है। वह कहती है

युग-युग तक चलती रहे कठोर कहानी—
'रघुकुल में भी थी एक अभागिन रानी।'
निज जन्म-जन्म में सुने जीव यह मेरा—
'धिक्कार! उसे था महास्वार्थ ने घेरा।'

तब कौन है जो उसकी दयनीय दशा पर न रोया हो। लक्ष्मण की मूर्छा की बात सुन कर वह युद्ध में जाने को भी प्रस्तुत हो जाती है।[३] पति-वियोग से अधिक पुत्र के तिरस्कार ने उसे कहीं का न रखा।

१—(अ) प्रथम राम भेंटी कैकेई। सरल सुभायँ भगति-मति भेई॥
(ब) रामहिं मिलत कइकई, हृदय बहुत सकुचानि।

२—क्या कर सकती थी, मरी मंथरा दासी,
मेरा ही मन रह सका न निज विश्वासी।

३—भरत जायगा प्रथम और यह मैं जाऊँगी,
ऐसा अवसर भला दूसरा कब पाऊँगी?

तब वह कहती है कि और मैं कुछ नहीं चाहती, मैं केवल भरत की माता बनी रहना चाहती हूँ। यही मेरी प्रार्थना है।[1] कैकेयी के इस हृदय-दर्शन के बाद हममें तो उसके प्रति घृणा है नहीं, औरों की बात हम जानते नहीं। गुप्त जी की कैकेयी अमर है।

इन दो चरित्रों के अतिरिक्त भरत के चरित्र का विकास भी अत्यंत सुन्दर है। यद्यपि तुलसी की भाँति वे भ्रातृ-भावना के प्रतीक हैं परन्तु वे कौशल्या और उर्मिला के सामने अपने को अपराधी समझते हैं, इसमें गुप्त जी आगे बढ़ गये हैं। 'रामचरितमानस' में केवल आँसू ही हैं पर यहाँ आँसू के साथ युद्ध में बलिदान होने की भी भावना है। यहाँ उनमें मातृ-प्रेम, भ्रातृ-प्रेम और कर्तव्य-प्रेम तीनों का विकास है। करुणा का विकास यहाँ भी गुप्त जी दिखाने से नहीं चूके। भरत कहते हैं—

एक न मैं होता तो भव की क्या असंख्यता मिट जाती।
छाती नहीं फटी यदि मेरी तो धरती ही फट जाती॥

परन्तु माडंवी समाधान करती हैं कि यह सब कुछ होने पर भी तुम्हारे अभाव में भ्रातृ-भावना निराश्रित भटका करती—

मेरे नाथ, जहाँ तुम होते, दासी वहीं सुखी होती।
किंतु विश्व की भ्रातृ-भावना, यहाँ निराश्रित ही रोती॥

इस प्रकार 'साकेत' में प्रमुख रूप से इन्हीं उपेक्षित और ग्लानि-भरे हृदयों का करुण चित्र है। वैसे राम, सीता, दशरथ, लक्ष्मण तथा हनुमान आदि के भी चित्र अच्छे उतरे हैं। लक्ष्मण तो मूक हैं—उसी प्रकार जैसे तुलसी के लक्ष्मण। पर गुप्त जी असमर्थ थे, प्रभु

१—छीने न मातृपद किंतु भरत का मुझसे,
हे राम, दुहाई करूँ और क्या तुमसे!

की भक्ति में उन्हें इससे अधिक की गुंजायश न थी। हाँ, उन्होंने लक्ष्मण का सैनिक भाव जागृत रखा है। सीता जी वही जगज्जननी के रूप वाली हैं जो तुलसी की हैं, परंतु उनका चित्रण आधुनिक रूप में अधिक है। वे आत्मबल से जंगल में भी मंगल मनाती हैं और उनकी पंचवटी की कुटी में राजभवन का सुख है—"मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया।" वस्तुतः गांधी जी के शब्दों में—"रामचरित-मानस' के सीता-राम 'साकेत' में नायकों के भी नायक और सबके शिक्षक अथवा शासक के रूप में प्रतिष्ठित हैं।"

'यशोधरा' कवि की दूसरी अमर कृति है। इसमें गौतम का गृह-त्याग और उनके बुद्ध होकर लौटने की कथा है। कथा का तो नाम है, कवि ने गौतम के बुद्ध बनने के मूल में उनकी पत्नी गोपा—यशो-धरा—की, अंतर्व्यथा चित्रित की है, जिसे वे सोती छोड़ गए थे। इसके मुख पृष्ठ पर निम्नलिखित पंक्तियाँ हैं, जो स्त्री-जीवन का सूत्र-रूप में रहस्योद्घाटन कराती हैं—

अबला जीवन, हाय ! तुम्हारी यही कहानी—
आँचल में है दूध और आँखों में पानी !

उर्मिला की भाँति वह भी वियोगिनी है—पर उसके पति उससे छिपकर गए हैं, यही उसे दुःख है।[1] दुःख होना स्वाभाविक है। यशोधरा वह क्षत्राणी है, जो क्षात्र-धर्म के नाते प्रियतम को स्वयं सुसज्जित कर रण में भेजती हैं।[2] यशोधरा का चरित्र उर्मिला से कई

१—सिद्धि-हेतु स्वामी गये, यह गौरव की बात;
पर चोरी-चोरी गये यही बड़ा व्याघात।

२—स्वयं सुसज्जित करके क्षण में, प्रियतम को प्राणों के पण में
हमी भेज देती हैं, रण में, क्षात्र धर्म के नाते।

बातों में भिन्न है। वह उर्मिला की अपेक्षा संतुष्ट है क्योंकि उसके पास शिशु है—संतोष के लिए। तभी वह इसका दुःख मानती है कि प्रियतम को स्वयं विदा करती तो अच्छा होता। वह मौन भी है और गंभीर भी, यह सब उस शिशु के कारण ही है। अभाव कुछ तो मिट ही गया है। एक आलोचक ने कहा है कि उर्मिला के आँसू यदि यशोधरा को मिल जाते तो उसका चरित्र बहुत ऊँचा और स्वाभाविक होता, पर यह कथन मनोविज्ञान के विपरीत है। गुप्त जी ने इसको सफलता से निभाया है। हाँ, उर्मिला के आँसुओं पर लोगों ने जो व्यंग किए थे, उनसे प्रभावित होकर सम्भवतः उन्होंने 'यशोधरा' को और भी अधिक सहिष्णु बना दिया है। तभी वह गौतम के तथागत होकर—बुद्ध होकर—लौट आने पर भी नहीं मिलती और स्वयं गौतम को आना पड़ता है। तभी वह मुक्ति को भी तिरस्कार की दृष्टि से देखती है।[१] दूसरी बात यह है कि उर्मिला के वियोग की अवधि थी पर यशोधरा का वियोग निरवधि था। उसे तो आशा ही नहीं थी कि मिलन होगा भी या नहीं। वह तो अपनी निजी शक्ति और नारीत्व के अभिमान से ही जीवित रही है। उसका यही मान गौतम के मुख से यह कहला पाया है कि—"दीन न हो गोपे, सुनो, हीन नहीं नारी कभी!" यह नारी की विजय है, जिसे यशोधरा द्वारा गुप्त जी ने चित्रित किया है। जिस नारी को मुक्ति के लिए बुद्ध छोड़ गए थे उसी से मुक्त होने पर यह कहना मानो नारी की श्रेष्ठता का प्रमाण पत्र देता है।

वास्तव में 'यशोधरा' भारतीय नारी जीवन के आदर्श की प्रतिमा

१—पाना चाहे तो मुझे मुक्ति ही पावे।
मेरा तो सब कुछ वही, मुझे जो भावे।

है। उसमें नारीत्व की युग-व्यापी चेतना की वाणी मिली है। बुद्ध का व्यापक निर्वाण तत्त्व वैष्णव धर्म की व्याख्या से अभिभूत होकर और भी रमणीय बन गया है। यह समन्वय करके गुप्त जी ने मानो वैष्णव धर्म की व्यापकता की ओर संकेत किया है। 'यशोधरा' अनुरागिनी, मानिनी और जननी तीनों रूपों में नारी वर्ग की श्रद्धा और वंदना की पात्र है।

'द्वापर' गुप्त जी की निराली कृति है। उसकी वस्तु, उसकी शैली, उसकी कला और उसका उद्देश्य सब निराले हैं। श्रीमद्भागवत के आधार पर श्रीकृष्ण-चरित का वर्णन किया गया है। पात्रों के नाम पर सर्गों का विभाजन हुआ है। हर पात्र आत्म-कथा द्वारा अपने चरित्र की विशेषतायें उद्घाटित करता है। श्रीकृष्ण, राधा, यशोदा, बलराम, देवकी, उग्रसेन, कंस, नंद, कुब्जा, उद्धव, गोपी आदि विख्यात पात्रों के अतिरिक्त 'विधृता' जैसे अविख्यात पात्र भी हैं। पुरुषों में वीरता का भाव प्रधान है, स्त्रियों में करुणा का। यह कृति गुप्त जी ने राम-चरित्र और बुद्ध-चरित्र के गान के बाद लिखी है और इसमें इन दोनों की विशेषताओं के साथ नया विकास दृष्टिगोचर होता है। अब तक उर्मिला, यशोधरा आदि ख्यात नारी पात्रों को ही उन्होंने सहानुभूति दी थी, परंतु 'द्वापर' में विधृता जैसी सामान्य नारियों में भी महानता प्रदर्शित की गई है और इस प्रकार असाधारणता से साधारणता, महानता से लघुता की ओर उनकी प्रवृत्ति हुई हैं, जो युग के अनुकूल है। उसमें भी विधृता पति द्वारा त्यक्ता या वियोगिनी नहीं, वह निरादृता और पीड़िता है, जो भगवान के दर्शन करने का अधिकार भी नहीं रखती और पति द्वारा ताड़ित होकर अंत में शरीर छोड़ देती है। इसमें नारी का तीव्र तेज है। विधृता ने अपने बलिदान से कामी पति

से यह कहलाया है कि—

नर के बाँटे क्या नारी की नग्न-मूर्ति ही आई ?
माँ, बेटी या बहिन हाय ! क्या संग नहीं वह लाई ?

यह युग की समस्या है कि नारी को हम केवल वासना-पूर्ति का साधन ही समझते हैं, बेटी या बहिन नहीं। यह हमारी अनैतिकता है। आज की स्त्री की दशा तो यह है कि वह अविश्वास की पात्र है और मरने के अतिरिक्त उसके पास कोई मार्ग नहीं है।[1]

इसके साथ अन्य चरित्रों का भी विकास हुआ है लेकिन चरित्र-विकास की अपेक्षा उसमें युग की समस्याओं के समाधान की प्रवृत्ति अधिक है। उसमें क्रांति के लिए आत्म-स्वीकृति रखी गई है और राधा के द्वारा देवियों को भी उसके लिए तैयार होने का विधान किया गया है। क्रांति दैनिक जीवन का अंग समझी जाय, इस पर अधिक ज़ोर दिया गया है। उसमें आधुनिक बुद्धिवादी युग की समस्त समस्याओं को छूने का प्रयास है और क्रांति—सर्वतोमुखी क्रांति—उसका ध्येय है।

'नहुष' चौथी रचना है, जिसमें गुप्त जी ने अपनी कुशलता प्रकट की है। उसमें वृत्रासुर-वध के कारण इन्द्र के जल-समाधि लेने पर नहुष के इंद्रासीन होने और वहाँ शची के साथ अमानवीय व्यवहार करने पर स्वर्ग से पतित होने का वर्णन है। सौंदर्य-राशि शची की

१—हा अबला ! आ, अरी अनादर-
अविश्वास की मारी।
मर तो सकती है अभागिनी,
न सके कुछ नारी।

एक झलक ही उसे यहाँ तक बेहोश बना गई कि जब शची ने यह कहा कि सप्तर्षि द्वारा खींची गई पालकी में यदि नहुष आए तो वह उसकी प्रणय-याचना स्वीकार करेगी तो वैभव के मद में दीवाना नहुष भूल गया कि जिन ऋषियों ने उसे मर्त्य लोक से इंद्रासन के लिए चुना है, वही उसे इस न्यवहार पर नीचे पाताल तक गिरा सकते हैं। और हुआ भी यही। शिथिल गति से जाते ऋषियों को कामातुर नहुष ने कहा—"सर्प सर्प" (बढ़ते चलो, बढ़ते चलो)। मूर्खतावश अगस्त्य ऋषि को पाद-प्रहार द्वारा उत्तेजित भी किया। परिणाम यह हुआ कि अगस्त्य ऋषि के शाप से वह सर्पयोनि में पतित हुआ और फिर मर्त्यलोक में आगया।

इसमें जीवन के उत्थान और पतन की विवेचना की गई है। मनुष्य प्रयत्न करता है और ऊपर उठता है परन्तु निम्नवृत्तियाँ उसे फिर नीचे जाने को प्रेरित करती हैं। यह तो शाप की बात है कि 'नहुष' पतित हुआ पर वैसे भी जीवन में यही क्रम रहता है। इस काव्य की विशेषता यह है कि अमर लोक के भोग-विलास-पूर्ण जीवन में भी एक-पति-निष्ठा के आदर्श की उन्होंने स्थापना की है। शची गुप्त जी के काव्य की निराली नारी है, जो इस प्रकार की समस्या की पात्री बनी है। परन्तु 'नहुष' की निम्न-पंक्तियों में गुप्त जी ने आशा-वादिता और ज़ीवन के सत्य को रख कर नहुष के पतन की सार्थकता सिद्ध की है और एक नया दृष्टिकोण रखा है—

> गिरना क्या उसका उठा ही नहीं जो कभी
> मैं ही तो उठा था आप, गिरता हूँ जो अभी।
> फिर भी उठूँगा और बढ़ के रहूँगा मैं।
> नर हूँ पुरुष हूँ मैं, चढ़के रहूँगा मैं॥

गुप्त जी ने आरंभिक स्फुट कविताओं में 'नर हो न निराश करो मन को, पुरुष हो पुरुषार्थ करो उठो', जैसी चीजें दी हैं। मानो अब वे फिर उसी आशावाद को जाग्रत कर रहे हैं—वीर तथा करुणा की भावनाओं और कला की पूजा के बाद यह संदेश कितना महान् है !

गुप्त जी की ये चारों कृतियाँ कला की दृष्टि से ही नहीं प्रतिपाद्य विषय की महत्ता की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हैं। अतः यहाँ हमने उन्हें उनकी प्रतिनिधि रचनाओं की दृष्टि से लिया है। हो सकता है, औरों को अन्य कृतियों में भी कुछ इस कोटि की जँचें। एक कारण और भी है, जिससे हमने इन कृतियों को चुना है, कि सर्वत्र गुप्त जी सांस्कृतिक समन्वय के साथ गार्हस्थ्य जीवन के कवि हैं। बंगाल के उपन्यासकार शरत् ने जो कार्य अपने उपन्यासों द्वारा किया है वही कार्य गुप्तजी ने अपनी कविता द्वारा किया है। शरत् भी वैष्णव थे और भारतीय नारी को घरेलू जीवन में पुनः प्रतिष्ठा देना चाहते थे। गुप्त जी भी वैष्णव हैं और उनकी नारी-भावना भी उसी कोटि की है। अतः हम उन्हें भारतीय संस्कृति के गार्हस्थ्य-जीवन का कवि कहें तो अत्युक्ति न होगी। उनकी उर्मिला यशोधरा, कुन्ती, सुरभि, शची, विधृता आदि सभी प्रमुख नारियाँ भारतीय संस्कृति की नवीन व्याख्या प्रस्तुत करती हैं। इससे प्रकट है कि गुप्त जी का उद्देश्य भारतीय संस्कृति का नारी के माध्यम से नया रूप उपस्थित करना है, जो युग के अनुकूल है। संभवतः इसीलिए उन्होंने कहीं कहा है कि जाति, देश और विश्व की समस्या को सुलझाने की बात तो दूर रही, मैं तो केवल 'कौटुम्बिक कवि' हूँ। कवि की इस आत्म-स्वीकृति से उसकी राष्ट्रीयता या अराष्ट्रीयता का झगड़ा मिट जाता है। वैसे गुप्त जी ने ऐसी पंक्तियाँ भी लिखी हैं,

जिनसे उनकी हिंदू-मुस्लिम सम्मिलन की भावना व्यक्त होती है और वे उनकी हृदय की ईमानदारी को बताती हैं।[१] लेकिन यदि उन्हें छोड़ भी दिया जाय तो हमारे कवि की कोई हानि नहीं, क्योंकि सांस्कृतिक जागरण का शंखनाद उसका ध्येय रहा है, और है। इसी सांस्कृतिक दृष्टि से वे मुसलमानों के प्रति अनुदार नहीं हुए। रही काव्यों की बात, सो वहाँ कविकर्म निभाना आवश्यक-सा हो गया है। इसके साथ ही 'स्वदेश-संगीत' और 'मंगल-घट' में संगृहीत राष्ट्र-प्रेम और देशभक्ति की कविताएँ इसका प्रमाण हैं कि भारत-भूमि को वे अत्यधिक प्यार करते हैं और उन्हें उसकी जय-जयकार मनाने में आनन्द आता है—"जय-जय भारत-भूमि भवानी" में यही मातृभूमि-पूजा की भावना है। सारांश यह कि कवि की राष्ट्रीयता में सांस्कृतिक तत्त्व हैं जो उदारता से मानव-मात्र को अपनाने में सक्षम हैं।

गुप्त जी ने कविता सोद्देश्य की है। केवल 'कला के लिए कला' के सिद्धान्त को वे नहीं मानते। उन्होंने अपने 'साकेत' में इस बात को अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया है कि कोरा यथार्थवाद कला की दृष्टि

१—हिंदू-मुसलमान अब दोनों छोड़ें विग्रह की नीति।

\+ + +

कोई काफिर कोई म्लेच्छ हो तो होता रहे यथेच्छ।
हिंदू मुसलमान की प्रीति मेटे मातृभूमि की भीति।

\+ + +

मातृभूमि का नाता मान, हैं दोनों के स्वार्थ समान।

\+ + +

भारत माता का यह मंदिर नाता भाई भाई का।
समझे माँ की प्रसव-वेदना वही लाल है माई का।

से हेय है। किसी वस्तु को ज्यों का त्यों चित्रित कर देना कला नहीं है, कला तो यह बताती है कि वह वस्तु कैसी होनी चाहिए थी, यही कला का साध्य है। जो कला को कला के लिए ही मानते हैं, वे कला को उसके पद से हटाकर उसे स्वार्थिनी बनाते हैं। उसका संबंध जीवन से है।[1] 'हिंदू' की भूमिका में भी उन्होंने स्पष्ट कहा है कि "कवित्व स्वच्छन्दता-पूर्वक स्वर्ग के छाया-पथ पर आनंद से गुनगुनाता हुआ विचरण करे अथवा वह स्वर्गंगा के निर्मल प्रवाह में निमग्न होकर अपने पृथ्वीतल के पापों का प्रक्षालन करे लेखक उसे आयत्त करने की चेष्टा नहीं करता। उसकी तुच्छ तुकबंदी सीधे मार्ग से चलती हुई राष्ट्र किंवा जाति गंगा में ही एक डुबकी लगाकर 'हर गंगा' गा सके तो वह इतने ही से कृत-कृत्य हो जायगा।" स्पष्ट हीं उनका उद्देश्य राष्ट्र अथवा जाति के कल्याण के लिए कविता लिखने का है। उनका विचार भी ठीक है क्योंकि कवित्व ही पथ्य को मधुर बना कर परोसता है। अतएव गुप्त जी क कला केवल मनोरंजन का साधन नहीं है, क्योंकि उनकी दृष्टि में केवल मनोरंजन ही कवि का कर्म न होना चहिए।[2] इस दृष्टि से उनकी

१—हो रहा है जो जहाँ सो हो रहा,
 यदि वही हमने कहा तो क्या कहा ?
 किंतु होना चाहिए कब क्या कहाँ,
 व्यक्त करती है कला ही यह यहाँ।
 मानते हैं जो कला के अर्थ ही,
 स्वार्थिनी करते कला को व्यर्थ ही।

२—केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए।
 उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चहिए।

कविता यथार्थ और आदर्श का मधुर सामंजस्य करती प्रतीत होगी।

गुप्त जी का कार्य-क्षेत्र विशाल है, यह हमने देखा है। इस विशाल कार्य-क्षेत्र में काव्य की शैलियाँ भी भिन्न भिन्न हैं। प्रबंध और मुक्तक तथा गीति काव्य तीनों उन्होंने लिखे हैं। 'साकेत,' 'यशोधरा' आदि में उनकी प्रबंध-पटुता व्यक्त होती है, बल्कि यों कहें उन्हें सफलता ही इन काव्यों में मिली है तो अत्युक्ति न होगी। लिखे भी प्रबंध कव्य ही उन्होंने अधिक हैं। मुक्तक के क्षेत्र में वे उतने सफल भले ही न हों जितने प्रबंध-काव्य के क्षेत्र में, तो भी उन्हें असफल नहीं कहा जा सकता था। 'भारत-भारती' को आप कैसे भुला सकते हैं! उसने हिंदी में मुक्तक की प्रणाली में एक नई दिशा की ओर संकेत किया है। गीति-काव्य तो उनमें पीछे आकर अत्यधिक प्रबल हो गया है। 'झंकार' जो उनकी आत्मा-परमात्मा संबंधी कविताओं का संग्रह है जिससे वे लोगों की दृष्टि में आधुनिक छायावादी या रहस्यवादी कवियों में कोटि में आ जाते हैं, गीति-काव्य का अच्छा नमूना नहीं है, उसका परिष्कृत रूप हमें उनके प्रबंध काव्यों में मिलता है, उसी प्रकार जैसे प्रसाद जी के सुन्दर गीत उनके नाटकों में बिखरे पड़े हैं। 'साकेत' का नवम सर्ग इस दृष्टि से द्रष्टव्य है। उर्मिला के विरह के एक-एक आँसू से उसका हर गीत स्निग्ध है। 'द्वापर' का तो प्रत्येक सर्ग मर्मोद्गार है ही। 'यशोधरा' के लिए तो स्वयं कवि ने 'शुल्क' में अपने अनुज श्री सियारामशरण गुप्त को संबोधित करके कहा है कि "कहानी तुम्हें रुची हो या नहीं, परंतु तुम अकेले ही मेरे लिए उस गृहस्थ के सम्मिलित कुटुंब हो रहे हो! मेरी शक्ति का विचार किए बिना ही मुझसे ऐसे अनुरोध किया करते हो—कविता लिखो, गीत लिखो, नाटक लिखो। अच्छी बात है। लो कविता, लो गीत

लो नाटक और लो गद्य-पद्य, तुकान्त-अतुकान्त सभी कुछ, परन्तु वास्तव में कुछ भी नहीं !" इस से 'यशोधरा' की शैली तो व्यक्त है ही, कवि की आधुनिक काल की सभी प्रचलित शैलियों की जानकारी भी स्पष्ट है। श्री सत्येंद्र ने गुप्त जी की शैलियों को छः भागों में बाँटा है[१]:—

१—प्रबंध काव्य की शैली, जिसमें महाकाव्य (साकेत) और खण्डकाव्य (पंचवटी, रंग में भंग आदि) हैं।

२—वर्णन या विवरण-शैली, जिसमें 'भारत-भारती' और 'हिंदू' आते हैं.

३—गीति नाट्य शैली, जिसमें 'अनघ' आता है।

४—गीति शैली, जिसमें 'झंकार' लिखी गई है।

५—आत्मोद्‌गार प्रणाली, जिसमें 'द्वापर' की रचना हुई है।

६—मिश्र शैली अर्थात् नाटक, गीत, प्रबंध, पद्य और गद्य सभी के समावेश वाली शैली, जिसमें 'यशोधरा' की गणना हो सकती है।

लेकिन इन विभिन्न शैलियों का सफलता-पूर्वक उपयोग गुप्त जी इस लिए कर सके हैं कि उनका भाषा पर अधिकार है। भाषा उनके भावों के पीछे-पीछे चलती है और वे उसे चाहे जैसे मोड़ देते हैं। भाषा पर विचार करने से पहले यह देखना चाहिए कि लेखक का शब्द-भांडार कैसा है। इस दृष्टि से देखें तो गुप्त जी शब्दों के सम्राट हैं। लेकिन उनके शब्द संस्कृत के तत्सम शब्द अधिक होते हैं और कहीं-कहीं वे क्लिष्ट भी हो जाते हैं।[२] लेकिन जहाँ तद्भव

१—'गुप्त जी की कला'

२—गुणों को नहीं देखता त्वेष।

× × × ×

हे मेरे प्रतिभू तात-नंद। पाऊँ यदि आनंद कन्द।

शब्द होते हैं वहाँ भाषा में अनुपम प्रवाह और गति आ जाती है।[1] कहीं कहीं प्रांतीय भाषाओं के शब्द भी वे प्रयोग कर लेते हैं परंतु विदेशी भाषाओं के शब्दों से वे परहेज करते हैं। उनके काव्य में अरबी, फ़ारसी या अन्य भाषाओं के शब्द ढूँढने पर ही मिलेंगे। हाँ, भाषा में घुल मिलकर एक होने वाले विदेशी शब्द वे अवश्य ले लेते हैं।[2] मुहावरों या लोकोक्तियों का प्रयोग भी कम है और इससे भाषा में लोच कम आ पाया है। वह साँचे में ढली अवश्य प्रतीत होती है परंतु उसमें चलतापन नहीं है, जो भाषा की पहली विशेषता है। जहाँ कहीं प्रयोग किया भी गया है, वहाँ उन्होंने लोकोक्तियों को बदल दिया है—जैसे 'पंचवटी' में 'अँगुली पकड़ कर पहुँचा पकड़ने' को बदल कर 'अँगुलि पकड़ प्रकोष्ठ पकड़ लेना' कर दिया है। कहीं-कहीं तुक का आग्रह भी भाषा को कृत्रिम बना गया है, जिसमें अप्रचलित शब्द भी आगए हैं। गुप्त जी की भाषा का चमत्कार उनके संवादों में व्यक्त होता है या वहाँ व्यक्त होता है, जहाँ वे कोई दृश्य अंकित करना चाहते अथवा मनोभावों का वर्णन करते हैं। वहाँ उनकी भाषा में आश्चर्य-जनक शक्ति आ जाती है। थोड़े-से शब्दों में वे वहाँ ऐसा चित्र खींच देते हैं, जो व्याख्या के लिए पृष्ठ के पृष्ठ ले ले। 'साकेत' में उर्मिला के लक्ष्मण को प्रणाम करने का चित्र ऐसा ही है।[3] शब्दों में ध्वन्यात्मकता भी

१—अबला-जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी—
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।

२—मरम्मत कभी कुओं घाटों की। सफाइ कभी हाट बाटों की॥
आप अपने हाथों करता है। गंदगी से कब डरता है॥

३—चूमता था भूमितल को अर्द्ध विधु-सा भाल,
बिछ रहे थे प्रेम के दृग-जाल बन कर बाल।

विशेष रूप से वे रखते हैं। वहाँ भाव और गति के अनुरूप शब्द-चयन होने से सौंदर्य-वृद्धि के साथ अर्थ भी स्पष्ट हो जाता है।[1]

इस प्रकार विषय, भाव, भाषा, शैली और आदर्श चरित्रों की कल्पना की दृष्टि से गुप्त जी का स्थान हिंदी में सर्व प्रथम आता है। यद्यपि उन्होंने काव्य ही लिखा है तथापि उस काव्य में ही नाट्यकला, कहानी-कला और चित्र-कला को समाविष्ट कर दिया है। उनमें भावुकता और आदर्श का सामंजस्य है। उपयोगितावादी होने से कहीं-कहीं उनका उपदेशक का रूप प्रबल हो उठा है। उन्होंने नवीन और प्राचीन का समन्वय किया है। अतीत, वर्तमान और भविष्य की समस्याओं के लिए जो पुकार उन्होंने 'भारत-भारती' में लगाई थी उसी का उन्होंने अपने काव्यों की लंबी सूची में उत्तर दिया है। उत्तर सांस्कृतिक दृष्टि से ग्राह्य है। भारतीय संस्कृति के वे सफल गायक हैं और द्विवेदी युग और छायावादी युग के बीच की कड़ी बनकर हमारे सम्मुख आते हैं। इतने विस्तृत चित्रपट पर तूलिका चलाना और अनुकूल चित्र भी तैयार करना उन्हीं का कार्य है। भारतवर्ष के लिए उनमें अगाध ममता और प्रेम है और वे उसके खोए दिनों को पुनः देखने के लिए विकल हैं। यही व्याकुलता

छत्र-सा सिर पर उठा था प्राणपति का हाथ,
हो रही थी प्रकृति अपने आप पूर्ण सनाथ।

१—सखि निरख नदी की धारा,
ढलमल ढलमल चंचल अंचल, झलमल झलमल तारा।
निर्मल जल अंतस्तल भरके, उछल उछल कर छल-छल करके।
थल थल तरके, कल कल धरके, बिखराता है पारा।

उनके काव्य का मूल तत्त्व है। श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी ने 'हमारे साहित्य-निर्माता' पुस्तक में लिखा था—"किसी माला में प्रथम मणि, उपवन में प्रथम पुष्प, गगन में प्रथम नक्षत्र का जो महत्त्वपूर्ण स्थान हो सकता है, वही वर्तमान कविता में गुप्त जी का है। अतएव वर्तमान कविता के प्रधान और प्रतिनिधि कवि बाबू मैथिलीशरण गुप्त ही हैं।"

द्विवेदी जी का यह कथन यथार्थ है। गुप्त जी निस्संदेह इस स्थान के अधिकारी हैं और हम उन्हीं के स्वर में स्वर मिलाकर कहते हैं कि उन्होंने जो आवाज़ अपने काव्य के उत्थान-काल में उठाई थी कि उनकी 'भारती भारतवर्ष में गूँजे,' वह आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों, गूँजेगी और सारे भारत में छा जायगी। हिन्दी राष्ट्र-भाषा के लिए वह दिन दूर नहीं है, जब समस्त भारतीय एक स्वर से यही गायेंगे—

मानस-भवन में आर्यजन, जिसकी उतारें आरती
भगवान् भारतवर्ष में गूँजे हमारी भारती।



जयशंकर 'प्रसाद'

श्री जयशंकर 'प्रसाद' संक्राति काल के कवि थे। संक्राति काल के कवि को कार्य करने में विशेष कठिनाई होती है, क्यों कि उसे एक ओर तो प्राचीनता की प्रतिष्ठा से संयत विद्रोह करना पड़ता है और दूसरी ओर नवीनता का नियंत्रित रूप अपनाना पड़ता है। ये दोनों कार्य बड़े कठिन हैं। इसीलिए संक्रांति काल के कवि को साधारण कवि से अधिक परिश्रम और साधना करनी पड़ती है। साधारण कवि तो केवल पिछली चली आती परंपरा का पालन मात्र करते रहते हैं, उन्हें न विरोध की चिन्ता होती है न अपने ऊपर अन्य किसी प्रकार के ख़तरे की आशंका होती है। परम्परा का राजमार्ग उनके लिए खुला रहता है और वे निर्द्वन्द्व उस राजमार्ग पर बढ़े चले जाते हैं। इसके विपरीत संक्राति काल के कवि का मार्ग कंटकाकीर्ण होता है, ऊबड़-खाबड़ होता है और उसे पग-पग पर गिरने का भय बना रहता है। उसकी स्थिति बड़ी नाज़ुक होती है। ऐसी स्थिति में उसे बड़े कौशल से काम लेना पड़ता है। वह अपनी ही प्रतिभा के प्रकाश में मार्ग की बाधाओं की तमराशि को दूर करता है और उसे प्रशस्त करता चलता है। उसके लिए कोई प्राचीन आदर्श नहीं होता। वह युग-निर्माता होता है, अतः उसे स्वयं ही सब कुछ करना पड़ता है। प्रसाद जी ऐसे ही कवि थे। उनके समय में हिंदी साहित्य में विचित्र उथल-पुथल थी। भारतेन्दु युग का अन्त हो चुका था और द्विवेदी-युग का आरंभ होने वाला था। इस युग-परिवर्तन के काल में काव्य के उपकरणों को बदलने की चेष्टा

अधिक हो रही थी। भाषा, भाव, छंद आदि की प्राचीन प्रणाली को छोड़ने और उसकी नवीन रूप में स्थापना करने की ओर लोगों का विशेष ध्यान था। सब से अधिक विवादास्पद प्रश्न काव्य-भाषा का था। भारतेन्दु ने खड़ी बोली को तो अपना लिया था परंतु ब्रजभाषा को भी न छोड़ा था। उन्होंने ब्रजभाषा को अपनाया ही नहीं उसको नवयुग के अनुकूल भावों और विचारों का 'टानिक' भी दिया और कहा कि गद्य के लिए खड़ी बोली भले ही अपना ली जाय, पद्य के लिए ब्रजभाषा ही उपयुक्त है। यही विचार भारतेन्दु-युग में प्रधान रहा और द्विवेदी-युग के प्रारंभ तक भी यही भावना रही। द्विवेदी युग क्या, आज भी छायावाद और प्रगतिवाद युग तक ब्रजभाषा को ही काव्य के उपयुक्त भाषा मानने वालों की कमी नहीं है, और आज भी अनेक व्यक्ति ऐसे मिल सकते हैं, जो खड़ी बोली की कविता को कविता ही नहीं मानते। उस काल की तो बात ही और है। ब्रजभाषा के एक-छत्र साम्राज्य की जड़ों को हिलाने के लिए द्विवेदी जी ने पद्य और गद्य की भाषा की एकता पर ज़ोर दिया। अंग्रेज़ी में कवि वर्ड्सवर्थ ने भी ऐसा ही किया था। हिंदी में इस आंदोलन का प्रभाव बढ़ा और खड़ी बोली को अपनाया जाने लगा। लेकिन ब्रजभाषा को छोड़ना अत्यंत कठिन था इसलिए उसका प्रभाव बराबर बना रहा। ब्रजभाषा का प्रभुत्व कम होने का एक कारण यह भी था कि उसमें शृंगार रस की रचनाएँ होती थीं। ये रचनाएँ उसी कोटि की थीं, जैसी कि बिहारी, पद्माकर आदि की होती थीं। उनमें समस्या-पूर्तियों का मूल्य अधिक था। शृंगार रस और समस्या-पूर्ति की प्रथा से ब्रजभाषा ने अपने पतन का मार्ग स्वयं बनाया था। इतिहासकारों ने इस बात को भुला-सा दिया है

कि यदि ब्रजभाषा में भारतेन्दु द्वारा प्रचारित नव-युग की भावना के अनुकूल नवीन विषय और भावों को अपनाया जाता और समस्या-पूर्ति में शृंगार रस की प्यालियाँ न पिलाई जातीं तो निस्संदेह द्विवेदी जी को खड़ी बोली को जमाने में लोहे के चने चबाने पड़ते। द्विवेदी जी को खड़ी बोलो को जमाने में सब से बड़ी सहायता इस बात से मिली कि उन्होंने शृंगार के विरोध में लोगों को खड़ा कर दिया। उस युग में राष्ट्रीयता और सामाजिकता के पुनर्जीवन का प्रश्न भी था। द्विवेदी जी ने कविता की शुद्धि का कार्य किया और शृंगार का बहिष्कार कर दिया। उनके युग को आदर्शवादी युग या पवित्रतावादी युग इसीलिए कहा जाता है कि उसमें नारी का वर्णन यथा-संभव ऐसा किया जाता था, जिसमें शृंगार का न्यूनातिन्यून अंश हो। राष्ट्रीय भावनाओं और आर्यसमाज के द्वारा इस पवित्रतावादी युग को और बल मिल गया। यों एक युग से चली आती काव्य-परंपरा से 'रस-राज' (शृंगार) का निर्वासन कर देने से कविता में उपदेश की प्रमुखता रह गई और भले ही द्विवेदी युग वाले व्यक्ति अपने क्रांतिकारी सुधारों पर गर्व करते रहे हों, उन्होंने कविता को तो उसके आसन से गिरा ही दिया।

प्रसाद जी ऐसे संक्राति काल के कवि थे। वे काशी में जन्मे थे। अतः भारतेन्दु युग के समस्त संस्कार उन्हें विरासत में मिले थे। उन्होंने लिखना भी ब्रजभाषा में आरंभ किया था। समस्या-पूर्ति से लेकर सभी प्रकार की रचनाएँ उन्होंने ब्रजभाषा में लिखी हैं। उनमें नवीन भावनाएँ भी नए रूप में प्रदर्शित की गई हैं। लेकिन जब प्रसादजी ने देखा कि ब्रजभाषा से काम नहीं चलेगा तो स्वयं वे खड़ी बोली में लिखने लगे और उन्होंने अपनी ब्रजभाषा की माधुरी को खड़ी

बोली में ढाला। द्विवेदी जी के प्रभाव से बाहर रहकर ही उन्होंने यह कार्य किया। यही कारण है कि वे श्री मैथिलीशरण गुप्त से, जो द्विवेदी जी के शिष्य हैं, भिन्न मार्ग के पथिक रहे और उनसे आगे छायावाद का नेतृत्व कर सके। छायावाद ही नहीं, उन्होंने तो प्रगतिवाद के युग का भी प्रभाव सहर्ष माना है। यदि असमय वे न चले गए होते तो संभव है कि वे प्रगतिवाद को भी कुछ अमूल्य देन देते। एक साथ एक व्यक्ति चार-चार युगों में रहकर अपने अस्तित्व की रक्षा कर सके यह प्रसाद जी जैसे प्रतिभाशाली व्यक्ति का ही कार्य था। भारतेन्दु युग के अवशिष्ट संस्कार लेकर, द्विवेदी जी की इतिवृत्तात्मक कविता की छानबीन द्वारा उन्होंने छायावाद की कविता का वह सूक्ष्म विधान दिया जो निराला तथा पंत जी द्वारा सज्जित होकर अपनी अभिव्यंजना की व्यापकता के कारण प्रगतिवाद का भी आवाहन कर सका। प्रसाद जी ऐसे महान् कवि थे।

प्रसाद जी का जन्म काशी के एक प्रतिष्ठित वैश्य परिवार में संवत् १९४६ में हुआ। उनके पितामह बाबू शिवरत्न साहू जी बड़े उदार और धर्मात्मा पुरुष थे। वे सुँघनी साहू के नाम से विख्यात थे। उन्होंने पान में खाने वाली सुर्ती गोली का आविष्कार किया था, जो काशी की अनोखी चीज़ है। वे कवि, भाट और विद्वानों के भक्त थे और उनका बड़ा सम्मान करते थे। लोग उनके बड़प्पन के कारण उनको महादेव कहकर पुकारा करते थे। पिता श्री देवीप्रसाद जी भी ऐसे ही दानी और विनम्र व्यक्ति थे। विद्वानों और गुणियों का जमघट उनके यहाँ भी बराबर लगा रहता था। प्रसाद जी को ऐसे परिवार में जन्म लेने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

ग्यारह वर्ष की अवस्था में उन्हें अपनी माता जी के साथ धारा

क्षेत्र, ओंकारेश्वर, पुष्कर, उज्जैन, जयपुर, ब्रज और अयोध्या आदि की यात्रा करने का अवसर मिला। अमरकंटक पर्वत माला के बीच नर्मदा में चाँदनी रात में उन्होंने नौका-विहार किया था। उस प्राकृतिक दृश्य का उनके हृदय पर बड़ा अद्‌भुत प्रभाव पड़ा और कविता में प्रकृति को सौंदर्य-राशि एक कौतूहल का सृजन करने के लिए सदैव के लिए उनकी आत्मा में समा गई। पीछे उन्होंने पुरी, महोदधि और भुवनेश्वर की भी यात्रा की थी। इस यात्रा में वे समुद्र की विशालता और गंभीरता के परिचय में आए और अमर-कंटक की यात्रा में पार्वतीय दृढ़ता और उच्चता के संपर्क में। उनकी कविता में प्रकृति की इन विराट् शक्तियों से प्रेरित भावनाओं के फल-स्वरूप गंभीरता और विशालता दोनों मिलती हैं। 'कामायनी' में समुद्र का जो वर्णन है; वह पुरी के समुद्र-दर्शन के प्रभाव में ही लिखा गया है। प्रसाद जी ने जो कुछ लिखा घर ही बैठकर लिखा है, वे भ्रमण बहुत कम कर सके। लेकिन वे कल्पना के धनी थे और उससे अपनी इस कमी को दूर करने में उन्हें कठिनाई नहीं हुई।

बारह वर्ष की अवस्था में पिता और पन्द्रह वर्ष की अवस्था में माता का देहांत हो जाने से प्रसाद जी की स्कूली शिक्षा कुछ भी नहीं हो पाई। केवल ७वें दर्जे तक क्वींस कालिज में पढ़े। लेकिन उन्होंने घर पर संस्कृत और अंग्रेज़ी का अच्छा अध्ययन किया था। इसलिए उनकी वह कमी दूर हो गई। दीनबन्धु ब्रह्मचारी संस्कृत के धुरंधर विद्वान थे। उन से वेद और उपनिषद् का ठोस ज्ञान प्राप्त करने के कारण प्रसाद जी का जीवन दर्शन-मय हो गया था और यही उनके भारतीय संस्कृति के प्रेमी होने का कारण है।

प्रसाद जी को दंड-बैठक करने का बड़ा शौक था और कहते हैं कि वे हज़ार तक दंड-बैठक लगाते थे। कुश्ती भी शायद कभी-कभी लड़ते थे। साथ ही घर पर समस्या-पूर्ति का बाज़ार गर्म रहता था। बड़े-बड़े कवि आते थे और आधी-आधी रात तक कवित्तों की झड़ी लगी रहती थी। प्रसाद जी ने भी छिप-छिप कर समस्या-पूर्ति करना आरंभ किया था। इसे देखकर बड़े भाई ने पहले तो उन्हें रोकने की चेष्टा की परंतु जब कवियों ने प्रशंसा की तो उन्हें लिखने की आज्ञा मिली। सत्रह वर्ष की अवस्था में बड़े भाई भी चल बसे और प्रसाद जी अकेले रह गए। इतनी बड़ी संपत्ति और अकेले लड़के। कुटुम्बियों ने उन्हें परेशान किया, परंतु वे घबराये नहीं और बराबर संघर्ष करते आगे बढ़ते गए। इसी बीच स्वयं एक नहीं दो नहीं, तीन-तीन शादियाँ उन्होंने कीं। कौटुम्बिक षड्यन्त्रों और विशेष रूप से ऋण के कारण प्रसाद जी सदैव चिंतित रहा करते थे पर मुख-मुद्रा कभी मलिन नहीं होती थी।

सामाजिक ही नहीं साहित्यिक जीवन में भी उन्हें कठिनाई थी। 'सरस्वती' द्वारा उन्हें बिलकुल प्रोत्साहन नहीं मिलता था। इसलिए उन्होंने अपने भानजे द्वारा 'इन्दु' मासिक पत्र निकलवाया था, जिसमें उनकी रचनाएँ बराबर निकला करती थीं। उस पत्र को वे आर्थिक सहायता भी देते थे। उनकी सबसे पहली कहानी 'ग्राम' इसी पत्र में छपी थी।

प्रसाद जी अपने व्यवसाय के भी पूर्ण ज्ञाता थे। पर उधर उनकी रुचि न थी। वे तो प्रातःकाल से सायंकाल तक साहित्य-चर्चा में रत रहते थे। वे बड़े गंभीर और शांत प्रकृति के थे। कभी किसी कवि-सम्मेलन या सभा-सोसायटी में नहीं जाते थे। शायद ही

उन्होंने किसी कवि-सम्मेलन में कविता पढ़ी हो। वे ऐसे स्वभाव के थे कि कटु से कटु आलोचक को भी कभी उत्तर नहीं देते थे। वे निरन्तर साहित्य-साधन में रत रहते थे और दल-बन्दी से दूर रहा करते थे। उनकी छोटी सी मित्र-मंडली थी। उसी में वे हँसते और खुल कर बात करते थे। उन्हें पुष्प अधिक प्रिय थे, इसलिए उन्होंने अपने घर में बगीचा भी लगाया था और वे उसके गुलाब, जूही, बेला, रजनी-गंधा आदि के फूलों को देखकर मुग्ध हो जाया करते थे। पारिजात के वृक्ष के नीचे पत्थर की चौकी पर बैठकर अपनी रचनाएँ सुनाते थे। शतरंज का उन्हें बहुत शौक था। कभी-कभी सिनेमा भी देखते थे। वैसे वे सात्विक वृत्ति के ...रुप थे। शिवजी के उपासक थे। मांस-मदिरा से सदैव दूर रहते थे। स्वाभिमानी और विनम्र थे। अध्ययनशीलता उनकी ग़ज़ब की थी। वे नियमित रूप से ५-६ घंटे पौराणिक और ऐतिहासिक पुस्तकें पढ़ा करते थे। युग की समस्याओं को वे बड़ी गहराई से सुलझाने की सोचते रहते थे। उनकी मृत्यु राज-यक्ष्मा से संवत् १९९४ में ४८ वर्ष की अवस्था में हुई।

प्रसाद जी के जीवन को देखने से यह जान पड़ता है कि वे मूक साधक थे और भारतीय संस्कृति के उद्धार के लिए सजग कलाकार की भाँति प्रयत्न-शील थे। बाहरी प्रभाव से दूर रहकर भारतीयता की नवीनतम व्याख्या देने के लिए उन्होंने अपने नाटकों का आश्रय लिया। उन्होंने अपने नाटकों में भारतीय संस्कृति के उन दिनों का चित्रण किया, जब वह अपने पूर्ण विकास पर थी—अर्थात् गुप्त वंश और उसके कुछ आगे पीछे का काल लिया। साथ ही सामाजिक समस्याओं को सुलझाने के लिए उन्होंने

उपन्यासों का सहारा लिया। वर्तमान जीवन की विकृति उनके उपन्यासों में भली भाँति चित्रित की गई है। आन्तरिक भावनाओं और मानसिक उथल-पुथल की छोटी-छोटी लहरों को उन्होंने अपनी कहानियों में प्रदर्शित किया। भावात्मक कहानी उनकी अपनी चीज़ थी। अपने निबन्धों में उन्होंने पाश्चात्य शिक्षा के मद में चूर हिन्दी के उथले आलोचकों को साहित्य के गंभीरतम विषयों के सम्बन्ध में भारतीय दृष्टि-कोण की महत्ता बताई। नाटककार, कथाकार, निबन्धकार इन सभी रूपों में उन्होंने अपने युग का नेतृत्व किया। लेकिन सर्वत्र उनका कवि-रूप स्पष्ट रहा। कारण यह है कि वे मूलतः कवि थे। जो समस्याएँ कविता का विषय नहीं हो सकती थीं, वे साहित्य के अन्य रूपों द्वारा प्रकट की गईं। यहाँ हम उनके कवि रूप पर ही प्रकाश डालेंगे क्योंकि उन्होंने अपनी कविता द्वारा छायावाद को सर्वाधिक सशक्त बनाया है और वे प्रसाद, निराला और पंत की वृहत्त्रयी के अग्रगण्य नेता हो गए हैं।

प्रसाद जी की कविताओं की मूल विशेषताओं को जानने से पहले हम यह देखें कि उन्होंने हमें कितना दिया और कैसा दिया। जहाँ तक गुण का प्रश्न है, वहाँ तक तो प्रसाद जी ने सर्वश्रेष्ठ काव्य-ग्रंथ दिए ही हैं, साथ ही उनका परिमाण भी कम नहीं है। अब तक की प्रकाशित रचनाओं का क्रम इस प्रकार है:—

(१) चित्राधार (२) कानन कुसुम (३) करुणालय (४) महाराणा का महत्त्व (५) प्रेम पथिक (६) झरना (७) आँसू (८) लहर (९) कामायनी।

'चित्राधार' में प्रसाद जी की बीस वर्ष तक की अवस्था की लिखी हुई कविताओं का संग्रह है। ये कविताएँ गद्य और पद्य दोनों प्रकार की हैं। इसके प्रथम खंड में द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मक कविताओं के समान, 'उर्वशी', 'अयोध्या का उद्धार', 'वनमिलन' आदि पर कविताएँ हैं। दूसरे खंड में 'प्रायश्चित्त' और 'सज्जन' दो एकांकी नाटक के ढंग की रचनाएँ हैं। 'सज्जन' संस्कृत के ढंग पर लिखा गया है और 'प्रायश्चित्त' में आधुनिकता है। इसीलिए पहले में जहाँ मनोरंजन की ओर रुचि है वहाँ दूसरे में आधुनिकता के कारण देश-भक्ति की ओर रुचि है। तीसरे खंड में 'ब्रह्मर्षि' और 'पंचायत' शीर्षक पौराणिक कथाएँ और 'प्रकृति-सौंदर्य', 'सरोज' तथा 'भक्ति' पर निबन्ध हैं। चौथा खंड 'पराग' नाम का है जिसमें प्रकृति को आलंबन मान कर कवि ने सुन्दर रचनाएँ की हैं और कहीं-कहीं उनमें मानवीय भावों का आरोप भी है। अंतिम खण्ड में 'मकरन्दविन्दु' शीर्षक कविता और पदों का संग्रह है। यों पाँच खंडों में यह पुस्तक समाप्त हुई है। महत्त्व इसका इतना ही है कि यह प्रसाद जी के प्रारंभिक विकास को बड़ी स्पष्टता से सामने रखती है। रचनाएँ अनिश्चित प्रणाली पर हैं और उस समय के लगभग सभी प्रकारों को अपनाती हैं। लेकिन ये किशोर जीवन की कविताएँ होते हुए भी जीवन की प्रत्येक दशा में कवि की तीव्र अनुभूति को व्यक्त करती हैं। भाषा इसकी व्रज और खड़ी बोली मिली है और वैसी है जैसी श्रीधर पाठक ने अपने अनुवादित ग्रंथों रखी थी।

'क़ानन-कुसुम' में संवत् १६१६ के पहले की रचनाएँ हैं। इसमें कवि ने 'रंगीन और सादे', 'सुगंधवाले और निर्गन्ध', 'मकरंद स भरे हुए और पराग से लिपटे हुए' सभी प्रकार के 'कुसुम'

संग्रह करके रखे हैं। कविताएँ बाह्य-विषय-परक होते हुए भी कवि की करुणा और आन्तरिक कोमलता से भरी हुई हैं। इसमें प्रेम और प्रकृति पर कवि के उद्‌गारों का प्रकाशन अत्यंत सुन्दर ढंग से हुआ है। मस्ती के साथ कवि के जीवन में विषाद का हलका-सा आभास मिल जाता है। लेकिन वह अपने पथ के लिए दृढ़-निश्चय हो रहा है और प्रिय--मिलन में दुनिया की चिंता नहीं करता।[1] ये रचनाएँ विविध प्रकार के भाव कुसुमों का सुन्दर गुलदस्ता हैं।

'करुणालय' भावनाट्य है। इसे उन्होंने तुकान्तहीन मात्रिक छंद में लिखा है, जिसमें वाक्य पूरा होने पर विराम दे दिया जाता है। यह हिंदी का पहला भाव-नाट्य है। इसमें गीतात्मकता के साथ नाटकीय प्रभाव को सुरक्षित रखा गया है। इसमें धर्म के नाम पर होने वाले पाशविक अत्याचारों की कटु आलोचना की गई है। इसकी भाषा कुछ मँज गई है और काव्य-कला भी कुछ विकसित है।[2]

१—प्रियतम वे सब भाव तुम्हारे क्या हुए ?
प्रेम कंज किंजल्क शुष्क कैसे हुए ?
हम ! तुम ! इतना अन्तर क्यों कैसे हुआ ?
हा हा प्राण अधार शत्रु कैसे हुआ।

\+ + + + +

जिनता चाहो शांत बनो गंभीर हो।
खुल न पड़ो तब जानेंगे तुम धीर हो।
रूखे ही तुम रहो, बूँद रस के भरें
हम तुम जब हैं एक, लोग बकते फिरें। (कानन कुसुम)

२—चलो पवन की तरह रुकावट है कहाँ
बैठोगे तो कहीं एक पग भी नहीं।

'महाराणा का महत्त्व' भी 'करुणालय' के ही ढंग की रचना है और अतुकांत छंद में लिखी गई है। इसमें कवि की ऐतिहासिक आदर्शों से प्रेरणा लेने की वृत्ति प्रकट है। यह सन् १६१४ की रचना है। भाषा का प्रवाह और भावों का स्वच्छंद गति से बहते जाना 'महाराणा का महत्त्व' की विशेषता है।[१]

'प्रेम पथिक' का प्रकाशन सन् १६१५ में हुआ। इसे कवि ने आठ वर्ष पहले ब्रजभाषा में लिखा था और ब्रजभाषा की प्रतिष्ठा काव्य में असंभव देखकर उसने उसे खड़ी बोली में कर दिया। भावों के विकास और विचारों की पवित्रता की दृष्टि से यह कवि के श्रेष्ठ-तम काव्यों में से है। इसमें कवि ने प्रेम की गूढ़ व्याख्या और महत्त्व बताया है। किस प्रकार दो पड़ोसी मित्रों के पुत्र-पुत्री में परस्पर प्रेम है। किस प्रकार एक मरते समय अपने पुत्र को दूसरे को सौंप जाता है, किस प्रकार पुत्री का पिता उस युवक को छोड़ कर अपनी पुत्री की शादी दूसरे युवक से कर देता है, कैसे युवक आघात खा कर घर छोड़ कर तपस्वी हो जाता है और एक कुटी में प्रवेश

स्थान मिलेगा तुम्हें कुटिल संसार में।
इच्छित फल क चाह दिलाती बल तुम्हें
सारे श्रम उसको फूलों के हार से
लगते हैं जो पाता ईप्सित वस्तु को।

१—प्रिये! तुम्हारे इस अनुपम सौंदर्य से
वशीभूत होकर वह कानन केसरी
दाँत लगा न सका, देखा—'गांधार का
सुंदर दाख'—कहा नबाव ने प्रेम से।

करता है, और किस प्रकार उस कुटी में उसकी तापसी के रूप में अपनी प्रेमिका से भेंट होती है, आदि भावों से पूर्ण प्रेम-कथा को लेकर प्रसाद जी ने प्रेम की मार्मिक व्यंजना की है। इसमें कवि ने प्रेम का उच्चतम रूप प्रदर्शित किया है, जिसमें बलिदान और आत्मोत्सर्ग को प्राधान्य को दिया गया है। यह इस विषय पर आशा और उत्साह से पूर्ण हिंदी का पहला काव्य है।[1]

'प्रेम-पथिक' तक की कविताओं में कवि की भाषा, छन्द और भाव-प्रणाली का प्रयोग-काल चलता रहा है। कवि में प्रतिभा और कल्पना के कोश का अथाह समुद्र लहराता हुआ प्रतीत होता है; परंतु उसे निश्चित मार्ग नहीं मिलता, उसकी दिशा को वह स्थिर नहीं कर पाता। कभी वह प्राचीनता की ओर झुक जाता है कभी नवीनता की ओर। भावनाएँ नवीन होती हुई भी कभी कभी अभिव्यंजना प्रणाली में आलंकारिकता आ जाती है। कल्पना के नवोन्मेष के होते हुए भी उसे अतीत की ओर झाँकना पड़ जाता है। लेकिन यह स्पष्ट है कि कवि की दृष्टि और उसका प्रयत्न एक नई सृष्टि की ओर है। यह 'झरना' में आ कर पूरा होता है। 'झरना' में सन् १९१६ से लेकर सन् १९१८ तक की रचनाएँ हैं।

१—पथिक प्रेम की राह अनोखी भूल भूल कर चलता है।
घनी छाँह है जो ऊपर तो नीचे काँटे बिछे हुए।
प्रेम यज्ञ में स्वार्थ और कामना हवन करना होना।
तब तुम प्रियतम स्वर्ग-विहारी होने का फल पाओगे।

\+ + + +

इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रांत-भवन में टिक रहना।
किंतु पहुँचना उस सीमा पर जिसके आगे राह नहीं॥

इसमें श्रेष्ठ और साधारण दोनों प्रकार की रचनाएँ हैं। इसका कारण यह है कि कवि ने इसे यौवन काल में लिखा है, जिस समय उसका मन स्थिर नहीं होता। यौवन में उठने वाली विभिन्न प्रकार की भावनाएँ व्यक्ति के मानस को मथ डालती हैं। उस समय संयम और असंयम का युद्ध होता है, वासनाएँ मन में आती हैं और कवि उनसे ऊपर उठना चाहता है, लेकिन उस का मन बराबर चंचल बना रहता है।[1] इतने होते हुए भी कवि में आत्म-प्रकाशन की इच्छा बड़ी तीव्र है। इस आत्म-प्रकाशन के लिए उसने अपनी भावना को उन्मुक्त होकर उड़ने दिया है। वह प्रकृति के प्रांगण में विहार करती रही है और मानवीय भावनाओं को वाणी देती रही है। हिंदी में छायावाद का आरंभ इसी कृति से माना जाता है। इसमें भाषा का आडम्बर नहीं है, केवल भाव-प्रकाशन पर अधिक बल दिया गया है और वह भी सूक्ष्म पर, स्थूल पर नहीं। किरण, बिखरा हुआ प्रेम, विषाद, बालू की बेल, आदि कविताएँ शुद्ध काव्य की दृष्टि से हिंदी साहित्य की प्रथम श्रेणी की रचनाओं में स्थान पा सकती हैं। 'किरण' को कवि ने नववधू के रूप में चित्रित किया है और उसे अलंकारमयी भाषा में प्रकट किया है; लेकिन वह अपने में इतनी पूर्ण रचना है कि स्वयं उसका सौंदर्य उसके भीतर नहीं समा पाता। कवि को किरण किसी के

१—करता हूँ जब कभी प्रार्थना
कर संकलित विचार,
तभी कामना के नूपुर की,
हो जाती झंकार।

अनुराग में रँगी दिखाई देती है। वह धरा पर झुकी प्रार्थना के सदृश और मधुर मुरली की भाँति मौन ही नहीं है, अज्ञात विश्व की विकल वेदना-दूती के समान भ है और स्वर्ग के सूत्र के समान स्वर्ग लोक और भूलोक को मिलाती है।[1] 'विषाद' कवि की प्रतीकवादी रचना है, जिसमें शून्यता, शुष्कता, आँसू, बेचैनी को व्यक्त करते हुए विषाद का चित्र खींचा है। कवि को विषाद प्रकृति के करुण काव्य के समान वृक्ष-पत्र की मधु छाया में अमृतमयी नश्वर काया में लिपटा हुआ अचल पड़ा दिखाई देता है और कवि चाहता है कोई उसे छेड़े नहीं।[1] कवि ने इस रचना में अपने ही हृदय की झलक दी है। 'झरना' के संबंध में एक आलोचक ने लिखा है कि 'झरना' स्पष्टतः कवि के आरंभिक यौवन काल की रचना है, जब निराशा में भी एक आशा और मन में भी पीड़ा का एक तीव्र मादक आनन्द है। यहाँ यौवन आँखों के पानी से आशा की क्यारियाँ सींचता है कि कभी प्रेम की मालती जीवन कुंज पर खिलेगी। यहाँ पीड़ा में यौवन का स्वर है। कवि के हृदय में एक ज्वाला है, पर वह उसे कहाँ ले जायगी, इसका ठीक निश्चय वह

१—धरा पर झुकी प्रार्थना सदृश
मधुर मुरली सी फर भी मौन
किसी अज्ञात विश्व की विकल
वेदना दूती-स, तुम कौन ?
स्वर्ग के सूत्र सदृश, तुम कौन
मिलाती हो उससे भूलोक
जोड़ती हो कैसा संबंध,
बना दोगी क्या विरज विशोक ?

नहीं कर पाता। निस्सन्देह 'झरना' अभिव्यक्त की निराली छटा और सूक्ष्म भावनाओं के विविध रूप तथा आशा-निराशा, हर्ष-शोक, आसक्ति-विरक्ति का ऐसा स्वरूप है कि कहा नहीं जा सकता है कि कवि का भविष्य क्या होगा? हाँ इतना अवश्य कहा जा सकता है कि अब वह अनुभूति की गहराई में उतर गया है और आगे की कृति अवश्य शुद्ध अँनुभूतिमय होगी, जिसमें उसकी कला भी किसी विशेष दिशा की ओर मुड़ेगी।

'आँसू' में आकर अनुभूति की तीव्रता, जिसका संकेत मात्र 'झरना' में था, कवि के काव्य में नई उद्भावनाओं के साथ मिलती है। इस काव्य की सबसे बड़ी विशेषता उसके आत्म-परक Subjective होने में हैं। शुद्ध विप्रलंभ का यह अकेला काव्य है, जिसमें, आँसू के माध्यम से कवि ने अपनी वेदना को प्रकट किया है। इसमें 'प्रेम-पथिक' की आदर्शमयी प्रेम-व्याख्या नहीं है—यहाँ बड़ी गहरी भावना है। 'झरना' में कवि ने प्रेमी के जिस अपांग की धारा—कटाक्ष के प्रहार से अभिभूत होकर दृगजल के बहाने की बात कहकर प्रणय-वन्या का प्रसार किया था और अपने को पूर्ण रूप से उसमें डुबो दिया था,[1] वही स्मृति कवि को 'आँसू' लिखने के लिए प्रेरित कर गई है। 'आँसू' के संबंध में एक बात और है। यह कवि ने विवश होकर लिखा है। विवश होने का अर्थ है कि कवि चाहता नहीं था परंतु फिर भी उसे लिखना पड़ा है। जो व्यथा

१—जो घनीभूत पीड़ा थी
मस्तक में स्मृति-सी छाई
दुर्दिन में आँसू बन कर
वह आज बरसने आई।

प्रेमी की ओर से विरह के रूप में उसे मिली थी और जो दुःख गत वैभव के भग्नावशेष के लिए उसे था वही व्यथा—वही दुःख—'आँसू में उमड़ पड़ा है। वह स्वतः उमड़ा है कवि को उसके लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ा। प्रसाद जी की इस कृति ने हिंदी कविता में युगान्तर उपस्थित कर दिया। एक साहित्य-मर्मज्ञ ने इसके छन्द का नाम ही 'आँसू' छन्द रख दिया। इसका अनुकरण भी उस काल में बहुत हुआ लेकिन कोई प्रसाद जी की ऊँचाई को न छू सका। इसमें प्रसाद जी ने मानवीय जीवन की वेदना को आह और आँसुओं में बाँध दिया है। यहाँ एक बात का ध्यान रखने की आवश्यकता है और वह यह है कि यह आध्यात्मिक या रहस्यवादी कविता नहीं है। जो लोग ऐसा कहते हैं वे दूसरों को ही धोखा नहीं देते स्वयं भी धोखे में रहते हैं। कहीं कहीं प्रसाद जी ने अपने प्रेमी का विराट रूप में प्राकृतिक उपकरणों के साथ जो चित्रण किया है उसे लेकर कोई इसे रहस्यवादी काव्य कहे तो वह उसकी नासमझी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह प्रसाद के संसारी प्रेम-व्यापार का वियोगात्मक व्याख्यान है, जिसे कवि ने कला के आवरण में बड़ी कुशलता से सजाकर रख दिया है। प्रसाद ने स्पष्ट ही अपने जीवन के चढ़ते दिनों में हाड़-मांस की मूर्ति से प्रेम किया था, जिसके वियोग की व्यथा में उनके हृदय का करुण क्रंदन 'आँसू' में साकार हो गया है।[1] कवि ने निःसंकोच भाव से विलास-जीवन

[1]—घन में सुन्दर बिजली-सी, बिजली में चपल चमक सी

आँखों में काली पुतली, पुतली में श्याम झलक सी

प्रतिमा में सजीवता-सी, बस गई सुछवि आँखों में

थी एक लकीर हृदय में, जो अलग रही लाखों में।

का वैभव दिखाकर उसके अभाव में आँसू बहाए हैं और अंत में जीवन की वास्तविकता से समझौता कर लिया है। यही 'आँसू' की मूल भावना है। कवि के जीवन में शिशु-मुख पर घूँघट डाले और अंचल में दीप छिपाये कोई कौतूहल-सा आया था।[1] उस के सौंदर्य पर कवि मस्त हो गया था। उसने परिरंभ कुंभ की मदिरा पान की थी, निश्वास मलय के झोंके खाये थे और मुख चन्द्र की चाँदनी के जल से मुख धोकर प्रातःकाल नेत्रोन्मीलन किया था।[2] वह कवि के जीवन में मादकता की भाँति आया था और संज्ञा (चेतना, होश) की भाँति चला गया।[3] उसी के लिए कवि को इतनी पीड़ा है कि वह अपने को रोक नहीं पाता और उसके हृदय में रह रह कर उस गत वैभव की स्मृति जाग उठती है। उसके हृदय में आकाश में नक्षत्रों की भाँति स्मृतियों की बस्ती बस गई है।[4] लेकिन कवि इन आँसुओं को व्यापकता प्रदान करता है और वह चाहता है कि उसके व्यक्तिगत आँसू विश्व को भी सरस कर दें और उसके हृदय की ज्वाला विश्व को प्रकाश दे दे।[5]

१—शशि-मुख पर घूँघट डाले अंचल में दीप छिपाए
जीवन की गोधूली में, कौतूहल से तुम आए।

२—परिरंभ कुंभ की मदिरा, निश्वास-मलय के झोंके
सुख-चन्द्र चाँदनी जल से, मैं उठता था मुख धोके।

३—मादकता-से आए वे, संज्ञा से चले गए थे।

४—बस गई एक बस्ती है, स्मृतियों की इसी हृदय में
नक्षत्र लोक फैला है, जैसे इस नील निलय में।

५—सब का निचोड़ लेकर तुम, सुख से सूखे जीवन में
बरसो प्रभात हिमकन सा, आँसू इस विश्व-सदन में।

इस प्रकार 'आँसू' एक ऐसा स्मृति काव्य है, जिसमें विरह व्यक्ति के हृदय से निस्सृत होकर विश्व-मानव के हृदय को छूने की ओर उन्मुख है। भौतिक-सौंदर्य की ओर उसका खिंचाव है और उसके पश्चात् उसमें निराशा के कारण जो तीव्रता आगई है वह तीव्रता पीछे चलकर कहीं-कहीं आध्यात्मिक संकेत भी पा गई है। परंतु उसमें सांसारिकता ही प्रमुख है, जैसा कि हम देख चुके हैं। 'आँसू' से प्रकट होता है कि प्रसाद जी मूलतः प्रेम-रहस्य के कवि हैं और मानवीय भावनाओं को ही चित्रित करते हैं। प्रकृति भी उसके साथ चित्रित होती है तो केवल उन मानवीय भावनाओं की सफल अभिव्यक्ति के लिए ही होती है। प्रसाद जी की भौतिकता भी अलौकिकता से अधिक सुन्दर है क्योंकि उसमें संकीर्णता या अश्लीलता का समावेश नहीं है। श्री नंददुलारे वाजपेयी ने 'आँसू' के सम्बन्ध में जो लिखा है, वह वस्तुतः समर्थनीय और अभिनन्दनीय है। उन्होंने लिखा है—" 'आँसू' में प्रसाद जी ने यह निश्चित रूप से प्रकट कर दिया है कि मानुषीय विरह-मिलन के इंगितों पर वे विराट् प्रकृति को भी साज सजाकर नाच नचा सकते हैं। यह शेष प्रकृति पर मनुष्यता के विजय का शंखनाद है। कवि जयशंकर प्रसाद का प्रकर्ष यहीं पर है। यहीं प्रसाद जी प्रसाद जी हैं। 'आँसू' में वे वे हैं।"

'लहर' में आकर 'आँसू' की करुणा आशा के संदेश से मुखर है। कवि प्रेम का प्रतिदान न पा कर 'आँसू' में संयत होकर चीखा है। उसका और भी भव्य रूप 'लहर' में है। इसमें उसकी निराशा और वेदना निखर आई है और कवि अधिक कोमल तथा भावुक होकर

निर्भय जगती को तेरा, मंगलमय मिले उजाला;
इस जलते हुए हृदय की, कल्याणी शीतल ज्वाला।

जीवन को स्पर्श करता है। इसमें 'प्रेमपथिक' या 'आँसू' की एकता नहीं है वरन् इसमें मुक्तक रचनाएँ हैं, अतएव अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी दोनों प्रकार की रचनाएँ इसमें संग्रहीत हैं। कवि आत्म-चिंतक भी होगया है और विद्रोही भी। 'अशोक की चिंता', 'शेरसिंह का शस्त्र-समर्पण', 'पेशोला की प्रतिध्वनि' और 'प्रलय की छाया' तथा 'अरी वरुणा की शांत कछार,' आदि कविताएँ उसके विद्रोही स्वभाव की सूचना देती हैं, जो मुक्त छंद में होने के कारण प्रवाह-पूर्ण तो हैं ही, साथ ही विषय की दृष्टि से अतीत इतिहास के उज्ज्वल कणों को भी समेटे हुए हैं। इतिहास के इन प्रस्तर-खंडों से खेलने के साथ ही कवि का प्रेम भी स्वर्गीय हो उठा है। अपने गीतों में उसने आत्मा का संगीत भर कर प्रेम की नयी योजना प्रस्तुत की है। आज उसके प्रेम के आलंबन में भी विशदता आगई है और वह अज्ञात के प्रति कुछ-कुछ उन्मुख होगया है।[१] उसने इसमें अतीत को आग्रह-पूर्वक चित्रित किया है। 'उस दिन जीवन के पथ में' जो प्रेमी मिला था और यौवन में उसके जीवन में जिस सुन्दर का आगमन हुआ था और जिसकी स्मृति में वह 'आँसू' की माला गूँथ चुका था उस की स्मृति आज भी गई नहीं है और वह उसकी आँखों के बचपन को अब भी नहीं भूलता।[२]

१—तुम हो कौन और मैं क्या हूँ ?
इसमें क्या है धरा सुनो।
मानस जलधि रहे चिर चुंबित—
मेरे क्षितिज उदार बनो।

२—तुम्हारी आँखों का बचपन
खेलता था जब अल्हड़ खेल,
अजिर के उर में, भरा कुलेल,

परंतु इसमें उसे प्रकाश का भी पथ मिलता है और वह जीवन में नए प्रभात को जगाता है और विषाद और वेदना से आनंद और सुख की ओर बढ़ता है।[१] इसके लिए वह संघर्ष से दूर ऐसे लोक में जाना चाहता है, जहाँ शांति मिल सके। अपने नाविक से वह याचना करता है कि उसे भुलावा देकर वह उस लोक में ले चले।[२] यद्यपि वह धीरे से पुकार उठता है कि 'मुझको न मिला रे कभी प्यार' तथापि वह जीवनदायी प्रेम को नहीं छोड़ना चाहता; प्रत्युत वह तो चाहता है कि वह उसके जीवन और विश्व के कण में व्याप्त हो जाय।[३]

हारता था हँस हँसकर मन,
आह रे वह अतीत जीवन।

१—अब जागो जीवन के प्रभात
वसुधा पर ओस बने बिखरे
हिमकन आँसू जो क्षोभ भरे
ऊषा बटोरती अरुण गात
अब जागो जीवन के प्रभात।

२—ले चल मुझे भुलावा देकर
मेरे नाविक ! धीरे-धीरे।
जिस निर्जन में सागर लहरी,
अंबर के कानों में गहरी,
निश्छल प्रेम कथा कहती हो
तज कोलाहल की अवनी।

३—मेरी आँखों की पुतली में, तू बनकर प्राण समा जा रे।
जिससे कन-कन में स्पंदन हो, मन में मलयानिल चंदन हो,
करुणा का नव अभिनंदन हो, वह जीवन गीत सुना जा रे।

इस प्रकार 'लहर' में प्रसाद जी के संगीत और कल्पना का सम्मिश्रण है। इसके गीत हिंदी साहित्य में अद्वितीय हैं। काव्य-कला की दृष्टि से भी इसमें पूर्ण विकास है। प्रकृति के भी अत्यंत सुंदर चित्र हैं। 'बीती विभावरी जाग री' जैसा चित्र शायद ही किसी कवि ने दिया हो, जिसमें प्रभातकाल का चित्र चेतना से दीप्त होकर खींचा गया हो। 'लहर' में प्रसाद जी का कवि और भी मधुर और सरस है।

प्रसाद जी का अंतिम और श्रेष्ठ ग्रंथ है 'कामायनी'। हिंदी साहित्य में 'कामायनी' का सृजन भी आश्चर्यमयी घटना है। इसका कारण यह कि छायावादी-युग मुक्तक का युग है; उसमें प्रबंध-काव्य के लिए गुंजाइश नहीं है। 'साकेत', 'प्रियप्रवास', 'नूरजहाँ, 'सिद्धार्थ' आदि जो भी महाकाव्य के नाम पर उपलब्ध रचनाएँ हैं, उनमें बीती हुई बातों को नवीन रूप में रख दिया है। कथा में हेर फेर करके या दृष्टिकोण को बदल कर मौलिकता का प्रदर्शन किया गया है। वैसे इन काव्यों में कोई नवीनता नहीं है। लेकिन 'कामायनी' ही ऐसा काव्य है जो विश्व-साहित्य में बेजोड़ है। हिंदी अथवा भारतीय साहित्य की बात तो दूर रही संसार की अन्य भाषाओं में भी ऐसी रचनाएँ युगों के बाद लिखी जाती हैं। कहते हैं कि जब प्रसाद जी ने 'कामायनी' लिख कर समाप्त की तो उन्होंने कहा था कि 'कामायनी' लिखकर उन्हें संतोष हुआ है। बात यह है कि छायावादी युग में उसी शैली में 'महाकाव्य' का सृजन वास्तव में प्रसाद को संतोष देने वाली बात थी। इसमें सुख-दुःख और प्रेम-कथा की पगडंडियों से घूमता हुआ कवि राजमार्ग की ओर आया है और उसने अपनी यात्रा सफलता-पूर्वक समाप्त की है। 'कामायनी' की कथा के लिए कवि ने ऋग्वेद, शतपथ ब्राह्मण, छान्दोग्य उपनिषद्,

आदि से सामग्री ली है। कामायनी १५ सर्गों का महाकाव्य है। पंद्रह सर्ग ये हैं:—१. चिन्ता, २. आशा, ३. श्रद्धा, ४. काम, ५. वासना, ६. लज्जा, ७. कर्म, ८. ईर्ष्या, ९. इड़ा, १०. स्वप्न, ११. संघर्ष, १२. निर्वेद, १३. दर्शन, १४. रहस्य, १५. आनन्द।

आरम्भ में हिमालय के ऊँचे शिखर पर मनु एक शिला पर बैठे दिखाई देते हैं। वे नीचे जल-प्रवाह देख रहे हैं। उनकी आँखें आर्द्र हैं और वे चिंता-मग्न हैं। चिंता है अपने पूर्वजों की देव-सृष्टि के नाश की और गत वैभव के ध्वंस की। वे विभिन्न प्रकार से बुद्धि, मनीषा, मति, आशा आदि चिंता के रूपों में चक्कर लगाते हुए चिंता को कोसते हैं। कवि ने देव सृष्टि के ध्वंस का मनु के द्वारा अत्यंत सुन्दर वर्णन कराया है। लेकिन चिंता के बाद स्वाभाविक रूप से आशा का उदय होता है। जल-प्लावन शांत होता है। वनस्पतियाँ हवा में लहराती हैं। बरफ पर उषा की सुनहली किरणें पड़ती हैं। और मनु के मन में भी आशा जागती है। संकट के घिरने की चिंता उसके हटने से आशा में बदलती है। मनु को जीवन में ममता और उत्साह की अनुभूति भी सताती है। वे एक गुफा बनाकर उसमें रहते और सागर के किनारे अग्निहोत्र करते हुए तप करते हैं और देवयज्ञ द्वारा सुर-संस्कृति को जीवित करने को कटिबद्ध होते हैं। वे यह सोच कर कि मेरी ही तरह और भी कोई बचा हो सकता है, अग्निहोत्र-अवशिष्ट अन्न कहीं दूर रख आते हैं। उसी अन्न को देखकर कामगोत्रजा श्रद्धा किसी व्यक्ति की उपस्थिति समझती है और मनु को खोजती हुई आती है। वह मनु के आशापूर्ण हृदय में जीवन के प्रति श्रद्धा जगाती है। श्रद्धा के बाद काम का उदय होता है—इच्छा प्रबल होती है। मनु के

मन में वासना का उदय होता है और मनु देवताओं के गत संस्कारों से जड़ीभूत उस काम की तृप्ति चाहते हैं। काम की भविष्य-वाणी होती है, जिसमें वह श्रद्धा को अपनी पुत्री बताता है और मनु के मन में उसके प्रति तीव्र आकर्षण पैदा करता है। मनु का मन राग-विराग से पूर्ण हो जाता है और वासना का वेग बढ़ता है। वे श्रद्धा की ओर बुरी तरह खिंचते हैं, और अपने को भूल जाते हैं। श्रद्धा के पास जो बछड़ा है, वह भी उनकी ईर्ष्या का पात्र होता है। वे बेचैन होकर श्रद्धा को अपनाना चाहते हैं। यहीं लज्जा का आवरण आता है। यह सर्ग कवि की कल्पना का चरम रूप प्रदर्शित करता है। नारी के इस गुण की महत्ता और आवश्यकता पर कवि ने स्वयं कुछ न कह कर भावना का ही रूप खींचा है, जिससे स्वतः सारी चीज़ स्पष्ट हो जाती है। इसके बाद मनु कर्म में प्रेरित होते हैं और बलि दी जाती है। श्रद्धा को यह हिंसा पसंद नहीं आती। वह विरोध करती है और मनु के प्रति विरक्त भी होती है; परंतु नारी की कमज़ोरी है कि वह पुरुष को समर्पण किए बिना रह नहीं सकती। श्रद्धा भी उसका शिकार है और वह एक दिन गर्भिणी हो जाती है। मनु शिकार में व्यस्त रहते हैं—श्रद्धा भावी शिशु के ध्यान में। वंचक पुरुष इसे अच्छा नहीं समझता और शिशु के प्रति ईर्ष्यालु होकर समर्पण-शील नारी को छोड़कर चल देता है, निष्ठुर—निर्दय—बन कर। सारस्वत प्रदेश में आकर अपने को इड़ा (बुद्धि) के हवाले करता है। बुद्धि या इड़ा उसे तर्क-वितर्क में डालती और नया राज्य-तंत्र बनवाती है, जिसमें मनु श्रद्धा-विहीन होकर अपना मन खो देते हैं और इड़ा पर ही अधिकार करना चाहते हैं। इड़ा विरोध करती है पर मनु

उच्छृंखल हुए बिना नहीं मानते। आपस में विरोध होता है—शिव का प्रलय-नेत्र खुलता है। स्वप्न में श्रद्धा मनु और इड़ा के संघर्ष का दर्शन करती है और वह संघर्ष सच निकलता है। श्रद्धा आती है और मनु को सारस्वत नगर में बेहोश पाती है। अपने उपचार से मनु को होश में लाती है तो मनु को एक दम संघर्ष से विरक्ति होती है और निर्वेद के अतिरेक में वे वहाँ से भाग निकलते हैं। श्रद्धा अपने पुत्र मानव को इड़ा को सौंप देती है और मनु की खोज करती हुई आगे बढ़ती है। एक झाड़ी में उन्हें पाकर वह मनु को सँभालती है और समझाती है। मनु को यहीं शिव के विराट रूप के दर्शन होते हैं। आगे बढ़ने पर मनु को इच्छा, क्रिया और ज्ञान के बिंदु वाला त्रिकोण दिखाई देता है। इच्छा का लोक रागारुण है और उसमें स्पर्श, रूप, रस, गन्ध की पारदर्शिनी पुतलियाँ नृत्य करती हैं। कर्म का लोक श्यामल है, जहाँ संघर्ष और हलचल है। ज्ञान का लोक रजत है। इन तीनों के रहस्य को श्रद्धा मनु को समझाती है और इच्छा, क्रिया और ज्ञान के समन्वय पर ज़ोर देती है। उनके समन्वय में उसकी मुसकान की एक किरण काम करती है। इसके आगे मनु आनन्द लोक में पहुँच जाते हैं जहाँ मानव और इड़ा भी आ जाते हैं। उस लोक में जड़ और चेतन मिलकर एक हो जाते हैं और सर्वत्र आनन्द का ही प्रकाश छा जाता है।

'कामायनी' की कथा छोटी है और उसमें चित्रपट बड़ा नहीं है। श्री रामनाथ सुमन के शब्दों में "विलास-प्रधान देव-संस्कृति के स्थान पर आनंद-प्रधान और लोक-कल्याण-मयी मानव-संस्कृति की स्थापना का इस में चित्र है। इसमें सामाजिक प्रयोगों के दर्शन तो होते हैं, पर उस तत्त्व-ज्ञान की भी एक झलक मिलती है जिसको

लेकर ही मानव की आनन्द-साधना चल सकती है। 'कामायनी' की कथा जहाँ एक प्राचीन ऐतिहासिक प्रयत्न की कथा है वहाँ वह संपूर्ण मानवता के चिरंतन द्वंद्व की भी कथा है। इस कथा के मूल में जिस रूपक का आभास हमें मिलता है, उसकी एक श्रेष्ठ दार्शनिक पृष्ठभूमि है। और उसके कारण 'कामायनी' को संपूर्ण माननता के काव्य का गौरव प्राप्त हुआ है "

इस महाकाव्य में कवि ने दार्शनिक पृष्ठभूमि को अपने काव्य का आधार बनाकर शैव तत्त्व पर आनंदवाद की प्रतिष्ठा की है सुख-दुःख की विभेद और विषमता-भरी राह में आनंद-पूर्वक समरस हो कर चलना ही शैव तत्त्व का मूल ध्येय है। अनियंत्रित बुद्धि संघर्ष की ओर ले जाती है और श्रद्धा के सहारे ही मुक्ति प्राप्त की जाती है। यही 'कामायनी' का स्वरूप है। सबसे बड़ी बात यह है कि इसका नायक मनु कर्मशील है और वह कर्म से ही आनंद की ओर बढ़ता है, जिससे काव्य में कर्म और चेतना का संदेश प्रधान हो गया है। नारी की प्रतिष्ठा द्वारा कवि ने अपने काव्य का अमर संदेश दिया है। यह नारी-प्रतिष्ठा प्रसादजी को बौद्ध-कालीन इतिहास से मिली है, जिसका प्रभाव उनके नाटकों में भी है काव्य भी इससे श्री-संयुक्त होकर निखर उठा है। 'कामायनी' की वस्तु जितनी अनूठी है उतना ही उसका कला-पक्ष भी अनूठा है। भाषा के गांभीर्य और अभिव्यंजना की सांकेतिकता से उसमें एक नया ही सौंदर्य आगया है।

'कामायनी' में मानव जाति का ऐतिहासिक विकास और आध्यात्मिक भावना का समन्वय है। इसको चित्तवृत्तियों का महाकाव्य कहा गया है। सर्गों का विभाजन जिन वृत्तियों के नाम पर हुआ है उनके रूप को खड़ा करने में कवि ने कमाल कर दिया है। मनोविज्ञान को

काव्य का रूप देने का यह पहला प्रयत्न है। चिन्ता, आशा, श्रद्धा, लज्जा, आदि के चित्र ज्यों के त्यों बन जाते हैं। पूरी 'कामायनी' में जीवन की आवश्यक वृत्तियों का क्रमिक विकास दिखाया गया है। इसमें कुल चार पात्र हैं—मनु, श्रद्धा, इड़ा और मानव। इन चारों पात्रों को ही लेकर प्रसाद ने मानव जीवन का आंतरिक पहलू अपने काव्य में अमर कर दिया है।

'कामायनी' में मनु का पहले श्रद्धा (हृदय) और बाद में इड़ा (बुद्धि) से सम्पर्क करा के कवि ने उसे अन्त में श्रद्धा द्वारा ही आनंद की प्राप्ति कराई है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि श्रद्धा इड़ा की अपेक्षा अधिक महत्त्व की वस्तु है। इसे लेकर आचार्य शुक्ल जी ने आपत्ति की है और श्रद्धा के इड़ा के प्रति कहे गए 'सिर चढ़ी रहीं पाया न हृदय' के कथन को बदल कर श्रद्धा के प्रति 'रस पगी रहीं, पाई न बुद्धि' के कथन की संभावना प्रकट की है। लेकिन ऐसा अनुचित है। प्रसाद जी समरसता के प्रचारक थे। वे अति नहीं चाहते थे। अंध-पंगु-न्याय की भाँति बुद्धि और हृदय का समन्वय उनका लक्ष्य था। फिर श्रद्धा ने अपने पुत्र मानव को ही जब इड़ा को सौंप दिया तब शुक्ल जी का यह समझना कि प्रसाद जी इड़ा के प्रति घृणा और श्रद्धा के प्रति प्रेम प्रकट करते हैं, कहाँ तक ठीक है, इसे हम पाठकों के निर्णय पर छोड़ते हैं।

प्रसाद जी ने 'कामायनी' में 'संघर्ष' सर्ग द्वारा वैज्ञानिक आविष्कारों के दुरुपयोग का चित्रण किया है और श्रद्धा द्वारा तकली भी कतवाई है। यन्त्रों की भीषणता और तकली की कोमलता में मानों वर्तमान जीवन की विभीषिका और गांधीवादी समाधान की भी झलक है। श्रद्धा पशुहत्या को बुरा समझती है और बलि पर

रुष्ट होती है, यह भी मानो गांधीवाद की ही छाया है। यों प्रसाद ने दोनों को अपने काव्य में स्थान दिया है और युग की समस्याओं को अपने काव्य का विषय बनाकर प्रगतिशीलता का परिचय दिया है।

'कामायनी' में एक और बड़ी विशेषता उसके प्रकृति-वर्णन की है। प्रलय काल के समुद्र और उसकी लहरों की भीषणता का जैसा वर्णन प्रसाद ने किया है वह आज तक किसी कवि ने नहीं किया। वैसे पहाड़, नदी, संध्या, प्रभात, रात्रि आदि प्रकृति के सुन्दर चित्रों की भी कमी नहीं है; परन्तु यह प्रकृति-वर्णन अत्यंत सुन्दर है। इसके अतिरिक्त बाह्य दृश्य-चित्रण और मनु, श्रद्धा तथा इड़ा के रूप-चित्रण में कवि ने व्यक्तित्व के अनुकूल ही अपनी तूलिका चलाई है। 'कामायनी' अंतर्वृत्ति-प्रधान काव्य होते हुए भी बाह्य रूप से विमुख नहीं है। वस्तुतः वह भोग-योग, आसक्ति-विरक्ति, संग्रह-त्याग का संतुलित चित्र है, जो मानव-जीवन के लिए आवश्यक है। प्रकृति सहचरी हो कर चित्र में सजीवता और प्रफुल्लता भरती रही है और कवि का दार्शनिक चिन्तन उसकी भावुकता में गंभीरता देकर काव्य को युग-युग के लिए अमर कर सका है। यों तो महाकाव्यों में सदैव जीवन का ही चित्र रहता है परन्तु ऐसा पूर्ण चित्र हिंदी साहित्य में दूसरा नहीं। यह युग की नहीं युग-युग की चीज़ है।

'कामायनी' की धारणा बड़ी ऊँची है और उसकी कथा का विधान भी पेचीदा है, इसलिए साधारण पाठक के लिए उसका समझना अत्यंत कठिन हो जाता है। लेकिन यदि हम उसकी गहराई को छूने का प्रयत्न करें तो हम प्रसाद की आत्मा को अवश्य समझ लेंगे। 'कामायनी' में प्रसाद जी ने नारी की श्रद्धा के रूप में प्रतिष्ठा कर

पुरुष को भटकाया और अंत में उसी को समर्पण करा कर उसकी श्रेष्ठता सिद्ध की है। इसी तत्त्व को ग्रहण करने और बुद्धि और हृदय के सामजंस्य द्वारा मानव जीवन के रहस्य को समझने के बाद जीवन में आनंद के लिए और किसी साधन की आवश्यकता नहीं रहती। यह मूल भावना 'कामायनी' की आध्यात्मिक प्रेरणा से भी ऊपर है और यही उसके कवि की विजय है, अन्यथा वह रससिद्ध कवि न होकर शुष्क दार्शनिक हो जाता।

सारांश यह है कि आरंभ से लेकर अन्त तक कवि मानव-हृदय की अन्यतम भावना प्रेम का चित्रकार रहा है। 'चित्राधार' से लेकर 'प्रेम-पथिक', 'झरना' से लेकर 'आँसू' और 'लहर' से लेकर 'कामायनी' तक प्रसाद में प्रेम-तत्त्व की प्रधानता है। प्रकृति भी उसमें युग की काव्य-शैली के अनुरूप आई है और उसे कवि ने अधिकाधिक स्थान दिया है परन्तु वह मानव-सापेक्ष है; स्वतंत्र रूप से उसका कोई महत्त्व नहीं है। यों 'कामायनी', 'लहर', 'झरना' आदि में स्वतंत्र प्रकृति के चित्र भी सुन्दर हैं और उनकी संख्या भी कम नहीं है; परंतु सामूहिक रूप से प्रेम पहले आता है प्रकृति बाद में। रूप-विलास और यौवन के रंगीन चित्र देने में प्रसाद बेजोड़ हैं। साथ ही उनकी भावना की ऊँचाई भी द्रष्टव्य है। 'आँसू' जैसा आत्म-परक और 'कामायनी' जैसा विश्व परक काव्य उनकी मानसिक पृष्ठ-भूमि की उच्चता को ही व्यक्त करते हैं। कहीं-कहीं यह ऊँचाई ही परोक्ष सत्ता के प्रति कवि के प्रेम और जिज्ञासा को प्रकट करती है, जिसे लोग रहस्यवाद कह उठते हैं। हम तो कवि को एक मात्र मानवीय जीवन का कवि मानते हैं और छायावाद में इसी कवि ने जीवन की ऐसी सर्वांग पूर्ण व्याख्या 'कामायनी' द्वारा की है,

जो भारतीयता के साथ विश्व-जनीनता की भी द्योतक है। कवि प्रसाद हिन्दी के गौरव हैं और आधुनिक कवियों में उनका स्थान सर्वश्रेष्ठ है।†

---

† नाटक के क्षेत्र में प्रसाद जी की देन इस पुस्तक में अन्यत्र पढ़िये।

सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'

रीतिकालीन कवियों में जैसे महाकवि केशव को कठिन काव्य का प्रेत कहा जाता है वैसे ही भाषा-शैली की दृष्टि से छाया-वाद-कालीन कवियों में श्री सूर्यकांत त्रिपाठी निराला को भी अस्पष्ट और क्लिष्ट बताया जाता है। लेकिन केशव की कविता में जो कठिनाई है, वह एक विशेष काव्य-प्रणाली में बँधकर चलने की है। रस अलंकार की विशेष मर्यादाओं और सीमाओं के भीतर अपने पांडित्य-प्रदर्शन की झोंक में केशव की कविता पहेली बन गई है। इस के विपरीत निराला जी की कविता की कठिनाई स्वतंत्र और उन्मुक्त वातावरण में साँस लेने के कारण है। उनकी कविता में पाण्डित्य न हो ऐसी बात नहीं है। उसमें पाण्डित्य है, परन्तु वह पाण्डित्य परंपरा-पालन में अपनी निपुणता नहीं दिखाता, प्रत्युत वह तो नवीन मार्ग के गढ़ने और अपने ही साहस के द्वारा उस मार्ग पर बढ़ने में अपना गौरव समझता है। छंद-अलंकार, भाषा-भाव, विषय वस्तु सब को प्राचीन परंपरा से निकाल कर—बँधी सीमाओं और चहार दीवारियों के बाहर लाकर—स्वतंत्र वातावरण में फूलने-फलने की प्रेरणा देना निराला जी का ध्येय रहा है। इस प्रकार केशव की कविता की कठिनाई और निराला जी की कविता की अस्पष्टता दोनों में अंतर है। एक परिस्थिति में बद्ध रहने में— जड़ होकर निश्चेष्ट होने में—कठिन है, दूसरी स्वच्छंद गति से आगे बढ़ने में—चेतना से अभिभूत होकर वेगवान् होने में—अस्पष्ट है; एक की

कठिनाई साहित्य के लिए कोई नवीन भूमि न देने में है दूसरे की अस्पष्टता इतनी नवीनता देने में है, जिसे सर्वसाधारण ग्रहण ही न कर सके; एक में कठिनाई आग्रह के कारण है, दूसरे में अस्पष्टता स्वभाव के कारण। यहीं निराला जी केशव से आगे हैं। केशव ही नहीं, वे हिंदी-कवियों में सब से आगे हैं। केशव से तुलना करने का अर्थ यह नहीं है कि निराला जी की कविता का भाव-पक्ष या कला-पक्ष केशव से कोई समानता रखता है। यहाँ तो केवल इतना ही अभिप्रेत है कि अस्पष्टता या क्लिष्टता के जिस आश्रय से केशव पर प्रहार हुआ था उसी से निराला जी पर प्रहार हुआ है।

निराला जी की कविता अस्पष्ट है, यह फतवा देकर साहित्य के बौने आलोचकों और अपात्र पाठकों ने निराला जी के साथ बड़ा अन्याय किया है। उनकी कविता को बिना समझे, यहाँ तक कि बिना पढ़े ही लोग चाहे जैसा भद्दा रिमार्क दे देते हैं; यह हमारी परम्परा का दोष है—अध्ययन की गहराई न होने का दुष्परिणाम है। वस्तुतः निराला हों या पंत, प्रसाद हों या महादेवी, कविता के समझने के लिए हमें उनका गहराई से अध्ययन करना पड़ेगा उनकी आत्मा के भीतर उतरना पड़ेगा। जब तक हम ऐसा नहीं करते तब तक हम इसी प्रकार की टिप्पणियाँ करते रहेंगे और न अपने साथ न्याय करेंगे न अपने साहित्य के साथ। फिर अस्पष्टता क्या कबीर में नहीं हैं, क्या तुलसी में नहीं है (तुलसी कहीं कहीं ऐसे कठिन हैं कि पंडित भी चक्कर में आ जायँ), क्या सूर में नहीं है, क्या बिहारी में नहीं है? जहाँ ऊँची मानसिक भूमि पर साहित्य पनपता है, वहाँ क्लिष्टता या अस्पष्टता आवश्यक सी हो जाती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम उसकी आवश्यकता समझते हैं या

यह जब तक किसी कलाकार की कृतियों में न हो तब तक वह कलाकार महान् हो ही नहीं सकता। नहीं; हम ऐसा हरगिज़ नहीं समझते। हमारा उद्देश्य तो केवल इतना ही है कि महान् साधक कलाकारों की रचनाओं में विचारों और भावों की ऐसी गुत्थियाँ रह ही जाती हैं जिन्हें समझने में कुछ कठिनाई होती है और यदि उस कलाकार की मानसिक भूमि के विकासक्रम को समझ लिया जाय तो वह कठिनाई उस कलाकार का दोष न रहकर उसका गुण या विशेषता हो जाती है। निराला जी के साथ भी यही बात है। यदि हम उनकी काव्य-प्रणाली को समझने के साथ साथ उनके मानसिक धरातल के साथ तादात्म्य स्थापित कर सकें तो हमें कोई कठिनाई उनके काव्य को समझने में न होगी। निराला जी का जीवन, उनका स्वभाव, उनका अध्ययन-क्रम आदि ऐसी बातें हैं जिन्हें भुलाकर कोई व्यक्ति उनके काव्य-सागर के किनारे बैठकर लहरें भले ही गिनता रहे, साहस के साथ डुबकी लगाकर मोती नहीं निकाल सकता। इस लिए सर्वप्रथम हम निराला जी के जीवन और स्वभाव पर विचार करेंगे।

निराला जी का जन्म सन् १८९६ में महिषादल राज्य ज़िला मेदिनीपुर (बंगाल) में हुआ। वैसे आपका असली घर युक्त प्रान्त में उन्नाव ज़िले के गढ़ा कोला गाँव में है। महिषादल राज्य में एक प्रतिष्ठित पद पर काम करने के कारण आपके पिता पं० रामसहाय जी सपरिवार वहीं रहते थे। राजा साहब की उनपर बड़ी कृपा थी। इसलिए निराला जी की स्कूली शिक्षा राज्य की ओर से ही हुई और उन्हें वे सब सुविधायें मिलीं जो किसी ऊँचे घराने के लड़के को मिल सकती हैं। शिक्षा बंगाल में ही हुई। शिक्षा ही क्या

बंगाल में जन्म होने और वहीं के वातावरण में पलने के कारण बँगला इनकी मातृभाषा-सी हो गई और बँगला मे ही कविता भी लिखना आरंभ किया। बँगला के प्रसिद्ध लेखक श्री हरिपद घोषाल ने इन्हें अँग्रेज़ी की शिक्षा दी। इसी समय स्वाभाविक रुचि दर्शन की ओर होने से इन्होंने संस्कृत पढ़ना आरंभ किया और उसमें अच्छी गति प्राप्त कर ली। इसके बाद अपनी स्त्री के द्वारा इन्हें हिंदी की ओर रुचि हुई। उस समय इनकी आयु १५-१६ वर्ष से अधिक न होगी। इस प्रकार बँगला, अंग्रेज़ी और संस्कृत, तीन भाषाओं के संस्कार लेकर निरालाजी हिन्दी में आए। वह भी कोई जानकरी से नहीं वरन् इन भाषाओं के गंभीर अध्ययन के बाद उनका परिचय हिंदी से हुआ, जिसका परिणाम यह हुआ कि उनकी कविता में हिन्दी के अन्य कवियों की अपेक्षा नवीनता होना नितांत स्वाभाविक हो गया। 'जुही की कली' नाम की कविता उनकी सर्व-प्रथम साथ ही सर्व-श्रेष्ठ कविता है, जिसे उन्होंने सोलह साल की उम्र में लिखा।

बंगाल में उन दिनों स्वामी रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानंद का बड़ा प्रभाव था। निराला जी ने भी उनके दार्शनिक सिद्धांतों का गंभीरता -पूर्वक मनन और चिन्तन किया; जिसके कारण उनके विचारों में प्रौढ़ता आगई। उस समय उनकी उम्र बाईस-तेईस साल से अधिक न होगी। उन्होंने श्रीरामकृष्ण मिशन की ओर से निकलने वाले पत्र 'समन्वय' का भी संपादन किया। कलकत्ते से निकलने वाले 'मतवाला' पत्र के द्वारा निराला जी का हिंदी काव्य-जगत् में प्रवेश हुआ और तब से वे निरंतर हिंदी में लिखने लगे। उसके संपादकीय विभाग में भी वे रहे। उनका 'निराला' नाम तभी से लोगों के सम्मुख आया।

शिक्षा और अध्ययन की इस विशाल संपत्ति के साथ निराला जी बंगाल और मध्य देश (युक्तप्रांत) की भिन्न संस्कृतियों के मिश्रण से बने हैं। पूर्व जन्म के संस्कार उनके भले ही मध्य देशीय हों, वर्तमान जीवन में वे बंगाल के प्रतिनिधि से हैं। उनकी वेशभूषा, चाल-ढाल, बात-चीत का ढंग, यहाँ तक कि खान-पान भी बंगाली ही है। जब वे बँगला बोलते हैं तब कोई यह नहीं कह सकता कि वे बंगाली नहीं हैं। इसके अतिरिक्त निराला जी के जीवन में फक्कड़पन भी हद दर्जे का है। बीस वर्ष की अवस्था में उन्हें असह्य पत्नी-वियोग सहना पड़ा और तब से वे विधुर-जीवन व्यतीत कर रहे हैं। एक बार किसी ने उनके विधुर जीवन के विषय में पूछा और कठिनाइयों की ओर इंगित किया तो वे बोले—"जैसे एक कुलीन विधवा रहती है, वैसे ही मैं भी रहता हूँ।" पत्नी-वियोग ही नहीं उन्हें अपनी पुत्री की मृत्यु से भी बड़ी गहरी चोट लग चुकी है। 'सरोज-स्मृति' नामक कविता में इसका बड़ा करुण चित्र है। अब उनका एक मात्र पुत्र है, जो संगीत की विशेष शिक्षा प्राप्त कर रहा है। किंतु निराला जी अलग ही रहते हैं। उनका जीवन कबीर, तुलसी आदि सन्तों का-सा है। साहित्य-साधना के अतिरिक्त और कोई मोह उन्हें नहीं है। अत्यन्त सरल और भोले होने के साथ ही ये स्वाभिमानी भी ऊँची श्रेणी के हैं। कभी झुकना नहीं जानते। पारिवारिक संघर्ष के परिणाम झेलते हुए भी साहित्य-साधना करते रहना और स्वाभिमान की रक्षा करना निराला जी का ही काम है। उनका अन्तर और बाह्य दोनों विशाल हैं। उनका व्यक्तित्व ऐसा महान् है कि भारतीय भाषाओं में उसकी समता के लिए शायद ही कोई दूसरा व्यक्तित्व मिल सके। किसी ने निरला जी से इस संबंध में पूछा तो उन्होंने

कहा था—"देखते नहीं मेरे पास एक कवि की वाणी, कलाकार के हाथ, पहलवान की छाती और फिलासफर (दार्शनिक) के पैर हैं।" जिस व्यक्ति से निराला जी ने अपने संबंध में यह बात कही थी उसने संवेदन-शील हृदय मिलाकर निराला जी के व्यक्तित्त्व को पूरा कर दिया था। हम समझते हैं कि निराला जी कवि, कलाकार, पहलवान, फिलासफर और सहृदय मानव इन पाँचों तत्त्वों के पुंजीभूत रूप हैं। हिन्दी का कोई कवि इतना विचित्र व्यक्तित्व लिये हुए नहीं हैं। यही कारण है उनकी कविता भी अन्य सभी कवियों से भिन्न प्रकार की है। वे सब से अलग अपने आप में अकेले हैं—निराले हैं और उनकी ऊँचाई को छूने की शक्ति बहुत कम लोगों में है।

सारांश यह है कि बँगला में शिक्षा होना, अंग्रेजी-संस्कृत की पढ़ाई के साथ दार्शनिक चिंतन के बाद हिंदी में लिखना, उच्चवर्गीय संस्कृति में पलना, रामकृष्ण और विवेकानन्द का प्रभाव ग्रहण करना, दरबारी वातावरण से संगीत-साहित्य की गहरी छाप लेकर निकलना, छोटी अवस्था में ही पत्नी का वियोग हो जाना, स्वाभिमानी और अक्खड़ स्वभाव के साथ फक्कड़पना और पुराने संतों का-सा जीवन बिताना आदि ऐसी बातें हैं, जिनसे निराला जी के काव्य-साहित्य को समझने में सुविधा हो सकती है; क्योंकि उनके निरालेपन की कुंजी इन्ही में छिपी है। यही करण है कि उनका विकास हिंदी के अन्य कवियों की अपेक्षा अपनी सामयिक परिस्थितियों का उल्लंघन करते हुए भी स्वाभाविक गति से हुआ है। दूसरी बात यह है कि निराला जी शुद्ध साहित्योपजीवी प्राणी रहे हैं। शुद्ध साहित्योपजीवी का अर्थ यह है कि साहित्य के अतिरिक्त उनकी जीविका का

अन्य कोई साधन नहीं रहा। इसलिए उन्हें लिखना भी बहुत पड़ा है। कहानी, उपन्यास, कविता इन तीनों क्षेत्रों में निराला जी ने ढेरों रचनाएँ की हैं। कहानी-संग्रह 'सखी' और 'लिली'; उपन्यास 'अप्सरा', 'अलका', 'निपरुमा', 'प्रभावती' आदि, कविता-संग्रह 'अनामिका', 'परिमल', 'गीतिका', 'तुलसीदास', 'कुकुरमुत्ता,' 'अणिमा,' 'बेला' आदि के अतिरिक्त सुना है 'ऊषा' नाम की एक नाटिका भी उन्होंने लिखी थी, जो प्रकाशित नहीं हुई। इधर उन्होंने 'कुल्लीभाट और 'बिल्लेसुर बकरिहा' जैसी गद्य कृतियाँ भी की हैं जो सामाजिक परिस्थिति पर गहरे व्यंग हैं। 'रवीन्द्र-कविता कानन' से उनकी आलोचना-शक्ति तथा 'प्रबन्ध-पद्म' और 'प्रबन्ध प्रतिमा' में मौलिक निबन्ध-कला के दर्शन होते हैं। अब भी निराला जी की साधना की ज्योति मन्द नहीं हुई। वे निरन्तर गतिशील हैं। द्वितीय महा-युद्ध के दिनों में पंत जी तथा महादेवी की वाणी कुछ मूक भले ही हो गई हो, परन्तु निराला जी की बराबर मुखरित रही है। संघर्ष से वे कभी विमुख नहीं हुए। उनका व्यक्तित्व पौरुष से ओतप्रोत है। वीभत्स समस्यायें उन्हें डरा धमका नहीं सकतीं। दार्शनिकता के स्तर से वे विश्व को देखते रहे हैं, परन्तु सामाजिक संघर्ष उनकी मूल-भाव-धारा में भी ध्वनित होता रहा है। स्वभावतः ही सामाजिक संघर्ष और उथल-पुथल के लिए निराला जी ने गद्य का सहारा लिया है। उनका गद्य इतना ठोस और गठा हुआ है कि 'गद्य कवीनां निकषा वदन्ति' की उक्ति यदि परीक्षा के लिए ली जाय तो निराला जी उसमें प्रथम श्रेणी में प्रथम आयेंगे। एक-एक शब्द, एक-एक वाक्य, मोती की तरह जड़ा हुआ है। नवीन विचार और शैली की स्थापना से उसमें

चार चाँद लगा गए हैं। परन्तु इस महान् कलाकार का कवित्व ही हमारा आलोच्य विषय है, अतः हम यहाँ उनकी कविता पर ही विचार करेंगे।

जैसा कि हम निराला जी के जीवन से परिचय पाने पर जान चुके हैं, बँगला उनकी मातृभाषा सी रही है। बंगाली भावुक होते हैं और बगला की मिठास का बहुत कुछ श्रेय उनकी इसी भावुकता को है। निराला जी में भावुकता बंगाल की जलवायु के कारण स्वाभाविक रूप से है ही, साथ ही उनकी भाषा में मिठास भी है, जो संस्कृत के गहन अध्ययन और अंग्रेज़ी के चिंतन-मनन से प्रौढ़ हो गई है। इसके साथ ही निराला जी आरंभ से दार्शनिक रहे हैं। उनको किशोर काल में ही दार्शनिक जीवन की अनुभूति होगई थी। परिणाम यह हुआ कि विवेकानन्द के व्यक्तित्व और रामकृष्ण के सिद्धांतों के मूर्त रूप बन गए। वेदान्त का जो वरदान उन्हें इन बीसवीं शताब्दी के दो प्रमुख दार्शनिक महात्माओं से मिला, उसने निराला जी की कविता को भी वेदान्त से युक्त बना दिया। उनकी कविता में सबसे प्रबल स्वर यदि किसी भावना का है तो वह इसी वेदान्त का है। यही उनका रहस्यवाद भी है। रहस्यवाद में आत्मा-परमात्मा के मिलन की भूमिका का वर्णन प्रेम-भावना के आधार पर होता है, उसमें चिन्तन का अभाव होता है। विशेष रूप से उनका संबंध प्रेमिका-प्रेमी के रूप में ही मिलन और बिछोह के चित्रों का अंकन किया जाता है। निराला जी में वेदान्त तत्त्व की प्रधानता है अतएव उनमें रस या राग तत्त्व तो पर्याप्त मात्रा में है परंतु ब्रह्म के प्रति निवेदन में स्त्रीत्व को उन्होंने नहीं अपनाया। और अपनाया भी है तो कम। जहाँ कहीं भी उन्होंने दार्शनिक तत्त्वों को काव्य का

विषय बनाकर प्रस्तुत किया है, वहीं उनको अपने पुरुषत्व को विशेष प्रतिष्ठा देनी पड़ी है। उनका सबल व्यक्तित्व उन्हें आज्ञा नहीं देता कि वे महादेवी की भाँति विराट् पुरुष के प्रति केवल नारी रूप में ही समर्पित हो सकें या कबीर की भाँति 'हरि मेरौ पीव मैं हरि की बहुरिया' कह सकें। ये प्रसाद की भाँति सामान्य भाव-भूमि पर अपने को भी पुरुष ही मानते हैं। इसमें उनका दोष भी नहीं है। भारतीय संस्कृति ही इस भावना के मूल में हैं। उपनिषदों में भी चिन्तन का यही क्रम है और आत्मा परमात्मा का अंश होने के कारण पुँल्लिङ्ग रूप में ही वर्णित है। निराला जी हों या प्रसाद जी, भारतीय संस्कृति की परम्परा के दार्शनिक चिंतन में यही क्रम आना स्वाभाविक होगा। निराला जी के दार्शनिक रहस्यवाद का उत्कृष्ट उदाहरण उनकी 'तुम और मैं' कविता है। यह कविता निराला जी की कविताओं में विशेष स्थान रखती है। विषय, भाव और कला की दृष्टि से कवि की सर्वोत्कृष्ट रचनाओं में इसकी गणना है। प्रकृति और मानव-हृदय की भावनाओं को लेकर ब्रह्म और जीव या परमात्मा और आत्मा की अभिन्नता का जैसा कलापूर्ण चित्रण इस कविता में है, वैसा अन्यत्र नहीं मिल सकता। कविता का आरंभ भी बड़ी विशद भूमिका से हुआ है—

तुम तुङ्ग हिमालय-शृंग
और मैं चंचल-गति सुर-सरिता
तुम विमल हृदय उच्छ्वास
और मैं कांत-कामिनी-कविता।
तुम प्रेम और मैं शान्ति,
तुम सुरा-पान-घन-अंधकार,
मैं हूँ मतवाली भ्रान्ति।

हिमालय से गंगा का, विमल हृदय के उच्छ्वास से सुन्दर कविता का, प्रेम से शांति का, शराब की बेहोशी से मतवाली भ्रांति का जैसे जन्म होता है और जैसा इनमें घनिष्ट सम्बन्ध है वैसे ही परमात्मा से आत्मा का जन्म होता है और इन दोनों का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है। समूची कविता में ऐसे ही रूपकों का कलात्मक गुम्फन है।

दार्शनिक के लिए संसार की विरक्ति एक आवश्यक गुण है। उसे इस विश्व से मोह नहीं रहता। मोह रहने पर ब्रह्म के प्रति निश्चित प्रेम-प्रदर्शन में बाधा पड़ती है। अतः कवि में तीव्र विरक्ति घर कर लेती है। इस विरक्ति का परिणाम होता है कि वह उदासीन हो जाता है। यह उदासीन वृत्ति हमारे कवि में भी तीव्र है। वह भी विश्व की माया और सृष्टि की नश्वरता के प्रति एक उपेक्षा के भाव से देखता है। उसे पता है कि उसके प्रिय जनों में से भले बुरे सभी चले गये। उगी हुई कोंपल की भाँति जो भी संसार में आए वे क्षण भर रहकर और खिलकर अभिलाषाओं के पूर्ण होने से पहले ही चले गए। लेकिन कवि को इस पर भी निराशा नहीं है। यह जानते हुए भी कि उसे भी इसका शिकार होना पड़ेगा, वह बाधाओं और चिन्ताओं का स्वागत करने को प्रस्तुत होता है। उसमें निराशा नहीं है। क्षण-भंगुरता उसे हतोत्साह नहीं कर सकती, कुछ क्षण को उसे विषाद-मग्न भले ही कर दे। यही दार्शनिकता की केन्द्रीय भावना है।[1] संभवतः कवि का यही आशावाद है जो

१—देख चुका जो जो आए थे,
चले गए।

जीवन की विजय, पराजय, चिर अतीत की आशा, सुख आदि में ब्रह्म का निवास और ब्रह्म में इन सबका पर्यवसान देखता हुआ उसके कर-स्पर्श से रहित सृष्टि को असार समझता है।[1] इसी

मेरे प्रिय सब बुरे गए, सब
भले गए !
क्षण भर की भाषा में,
नव-नव अभिलाषा में,
उगते पल्लव से कोमल शाखा में
आए थे जो, निष्ठुर कर से
मले गए,
मेरे प्रिय सब बुरे गए, सब
भले गए !
चिंताएँ-बाधाएँ,
आती ही हैं, आएँ,
अन्ध हृदय है, बंधन निर्दय लाएँ,
मैं ही क्या, सब ही तो ऐसे
छले गए,
मेरे प्रिय सब बुरे गए, सब
भले गए ! —'परिमल'

१—जीवन की विजय, सब पराजय,
चिर अतीत आशा, सुख, सब भय,
सब में तुम, तुममें सब तन्मय,
कर-स्पर्श-रहित और क्या है ? अपलक, असार ?
मेरे जीवन पर, प्रिय, यौवन-वन के बहार !

लिए उसे बार-बार ऐसा अनुभव भी होता है कि उसका प्रभु करुणा द्वारा उसके हृदय को पुलकित कर रहा है।[1] और वह गा उठता है कि अभी मेरे जीवन में वसंत का आगमन ही हुआ है, अभी मेरा अन्त कैसे होगा ?[2] इतना होने पर भी कवि की आत्मा उस प्रकाशमय लोक के लिए अवश्य विकल है जहाँ ज्योति के सहस्र रूप खिलते हैं और रस की धारा बहती है और प्रियतम के नेत्रों के मिलन के कारण इस जग का ध्यान नहीं रहता। जगत् के पार जाने का लक्ष्य कवि के सम्मुख सदैव रहा है।[3] अपनी मानसिक भावनाओं को चित्रित करने के साथ वे भावना और कल्पना के पंखों पर ऊँचे से ऊँचे उड़े हैं। कभी-कभ वे चिंतन से ऊँचे उठते हैं और स्वस्थ मन से अनुभव करते हैं कि वह प्रियतम उनके हृदय गगन में अज्ञान की अमावस के अंधकार में प्रकाश का चंद्रमा बन कर आया था। तब दिङ्-मंडल में चाँदनी फैल गई थी, ज्योति का केन्द्रीकरण-सा होगया था, प्रीति का स्वच्छन्द विकास हुआ था और दोनों के

१—भर देते हो
वार-वार प्रिय, करुणा की किरणों से
क्षुब्ध हृदय को पुलकित कर देते हो।

२—अभी न होगा मेरा अन्त।
अभी अभी ही तो आया है मेरे वन में मृदुल वसंत।

३—हमें जाना है जग के पार—
जहाँ नयनों से नयन मिले
ज्योति के रूप सहस्र खिले,
सदा ही बहती नव-रस-धार
वहीं जाना, इस जग के पार। —'परिमल'

प्राण परस्पर मिल गए थे।[1] ऐसे चित्र निराला जी ने अगणित दिए हैं और उनके साथ प्रकृति अनिवार्य रूप से सहचरी बनकर आ गई है। लेकिन निराला जी में शुष्क ज्ञान के आधार पर जीवन और जगत् तथा उसके कर्ता के रहस्य की पहेली को सुलझाने के लिए भी बेचैनी बनी ही रही है। परमात्मा संसार में व्याप्त है या संसार परमात्मा में व्याप्त है? अथवा परमात्मा और विश्व एक ही हैं? विश्व का कारण वह है या उसका कारण विश्व? इसका भेद अभी कवि नहीं समझ पाया है और जब तक उसकी यह ग्रंथि न खुल जाय उसके मन का खेद नहीं मिट सकता।[2] दार्शनिकता निराला जी में प्रधान रूप से हैं, इस बात को समझने के साथ-साथ यह भी जानना आवश्यक है कि कहीं वह भावना-प्रधान है और कहीं चिंतन-प्रधान। जहाँ भावना-प्रधान है वहाँ वहाँ तो सरसता स्वाभाविक है ही परंतु जहाँ चिंतन-प्रधान है वहाँ भी उनका कवित्व सबल और पुष्ट है।

१—तुम आए,
अमा-निशा थी
शशधर-से नभ में छाए।
फैली दिङ्मण्डल मे चाँदनी,
बँधी ज्योति जितनी थी बाँधनी,
खुली प्रीति, प्राणों से प्राणों में भाए। —'अणिमा'

२—तुम हो अखिल विश्व में
या यह अखिल विश्व है तुममें,
अथवा अखिल विश्व तुम एक
यद्यपि देख रहा हूँ तुममें भेद अनेक

वेदान्त के स्वर की प्रखरता के साथ-साथ निराला जी में करुणा का स्वर भी प्रखर है। कारण यह है कि स्वामी विवेकानन्द जी, जिनके व्यक्तित्व और विचारों से निराला जी अत्यधिक प्रभावित हैं, दर्शन को जन-जन का कल्याण-विधायक बनाने के पक्ष में थे और उसकी व्याख्या राष्ट्रीयता के आधार पर करते थे। उनके समय की परिस्थिति में देश की परतन्त्रता और उस परतन्त्रता से पैदा हुई बेबसी के कारण वेदान्त का वह स्वरूप, जो उन्होंने स्थिर किया, वैराग्य प्रधान दर्शन से कहीं अधिक उपादेय और अपनी वस्तु था। निराला जी ने विवेकानन्दी वेदान्त को अपनाने के साथ-साथ उसमें व्यक्त करुणा और राष्ट्रीयता को भी ज्यों का त्यों अपना लिया। अपने नयन मूँद कर दयनीय परिस्थिति में पड़े मानव के दुःख से छुटकारा पाने वाले वेदान्त को कोई हृदय-हीन संन्यासी भले ही अपना ले, सहृदय कलाकार कभी उसे नहीं अपना सकता। निराला जी ने एक कलाकार के नाते करुणा को अपने काव्य में पूरा-पूरा स्थान दिया है। उन्होंने 'परिमल' की 'आग्रह' शीर्षक कविता में माता सरस्वती से प्रार्थना की है कि हे माँ मुझे वहाँ ले चल जहाँ वेदना का संसार मूर्छित हुआ पड़ा है।[1] निराला जी ने वेदना के

विन्दु ! विश्व के तुम कारण हो
या यह विश्व तुम्हारा कारण ?
पाया हाय न अब तक इसका भेद,
सुलझी नहीं ग्रंथि मेरी, कुछ मिटा न खेद ! 'परिमल'

१—माँ, मुझे वहाँ तू ले चल !
देखूँगा वह द्वार—
दिवस का पार—

संसार को भी उतनी ही कुशलता से रूप-रंग द्वारा सजीव किया है, जितना कि आनन्द के संसार को ! उनकी 'विधवा', 'भिक्षुक,' 'दीन', 'वह तोड़ चली पत्थर' आदि कविताओं में उनकी करुणा-कलित वाणी की छटा दर्शनीय है । इन विषयों पर सैकड़ों कवितायें लिखी गई परन्तु निराला जी के समान हार्दिकता किसी में भी नहीं है । 'विधवा' पर तो उनकी पंक्तियाँ विश्व-साहित्य में बेजोड़ हैं । भारतीय विधवा के करुण चित्र को आरंभ करते हुए कवि ने लिखा है कि वह इष्ट देव के मंदिर की पूजा के समान पवित्र है, दीप-शिखा की भाँति शांत और भाव-मग्न है, उसे देखकर क्रूर काल की निष्ठुरता की याद आजाती है, वह टूटे हुए वृक्ष से (खड़े हुए से नहीं, क्योंकि खड़े हुए वृक्ष से जिस लता को अलग किया जायगा वह किसी न किसी प्रकार हरी-भरी रह भी सकती है, पर टूटे हुए वृक्ष से अलग की हुई लता नितान्त आश्रय-हीन होती है) पृथक हुई लता के समान दीन है । ऐसी दलित भारत की विधवा है । दलित इसलिए कहा कि यदि स्वतंत्र और आनन्द-मग्न भारत होता तो उसकी विधवा की दशा ऐसी न होती । तब तो शायद विधवा का अस्तित्व भी न होता । इसमें दुहरा व्यंग्य है । देश की दयनीय दशा और पतन की ओर अस्पष्ट पर तीव्र संकेत भी है ।[1] 'भिक्षुक' में भी यही करुणा का

मूर्च्छित हुआ पड़ा है जहाँ
वेदना का संसार ! —'परिमल'

१—वह इष्टदेव के मंदिर की पूजा-सी,
वह दीप-शिखा-सी शांत, भाव में लीन,
वह क्रूर काल ताण्डव की स्मृति-रेखा-सी
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन—
दलित भारत की विधवा है । —'परिमल'

स्रोत है। कवि भिक्षुक का चित्र खींचते हुए कहते हैं कि वह कलेजे को दो टूक करता हुआ (अपनी करुणा-पूर्ण वाणी से) पछताता मार्ग पर चला आ रहा है। उसके पेट और पीठ मिलकर एक हो गए हैं और कमज़ोरी के कारण वह लकड़ी टेक कर चल रहा है। वह मुट्ठीभर दाने से अपनी भूख मिटाना चाहता है इसलिए वह अपनी फटी पुरानी झोली का मुँह फैलाता हुआ आ रहा है। उसके साथ दो बच्चे भी हैं जो सदा हाथ फैलाए रहते हैं। वे बाएँ हाथ से पेट को मलते चलते हैं और दायाँ हाथ दया-दृष्टि पाने को बढ़ाए रहते हैं। दीनता-प्रदर्शन करते-करते जब उनके ओष्ठ भूख से सूख जाते हैं तब वे दाता—भाग्य-विधाता—से क्या पाते हैं ? तिरस्कार—निरादर और प्रताड़ना ! और फिर आँसुओं का घूँट पीकर रह जाते हैं। वे कभी सड़क पर खड़े जूठी पत्तल चाटते हैं और कभी कुत्ते उनके साथ छीना-झपटी करते हैं। यह स्थिति है भिक्षुक और उसके बच्चों की ! कवि चाहता है कि वह ठहरे और वह अपने हृदय के अमृत से (करुणा से) उसको सींच दे। उसका विश्वास है कि वह अभिमन्यु जैसा बन सकेगा। इसी लिए वह उस के दुख स्वयं ले लेना चाहता है।[1]

निराला जी की यह करुणा निरंतर उनके साथ रही। 'परिमल'

१—वह आता—

दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
पेट-पीठ दोनों मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को—भूख मिटाने को

की ये कवितायें उनके हृदय की स्निग्धता को व्यक्त करती हैं और अपने समकालीन कवियों से उन्हें ऊपर ले जाती हैं। 'अनामिका' तक उनकी यही करुणा बहती चली जाती है। लेकिन आगे की रचनाओं में वे इसके कारण की खोज में लगे हैं। 'बेला' नामक नवीनतम संग्रह में ४५ वीं कविता में भी एक भिक्षुक का चित्र है। लेकिन उसमें केवल भिक्षुक पर करुणा नहीं है, न उसका दयनीय चित्र ही है। उसमें बनिया, कलाकार, शिक्षक, कारीगर, महाराज और तरुणी ने उस मुट्ठी भर हड्डी के भीख माँगते ढाँचे पर जो-जो रिमार्क दिए हैं उन्हें ज्यों का त्यों रख कर कविता समाप्त कर दी है। लेकिन यह कविता कला की दृष्टि से आधुनिक अधिक

मुँह फटी पुरानी झोली का फैलाता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
साथ दो बच्चे भी हैं सदा हाथ फैलाए,
बाएँ से वे मलते हुए पेट को चलते,
और दाहिना दया-दृष्टि पाने की ओर बढ़ाए।
भूख से सूख ओंठ जब जाते
दाता—भाग्य-विधाता—से क्या पाते ?
घूँट आँसुओं का पीकर रह जाते।
चाट रहे जूठी पत्तल वे कभी सड़क पर खड़े हुए,
और झपट लेने को उनसे कुत्ते भी हैं अड़े हुए।
ठहरो मेरे हृदय में है अमृत, मैं सींच दूँगा
अभिमन्यु जैसे हो सकोगे तुम
तुम्हारे दुःख मैं अपने हृदय में खींच लूँगा। —'परिमल'

है और इसमें शक्ति भी उसकी अपेक्षा अधिक है, क्योंकि इसे उसने समाज के भीतर रखकर, उसका अंग समझ कर अपनी सम्मति दी है और उसका अस्तित्व स्वीकार किया है जब कि उस 'भिक्षुक' पर केवल कवि की दया ही बरसी है और 'दाता—भाग्य-विधाता'—की क्रूरता की ओर संकेत भर कर दिया गया है।[1] यहाँ व्यंग्य प्रधान है, जो आज की कविता का प्रबल अस्त्र है।

१—भीख माँगता है अब राह पर
मुट्ठी भर हड्डी का यह नर
एक आँख आज के बानिज की
पराधीन होकर उस पर पड़ी
कहा कला ने, कल का यह वर।
एक आँख शिक्षा की हठी से
देखने लगी उसे अमेठी से
कहा, खुलकर छोटा भूधर।
एक आँख कारीगर की गड़ी,
कहा, आदमी की यह है छड़ी,
खोदे कोई इसको लेकर।
एक आँख पड़ी महाराज
कहा, देख ली है स्तुति व्याज की,
मानव का सच्चा है यह घर।
एक आँख तरुणी की जो अड़ी
कहा, यहाँ नहीं कामना सड़ी
इससे मैं हूँ कितनी सुन्दर।—बेला

छायावादी काव्य में दार्शनिक चिन्तन और करुणा के अतिरिक्त जो तीसरी बड़ी भारी विशेषता है, वह है रूप या दृश्य चित्रण की। कहीं कवि नारी रूप के ऐसे चित्र देता है जो प्रकृति के उपकरणों के माध्यम से अत्यधिक आकर्षक हो गए हैं। 'गीतिका' नामक संग्रह में ऐसे रूप चित्रों का आधिक्य है। जहाँ ऐसा चित्रण है, वहाँ अलंकार स्वाभाविक रूप से आ गए हैं। प्रभात काल में जाने वाली एक सुन्दरी का चित्र, '(प्रिय) यामिनी जागी' वाले गीत में दिया गया है, जिस में रूपक अलंकार की छटा के साथ-साथ कवि की कला भी निखार पर आ गई है—

(प्रिय) यामिनी जागी।
अलस पंकज-दृग-अरुण-मुख
तरुण-अनुरागी।
खुले केश अशेष शोभा भर रहे,
पृष्ठ-ग्रीवा-बाहु-उर पर तर रहे,
बादलों में घिर अपर दिनकर रहे,
ज्योति की तन्वी तड़ित्,
द्युति ने क्षमा माँगी।

लेकिन इन चित्रों से भी अधिक सुन्दर चित्र हैं प्रकृति के मानवीकरण के। यों तो अश्लील शृंगार इन चित्रों में भी नहीं आ पाया है परन्तु प्रकृति के चित्र तो ऐसे सुन्दर हैं कि कवि की निरीक्षण शक्ति और अनुभूति का कायल होना ही पड़ता है। 'जुही की कली', 'शेफालिका', 'संध्या-सुन्दरी', 'शरत् पूर्णिमा की बिदाई' आदि कविताओं में प्रकृति का नारी रूप खूब निखरा है। 'जुही की कली' कवि की सर्व-प्रथम रचना है, जिसे उसने मुक्त छन्द में लिखा है। उसमें कल्पना

की गई है कि कली विजन वन में वल्लरी पर सो रही है। सौभाग्य युक्त भावनाएँ उसके हृदय में हैं—स्नेह-स्वप्न-मग्न है। अमल-कोमल-तन वाली तरुणी के समान उस का सौंदर्य है, दृग् बंद हैं और शिथिल हो कर वह पत्रांक में पड़ी हुई है। वासन्ती निशा है और मलयानिल नाम का उसका पति विरह-विधुर प्रिया (जुही की कली) का संग छोड़ कर दूर देश में भ्रमण कर रहा है।[1] इसमें प्रकृति का स्थिर चित्र है जो सोती हुई युवती के रूप में अंकित है। गत्यात्मक चित्र भी निराला जी के काव्य में असंख्य मिल जायँगे। देखिए दिवसावसान के समय संध्या सुन्दरी परी-सी मेघ-मय आसमान से उतर रही है। वह परी है इस लिए धीरे-धीरे उतर रही है और अन्धकार में कहीं भी चंचलता का आभास नहीं है। उसके अधर तो मधुर हैं परन्तु कहीं उच्छृंखलता नहीं है और न हास-विलास है। वह कुछ गंभीरता लिये हुए है। सुन्दरी है इस लिए यह गंभीरता आवश्यक है।[2] वैसे प्रकृति के अथवा परिस्थितियों के

---

१. विजन-वन-वल्लरी पर
सोती थी सुहाग-भरी—स्नेह स्वप्न मग्न—
अमल-कोमल-तनु-तरुणी—जुही की कली,
दृग बन्द किए शिथिल, पत्रांक में,
वासन्ती निशा थी;
विरह-विधुर-प्रिया-सङ्ग छोड़
किसी दूर देश में था पवन
जिसे कहते हैं मलयानिल। —'परिमल'

२. दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है

स्वतंत्र चित्रण भी निराला जी में कम नहीं हैं परन्तु इन चित्रणों में सौंदर्य रूपक के कारण अधिक उभर आया है। बादल-राग 'निराला' जी की अनूठी रचना है, जो अपनी कला में स्वतः पूर्ण है। पंत जी की 'बादल' कविता में जो कल्पना उपमाओं के रंगीन मोती लिये चटक-मटक कर चलती है वह निराला जी के 'बादल राग' में अपने पौरुष और गति के स्वतन्त्र विकास को ले कर चलती है। निराला जी का बादल विप्लव का सन्देश सुनाने आया है, कल्पना का विलास दिखाने नहीं। यों उपमाओं का अभाव उस में नहीं है परन्तु वे सब उसकी विप्लवी हुंकार को अधिक मूर्त करने के लिए आई हैं। कविता पढ़िए और शब्दों की ध्वनि से अर्थ का स्पष्टीकरण होता जायगा। शब्द-चयन में निराला जी की पटुता और भाषा पर अधिकार जैसा यहाँ व्यक्त हुआ है, वैसा अन्यत्र नहीं। ऊँचे पहाड़ से गिरनेवाले झरने में जो वेग होता है, वह उनकी इस कविता में है।[1]

प्रकृति के चित्रण में निराला जी की अपनी विशेषता यह है कि वे उसे सदैव रूपक में व्यक्त करते हैं। जहाँ ऐसा नहीं होता वहाँ उनमें स्वतंत्र और निर्लिप्त चित्रण होता है। सारांश यह कि वे चाहे प्रकृति के रूपक-चित्र दें या स्वतन्त्र चित्र, सर्वत्र उनका स्वस्थ व्यक्तित्व उनमें प्रदर्शित रहता है।

वह संध्या-सुन्दरी परी-सी धीरे-धीरे-धीरे,
तिमिरांचल में चंचलता का नहीं कहीं आभास,
मधुर मधुर हैं दोनों उसके अधर,—
किन्तु गम्भीर,—नहीं है उनमें हास विलास। —'परिमल'

१. झूम-झूम मृदु गरज-गरज घन घोर।
राग अमर! अम्बर में भर निज रोर!

निराला जी की कविता में अतीत के प्रति प्रेम बड़ी गहराई से व्यक्त हुआ है। परतंत्र देश के कवि को अपना अतीत बहुत प्रिय होता है, विशेष रूप से तब कि जब अतीत बड़ा गौरववान् रहा हो। यों तो हर बीता हुआ कल ही वन्दनीय होता है तो भी चिरकाल तक विश्व को ज्ञान दान देने वाले देश के कवि को भूख-प्यास से जर्जर और बुद्धि तथा हृदय से हीनता का अनुभव करने वाले मानव समुदाय के बीच परतंत्रता की पीड़ा से कराहते हुए जो वेदना होती है उसे वह अतीत के संबल से ही सहता है। निराला जी का विश्वास है कि अतीत का गान गाने से अतीत लौट सकता है, उसी प्रकार जिस प्रकार शिशु माताओं के वक्षस्थल पर अपना भूला गान पाते हैं और माताएँ शिशुओं के अधरों पर अपनी मुसकान पाती हैं। 'परिमल' में 'आदान प्रदान' नाम की छोटी सी कविता में यही भाव व्यक्त हुआ है।[1] अतीत-प्रेम के लिए 'यमुना', 'महाराज शिवाजी का पत्र', 'पंचवटी-प्रसंग', राम की शक्ति पूजा, 'सहस्राब्दि' आदि कविताएँ उल्लेखनीय हैं।

झर झरझर निर्झर-गिरि-सर में,
घर, मरु, तरु-मर्मर, सागर में,
सरित—तड़ित-गति—चकित पवन में,
मन में, विजन-गहन-कानन में,
आनन-आनन में, रव-घोर-कठोर,
राग अमर! अम्बर में भर निज रोर। —'परिमल'

१. कठिन शृंखला बजा बजा कर, गाता हूँ अतीत के गान,
मुझ भूले पर उस अतीत का क्या ऐसा ही होगा ध्यान?
शिशु पाते हैं माताओं के वक्षस्थल पर भूला गान,
माताएँ भी पातीं शिशु के अधरों पर अपनी मुस्कान। —परिमल

इन कविताओं में कवि ने प्राचीन वैभव और गौरव का विस्तृत वर्णन किया है। 'यमुना में वह दुखी होकर पूछता है कि हे यमुना बता अब वह वंशीवट कहाँ है और कहाँ हैं वे नटनागर श्याम? कहाँ है वह चरण-चाप से व्याकुल हो उठने वाला पनघट, कहाँ हैं वह वृन्दा-धाम? कभी यहाँ जिन गोपियों के शरीर श्याम-विरह से तप्त देखे गये थे वे आज किस विनोद की प्यासी गोद में अर्थात् किस अभाव में अश्रुपात कर रही हैं।[1] महाराज शिवाजी का पत्र जयसिंह को दक्षिण में चढ़ाई करने के समय लिखा गया था। इसमें भारत के पतन और राजपूतों के ह्रास का ओजपूर्ण शब्दों में चित्रण है। निराला जी का ओज इस कविता में खूब व्यक्त हुआ है। 'राम की शक्ति पूजा' को जब निराला जी स्वयं पढ़ते हैं तब वे वीर रस की मूर्ति हो जाते हैं। 'सहस्राब्दि' (अणिमा) कविता में वैदिक काल से लेकर मुगलों के आक्रमण तक की भारतीय संस्कृति का उज्ज्वल चित्र है। इसके साथ ही अधःपतन पर करुण अश्रुपात भी है। निराला जी की ये कविताएँ हिन्दी का गौरव हैं और उनकी कला का उत्कृष्ट रूप प्रस्तुत करती हैं।

१—बता कहाँ अब वह वंशीवट?
कहाँ गए नटनागर श्याम?
चल-चरणों का व्याकुल पनघट
कहाँ आज वह वृन्दाधाम?
कभी यहाँ देखे थे जिनके
श्याम-विरह से तप्त शरीर,
किस विनोद की तृषित गोद में
आज पोंछतीं वे दृग-नीर?

—'परिमल'

निराला जी की कविता में सब से बड़ी विशेषता है उनकी विद्रोह-भावना। समाज, साहित्य और व्यक्तिगत जीवन में बन्धनों को ठुकराने में वे अंग्रेजी के कवि बायरन की कोटि में आ जाते हैं। बायरन में विद्रोह का स्वर प्रखर था परन्तु दार्शनिकता उसमें गौण थी, जिसके कारण वह आवेश का कवि कहलाया। इसके प्रतिकूल निराला जी में दर्शन का आधिक्य होने के कारण उनका विद्रोह संयत हो गया है परन्तु स्वर उनका बायरन से कम प्रखर नहीं है। संसार की विषमता और शोषण तथा अत्याचार से पीड़ित कवि का हृदय शक्ति का आवाहन करता है और कहता है कि हे श्यामा तू एक बार और नाच, फिर तुझ से नाचने को न कहूँगा। यदि तुझे सामान की चिन्ता हो तो वह व्यर्थ है क्योंकि सामान सब तैयार है। असुर इतने हैं कि तुझे हारों की कमी न रहेगी। मुण्ड-मालाओं की मेखला बना कर आज तू सज जा। एक बार बस एक बार और नाच। तेरी झंझामय भैरवी भेरी तभी बजेगी जब मृत्यु से तू पंजा लड़ायेगी। हे माँ, जब तू हाथ में खड्ग और खप्पर लेगी तब मैं अपनी अञ्जलि भर-भर कर उसमें रुधिर भरूँगा। माँ इतने दिन हो गए क्या अब भी तू मेरी प्रार्थना नहीं सुनती। क्या मैं अब भी उगलियों पर दिन गिनता चला जाऊँ? हे श्यामा एक बार—बस एक बार और नाच।[1] धीरे-धीरे दैवी शक्तियों पर से कवि का

१—एक बार बस और नाच तू श्यामा!
सामान सभी तैयार,
कितने ही हैं असुर, चाहिए कितने तुझको हार?
कर मेखला मुण्ड-मालाओं से बन मन-अभिरामा—
एक बार बस और नाच तू श्यामा!

विश्वास हटता गया है। ज्यों ज्यों वह संघर्ष में पड़ता गया है, उसकी आँखों के सामने जन साधारण की अवस्था प्रकट होती गई है और वह इस दुर्दशा का कारण और उसका निवारण वर्ग-वाद में ढूँढने लगा है। आज उसका जन-शक्ति में विश्वास हो गया है और वह नर-शक्ति का उपासक हो गया है। आज वह पीड़ित, तृषित मानव को क्रांति के लिए शीघ्र से शीघ्र क़दम बढ़ाने के लिए कहता है, क्यों-कि वह जानता है कि भविष्य में आज के अमीरों की हवेली कल के किसानों की पाठशाला होगी। धोबी, पासी, चमार, तेली अज्ञाना-न्धकार को दूर कर मानवता का पाठ पढ़ेंगे।[1] यह विश्वास ही है जिसके कारण कवि ने नर को पहाड़ के समान दृढ़ होने की चेतना

भैरवी भेरी तेरी झ झा
तभी बजेगी मृत्यु लड़ायेगी जब तुझसे पंजा;
लेगी खड्ग और तू खप्पर,
उसमें रुधिर भरूँगा माँ
मैं अपनी अञ्जलि भर भर;
उँगली के पोरों में दिन गिनता ही जाऊँ क्या माँ—
एक बार बस और नाच तू श्यामा! —'परिमल'

१—जल्द-जल्द पैर बढ़ाओ, आओ-आओ।
आज अमीरों की हवेली
किसानों को होगी पाठशाला
धोबी, पासी, चमार, तेली
खोलेंगे अन्धेरे का ताला
एक पाठ पढ़ेंगे, टाट बिछाओ। —'बेला'

की है—'झरने फूटेंगे, उबलेंगे, नर अगर कहीं तू बने पहाड़।' आज वही सीधे पूँजीपति से कहता है कि इस दरिद्रता और शोषण का भेद हमें मालूम है और यदि तुम्हारे मिल की पूँजी देश की सम्पत्ति बन जाय तो सब ठीक हो जाय।[1] पिछले तीन चार साल में युद्ध की भयंकरता और देश की स्वतंत्रता के रक्षकों के बंदी होने से उत्पन्न हुई निराशा के बीच भी निराला जी का कवि सजग रहा है, यह उनकी बड़ी जीत है। वे अब सीधे जनता के दुःख-दर्द का चित्र खींचने लगे हैं और वह भी देशी रागों में। 'गीतिका' के, झपताल, खम्माच आदि रागों को छोड़ वे 'कजली' गाने लगे हैं—मानों वे जन-कवि होने की तैयारी में हैं। पंत और महादेवी इस बीच मौन से ही रहे हैं पर निराला जी ने तूफानी गति से लिखा है। देश के प्राण पं० जवाहर लाल नेहरू के बंदी होने पर और देश की दुर्दशा पर कवि ने जो कजली लिखी है, वह सैकड़ों राष्ट्रीय कविताओं से श्रेष्ठ है। उसमें युद्ध, देश में व्याप्त निराशा, मँहगाई, रँगरूटों के दलों का विदेश जाना आदि का करुण चित्रण है जो आग लगा देता है। नाग के समान काले काले बादल छा गए हैं पर वीर जवाहर लाल नहीं आए। बिजली सर्प की मणि सी कौंध रही है जिसे देखकर सर झुका लेना पड़ता है। बादल सर पर सर सर करते दौड़ रहे हैं पर वीर जवाहर नहीं आए। पुरवैया हवा फुफकार रही है और विष की बौछारें कर रही है, और हम निराशा की गुफा

१—भेद कुल खुल जाय वह,
सूरत हमारे दिल में।
देश को मिल जाय जो,
पूँजी तुम्हारे मिल में है।

में समाए हुए हैं पर वीर जवाहर लाल नहीं आए। मँहगाई बढ़ गई है, गाँठ की गाढ़ी कमाई भी चुक गई है और आज हम भूखे नंगे शर्माए हुए खड़े हैं तो भी वीर जवाहर लाल नहीं आए। हाय हम निहत्थे कैसे बच पायँगे। हमारे जत्थे के जत्थे बाहर चले जा रहे हैं और हम भरमाए हुए राह देख रहे हैं पर अब तक वीर जवाहर लाल नहीं आए।[1] यह कविता जापानी आक्रमण की संभावना के समय देश की वास्तविक स्थिति का सजीव चित्र है, जो लोक गीत की कला बड़ा मार्मिक हो गया है।

'अणिमा' नामक काव्य-संग्रह में कवि ने स्वर्गीय प्रसाद जी, शुक्ल जी, महादेवी वर्मा, विजयलक्ष्मी पंडित आदि पर प्रशस्तियाँ लिखी हैं, जो उनकी विशाल-हृदयता की द्योतक हैं। 'कुकुरमुत्ता' नाम का काव्य-संग्रह निराला जी का और है जिसमें उन्होंने व्यंग लिखे हैं। 'कुकुरमुत्ता' में तो उन्होंने अपने ही अद्वैतवाद की हँसी उड़ाई है। 'गर्म पकौड़ी', 'मास्को डायलाग्ज', 'प्रेम संगीत', 'रानी और

१—काले-काले बादल छाये, न आए वीर जवाहरलाल।
कैसे कैसे नाग मँडलाए, न आए वीर जवाहरलाल।
बिजली फन के मन की कौंधी, कर दी सीधी खोपड़ी औंधी,
सर पर सर-सर करते धाये, न आए वीर जवाहरलाल।
पुरवाई की हैं फुफकारें, छन-छन ये बिस की बौछारें,
हम हैं जैसे गुफा में समाए, न आए वीर जवाहरलाल।
मँहगाई की बाढ़ बढ़ आई, गाँठ की छूटी गाढ़ी कमाई,
भूखे नंगे खड़े शरमाए, न आए वीर जवाहरलाल।
कैसे हम बच पायँ निहत्थे, बहते गए हमारे जत्थे,
राह देखते हैं भरमाए, न आए वीर जवाहरलाल। —'बेला'

कानी' आदि में सामाजिक बुराइयों की ओर प्रच्छन्न संकेत है। वस्तुतः बात तो यह है कि ज्यों ज्यों निराला जी आगे बढ़े हैं त्यों त्यों व्यंग प्रधान होता गया है। 'परिमल', 'अनामिका' और 'गीतिका' की रंगीनी आगे नहीं रही। कला में भंगिमाएँ तो आई हैं पर भाव और विषय सरलतम हो गए हैं। वैसे निराला जी की कला का उत्कर्ष 'तुलसीदास' नामक ग्रंथ में दर्शनीय है। अपनी स्त्री रत्नावली के प्रति तीव्र आसक्ति वाले तुलसीदास कैसे तीव्र वैराग्य वाले हो गए और कैसे उनकी साधना आगे बढ़ी और कैसे वे उसमें सफल हुए इसका उदात्त भावना-पूर्ण चित्र 'तुलसीदास' में दिया गया है। यह कृति निराला जी की भाषा और शैली का अन्यतम नमूना है। इसमें उनकी संस्कृत-गर्भित और सामासिक पदयुक्त भाषा का सुन्दर रूप प्रदर्शित है। प्रसाद ने छायावादी महाकाव्य 'कामायनी' दिया है तो निराला का 'तुलसीदास' भी एक प्रसिद्ध छायावादी प्रबन्ध-काव्य है।

अब तक हमने निराला जी के काव्य के भाव पक्ष पर ही विचार किया है और देखा है कि किस प्रकार उन्होंने दार्शनिक के रूप में अपनी काव्य-साधना आरंभ की और फिर भक्ति-भाव-पूर्ण हृदय से सरस्वती के चरणों में अपनी प्रतिभा के पुष्प चढ़ाते हुए देश-प्रेम, प्रकृति, क्रांति-विद्रोह और अतीत-प्रेम के गीत गाते हुए जन-जीवन के सीधे चित्र देना आरंभ किया। भाव-पक्ष में उनकी क्रांति तो महत्त्व-पूर्ण है ही, कलापक्ष में उनका विद्रोह सबसे अधिक प्रकट हुआ है। उसके लिए उन्होंने हिंदी में मुक्त छंद का प्रयोग किया। जब पहले पहल इस का प्रयोग हुआ तब लोगों ने मज़ाक उड़ाने के लिए इसे रबड़ छंद या केंचुआ छंद कहना आरंभ कर दिया था। लोगों

की ऐसी धारणा बन गई थी कि निराला जी जो कुछ लिख रहे वह कविता नहीं है, शब्दों की खिलवाड़ है। लेकिन निराला जी जैसा प्रतिभाशाली कलाकार इस बात से घबराने वाला न था। कलाकार के नाते उन्होंने स्वच्छन्द छंद की जो सृष्टि हिंदी में की उसका संबंध उन्होंने वेदों जोड़ा और सिद्ध किया कि यह समृद्ध भाषा के लिए नई अथवा विदेशी चीज़ नहीं है। निराला जी ने 'परिमल' की भूमिका मे अपने पक्ष का ज़ोरदार समर्थन किया और लिखा—"मनुष्यों की मुक्ति की तरह कविता की भी मुक्ति होती है। मनुष्यों की मुक्ति कर्मों के बंधन से छुटकारा पाना है और कविता की मुक्ति छंदों के शासन से अलग हो जाना। जिस प्रकार मुक्त मनुष्य कभी किसी के प्रतिकूल आचरण नहीं करता, उसके तमाम काम औरों को प्रसन्न करने के लिए होते हैं—फिर भी स्वतंत्र, इसी तरह कविता का हाल है। मुक्त काव्य साहित्य के लिए कभी अनर्थकारी नहीं होता, प्रत्युत उससे साहित्य में एक प्रकार की स्वाधीन चेतना फैलती है, जो साहित्य के कल्याण की ही मूल होती है। जैसे बाग की बँधी और वन की खुली हुई प्रकृति। दोनों ही सुन्दर हैं, पर दोनों के आनन्द तथा दृश्य दूसरे-दूसरे हैं। जैसे आलाप और ताल की रागिनी। इसमें कौन अधिक आनन्दप्रद है, बतलाना कठिन है। पर इसमें संदेह नहीं आलाप, वन्य-प्रकृति तथा मुक्त-काव्य स्वभाव के अधिक अनुकूल हैं।" बंधन-हीन भावनाएँ स्वभावतः अधिक सुचारु ढंग से व्यक्त हो सकती हैं, इसमें संदेह नहीं, परंतु उनके पढ़ने की एक विशेष कला होती है। हमारा अनुभव है कि निराला जी की कितनी ही कवितायें स्वयं पढ़ने पर उतनी अच्छी नहीं लगतीं और समझने में भी दुरूह जान पड़ती हैं परन्तु जब वे उन्हें पढ़ते हैं तब

उनका सौंदर्य ही नहीं निखर उठता, वे ऐसी आकर्षक हो जाती हैं कि हृदय बार-बार उनका रसास्वादन करना चाहता है। निराला जी ने अपनी कला के संबंध में एक लेख लिखा था। उसका शीर्षक था, 'मेरे गीत और कला'। वह उनके निबंध संग्रह 'प्रबंध प्रतिमा' में संगृहीत है। उसमें उन्होंने अपनी कला की विशेषताओं का उद्‌घाटन किया था। उन्होंने मुक्त छंद के विषय में अपना मत इस प्रकार दिया था—"मैंने पढ़ने और गाने दोनों के मुक्त रूप निर्मित किए हैं। पहला वर्णवृत्त में, दूसरा मात्रा वृत्त में। इनसे हट कर मुक्त रूप में छंद जा ही नहीं सकता। गाना भी जो मैंने सिखाया है वह हिंदी का पुराना राग नहीं कि कविजी कवि-सम्मेलन में शाम के वक्त भैरवी में कविता पढ़ने लगे। तबले के समाने बैठा दीजिए तो भैरवी भी भूल जाय। मेरा गाना भी कविता का ही गाना है। गीत तो मैंने अलग लिखे हैं।"

तात्पर्य यह है कि निराला जी का मुक्त छन्द भी प्रवाह और गति के नियमों में बँध कर चलता है जिसके पढ़ने और गाने का विशेष ढंग है। इसके साथ ही निराला जी की कला की दूसरी विशेषता है, उसका संगीत। हम पहले लिख चुके हैं कि संगीत का शास्त्रीय ज्ञान निराला जी को राज-दरबार से ही मिला है। छन्दों की क्रान्ति में संगीत ने उनकी बड़ी सहायता की है। इसलिए गीतों में प्रचलित शब्दों के रूप बदल गए हैं। 'गीतिका' के गीतों में उसके अच्छे उदाहरण मिल सकते हैं कि कवि ने संगीत के लिए कैसे शब्दों के अंतिम वर्ण या स्वर को बदल दिया है। निराला जी की कविता में संगीत इतना प्रधान है कि शब्दों के सामान्य रूप से परिचय रखने वाले पाठक गड़-बड़ा जाते हैं और उन्हें क्लिष्ट भी कह देते हैं।

संगीत तत्त्व के बनाए रखने में ध्वन्यात्मक शब्द ही सहायता करते हैं। निराला जी ऐसे शब्द चुन-चुन कर रख देते हैं कि उनकी ध्वन्यात्मकता से संगीत की रक्षा के [illegible] व्य [illegible] गौंदर्य भी बढ़ जाता है। उदाहरण के लिए 'गीतिका' की यह पंक्तियाँ [illegible] जिए :—

मौन रही हार
प्रिय पथ पर चलती सब कहते शृंगार
कण-कण का कंकण, मृदु किण-किण रव किंकिणी
रणन-रणन नूपुर उर लाज और रंकिनी
और मुखर पायल स्वर करें बार-बार—
प्रिय पथ पर चलती सब कहते शृंगार।

इसमें कंकण, किंकिणी, नूपुर और पायल के स्वर को व्यक्त करने वाले शब्दों को लेकर भाव व्यक्त किए गए हैं। कंकण के साथ कण-कण, किंकिणी के साथ किण किण, नूपुर के साथ रणन-रणन और पायलों के साथ बार बार मुखरित होना आदि से कवि ने ध्वन्यात्मक चित्र खींच दिया है।

भाषा के ऊपर निराला जी का अधिकार है। संस्कृत के पंडित होने के कारण उन्हें शब्दों की कमी नहीं खटकती। अनेक अप्रचलित शब्दों का प्रयोग उन्होंने किया है और यदि यह कसौटी ही किसी कलाकार के बड़प्पन की हो कि किसने अधिक शब्द दिए हैं तो निराला जी का स्थान सर्व प्रथम होगा। 'तुलसीदास' में, जहाँ कि उन्हें मनोवैज्ञानिक तथ्यों का निरूपण करने के लिए भाषा को बहुत कुछ गढ़ना पड़ा है, शब्दावली जटिल हो गई है।[1] वैसे अब निराला जी

१—भारत के नभ का प्रभा पूर्य, शीतलच्छाय सांस्कृतिक सूर्य,
अस्तमित आज रे, तमस्तूर्य दिङ्-मंडल—'तुलसीदास'

ने उर्दू ढंग पर ग़ज़लें लिखना भी शुरु कर दिया है। उन ग़ज़लों में उर्दू-हिन्दी का स्वाभाविक मेल है और कहीं-कहीं तो इतना प्रवाह और इतनी कारीगरी है कि उर्दू के अच्छे-अच्छे शायरों से वे टक्कर ले सकते हैं।[1] भाषा में यह परिवर्तन 'परिमल', 'अनामिका', 'तुलसीदास' और 'गीतिका' के बाद आरम्भ होता है। 'कुकुर मुत्ता' में अंग्रेजी के शब्दों को भी बड़ी खूबी से जड़ा है। उसके बाद 'अणिमा' और 'बेला' में छन्दों के नए प्रयोगों के साथ भाषा भी बदली हुई है।

इस प्रकार भावपक्ष और कलापक्ष दोनों में ही निराला जी का पौरुषमय स्वच्छंद व्यक्तित्व प्रकट हुआ है। लेकिन सर्वत्र सजीवता और गतिशीलता उनमें बनी रहती है। श्री नंददुलारे वाजपेयी के शब्दों में कविताओं के भीतर से जितना प्रसन्न अथच अस्खलित व्यक्तित्व निरालाजी का है, उतना न प्रसाद जी का है न पंत जी का। यह निराला जी की समुन्नत काव्य-साधना का परिणाम है। निराला जी के 'कवि' में जड़त्व का अंकुश कहीं नहीं मिलता जब कि प्रसाद जी की भावनाएँ कहीं-कहीं साधारण तल तक पहुँच गई हैं और पंत जी का शृंगार यत्र-तत्र ऐंद्रियता की दशा तक पहुँच गया है और उनकी कविता यदा कदा 'अपनी तारीफ' तक करने लगी। इसका कारण यह है कि निराला जी दार्शनिक होने के कारण तटस्थता से ही करुणा या शृंगार का चित्रण करते हैं। उनमें बुद्धितत्त्व इतना प्रधान है कि उनका कल्पना-तत्त्व और रागात्मक तत्व उस

---

१. जमाने की रफ़्तार में कैसा तूफाँ
मरे जा रहे हैं जिये जा रहे हैं।
खुला भेद, विजयी कहाए हुए जो,
लहू दूसरे का पिये जा रहे हैं—'बेला'

पर कभी दुखी नहीं हो पाते और कविता में सर्वत्र संयम या नियंत्रण बना रहता है। संभवतः इसीलिए दार्शनिकता, संगीतमयता और आलंकारिकता तीनों ने मिलकर उनके काव्य में त्रिवेणी-संगम की पावनता, आकर्षण और सौंदर्य की सृष्टि क है।

निराला जी की काव्य-साधना निरंतर गतिशील रही है और वे प्रसाद की 'कामायनी' की भाँति हिंदी को कुछ देना चाहते हैं। उन के कठोर तप से यह आशा करना कि वे अवश्य कुछ-न-कुछ गे असंभव नहीं है। अभी तो वे फारसी के छंदः शास्त्र का निर्वाह करते हुए अलग-अलग बहरों की ग़ज़लें दे रहे हैं। आगे शायद वे फिर अपने वास्तविक रूप में लौट कर कुछ दें। हो सकता है वे इन नए प्रयोगों में ही वह महान् कृति दे दें। जो कुछ भी हो, आज वे जन-जीवन के निकट आ रहे हैं और यह हिंदी के लिए बड़े सौभाग्य की बात हैं। उनकी भाषा सरल-सजल होकर भावों को नए रूप-रंग में पेश कर रही है। यह युग के अनुकूल ही है। उन्होंने अपनी प्रथम काव्य पुस्तक 'परिमल' में मंगलाचरण के रूप में जो प्रार्थना की थी, वह आज पूर्ण होती दीखती है और उनकी वाणी नवीन आशा के प्रकाश से पूर्ण होकर स्वयं ही गूँज रही है। उसकी ध्वनि दिग्दिगंत में व्याप्त हो रही है और जन-जन गा रहा है—

जग को ज्योतिर्मय कर दो!
प्रिय कोमल-पद-गामिनि! मंद उतर
जीवन्मृत तरु-तृण-गुल्मों की पृथ्वी पर
हँस हँस निज पथ आलोकित कर,
नूतन जीवन भर दो!
जग को ज्योतिर्मय कर दो!

सुमित्रानंदन पंत

भारतेन्दु ने जिस विद्रोह और राष्ट्र-प्रेम को लेकर साहित्य सृजन किया था, उसके कारण 'हिंदी-हिंदू हिंदुस्तान' की भावना ने साहित्य में व्यापकता तो प्राप्त कर ली लेकिन उनके असमय निधन से उनके द्वारा प्रवर्तित पथ को निश्चित दिशा न मिली। यही कारण है कि उनके कुछ ही दिन बाद उनका मंडल अपना कार्य करके विश्राम लेने लगा और उनकी सर्वांगीण सुधार-वृत्ति का आंदोलन साहित्य में ढीला पड़ गया। लेकिन साहित्य में अपनी तन, मन, धन की जितनी शक्ति वे लगा चुके थे, उससे भविष्य में भी सुफल फलने की आशा तो हो ही चुकी थी। द्विवेदी जी के आने पर भारतेन्दु की भावनाएँ साहित्य में नए रूप में आईं। द्विवेदी जी का युग राष्ट्रीय संरक्षण का युग था, जिसमें भारतीयों को अपनी संस्कृति, सभ्यता और साहित्य के संयत विकास की बड़ी आवश्यकता प्रतीत हुई। भारतेन्दु ने जो बहुमुखी प्रगति की धारायें बहाई थीं उनको संयत करना द्विवेदी जी का काम था। उन्होंने गद्य की भाषा को ही व्यवस्थित नहीं किया, वरन् पद्य की भाषा में भी क्रांति ला दी। खड़ी बोली पद्य की भाषा हो गई और द्विवेदी जी की देख-रेख में सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय, रामनरेश त्रिपाठी आदि ने खड़ी बोली के काव्यात्मक सौंदर्य को बढ़ाने की शक्ति भर चेष्टा की। इन कवियों के प्रयत्न से खड़ी बोली का स्वरूप निखरा और अब उसका आकर्षण भी बढ़ा, लेकिन द्विवेदी

जी नैतिकता के पक्षपाती थे । राष्ट्रीय आन्दोलन में भी नैतिकता थी; फलतः साहित्य में भी उसकी आवश्यकता पड़ी । इस नैतिकता के आधार पर उन्होंने भारतेन्दु-कालीन सरसता का एक प्रकार से बहिष्कार-सा कर दिया । कविता से रस का बहिष्कार द्विवेदी-युग की विशेषता थी । यह प्रति-क्रिया थी उस रीति कालीन काव्य-प्रणाली के प्रति जो भारतेन्दु युग में भी अपना प्रभाव बनाए हुए थी। भारतेन्दु ने अपनी राष्ट्रीयता के साथ उसे सुरक्षित रखा था—कुछ परिष्कार-परिमार्जन के साथ। द्विवेदी जी ने उसे पसंद न किया और डिक्टेटर की भाँति काव्य-जगत् में शुद्ध नैतिकता का समावेश किया । कवियों को द्विवेदी जी की सद्भावना पर अगाध श्रद्धा थी। बात मान ली गई और काव्य में इतिवृत्तात्मक कविता का जन्म हुआ । इतिवृत्तात्मक का अर्थ है—किसी प्रकार की कल्पना या भावुकता का रंग चढ़ाये बिना सीधे-सादे शब्दों में अपनी बात रख देना । अधिकतर द्विवेदी-युग का काव्य पद्य है, जिसमें कवित्व कहीं-कहीं है । कारण, उसमें कवियों को नैतिक बन्धन थे । ऐसे बंधनों में कविता का विकास नहीं होता, यह निश्चित है ।

कुछ भावुक युवक जो अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त थे और पाश्चात्य विचारों के भी संपर्क में आ चुके थे, द्विवेदी-कालीन कविता में इस अप्राकृतिक शासन को हृदय से अस्वीकार करते थे। वे यह तो मानते थे कि शृंगार रस में राधा-कृष्ण को लेकर जो आज तक घिसी-पिटी तुकबन्दियाँ और चमत्कार-प्रदर्शन होता है, उसे नष्ट हो जाना चाहिए, लेकिन यह नहीं मानते थे कि शृंगार का एक दम बहिष्कार कर दिया जाय । जीवन के इतने बड़े अंग की ऐसी अपेक्षा उन्हें असह्य थी, वे इतिवृत्तात्मक कविता से असंतुष्ट थे, उन्हें

उसमें कोई रस या रुचि न थी। वे तो कुछ और ही सोचते थे और चाहते थे कि यदि इस इतिवृत्तात्मक कविता में प्राण डाल दिये जायँ, स्पन्दन भर दिया जाय तो हमारा काम सफल हो जायगा। यह विचार उन्होंने किया और विषय, भाव, भाषा और शैली के तत्त्वों का गहरा मन्थन करने के बाद मक्खन स्वरूप उस कविता को जन्म दिया, जिसे छायावाद कहते हैं। उन्होंने स्थूलता को नमस्कार किया और सूक्ष्म भावनाओं को व्यक्त करने लगे। वे जानते थे कि समाज में इस विद्रोह का स्वागत न होगा परन्तु तो भी वे भाषा और साहित्य को नई गति देना चाहते थे, इस लिए उन्होंने ऐसा किया। एक बात यहाँ समझ लेनी चहिए कि छायावाद का अर्थ अन्तर्मुखी वृत्तियों का ऐसा चित्रण है, जो बाह्य प्रभाव से अलग, अपने निराले ढंग से होता है। यों अन्तर्मुखी वृत्तियाँ भी बाह्य प्रभाव से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकतीं, परन्तु इन कवियों ने एकान्त में बैठ कर अपने भीतर की हलचल को ही व्यक्त किया। अकेलेपन में प्रकृति के अतिरिक्त कोई साथी नहीं मिला इस लिए उस का स्वाभाविक सहयोग इन को मिला और इन की कविता में उस का स्थान महत्त्वपूर्ण हो गया। महत्त्वपूर्ण ही नहीं उनकी कविता में प्रकृति स्वयं साकार हो कर बैठ गई। युवक थे, उत्साह और युवकोचित प्रेम-भावना उन में थी ही। प्रकृति के साथ वह भी मिल गई। उस की तृप्ति समाज में असंभव थी क्योंकि समाज की मर्यादा बाधक थी। वह प्रेम-भावना अतृप्त वासना बन कर काव्य में स्थान पा गई। उसके साथ कुछ निराशा भी थी लेकिन जब एक कल्पित प्रेमिका को इन लोगों ने आत्म-समर्पण किया तो वह निराशा आशा में बदल गई उल्लास और भव्यता उनकी वाणी में स्वतः प्रविष्ट हो गए। प्रकृति, अतृप्त वासना और मानसिक

संवर्ष को व्यक्त करने के लिए उन्हें कला भी नई गढ़नी पड़ी। बंगाल में रवीन्द्र नाथ यही कर चुके थे। विश्व कवि से अधिक प्रेरणा-स्रोत दूसरा मिल नहीं सकता था। कुछ सीधा अंग्रेजी का भी प्रभाव पड़ा, उस की भी अभिव्यंजना शैली को इन्होंने ग्रहण किया। बँगला और अंग्रेजी के प्रभाव से नई भाषा, नए छन्द, नए अलंकार ले कर उन्होंने अपने काल्पनिक स्वर्ग की रचना की। उस स्वर्ग में प्रकृति का नया रूप हो गया, वह नई सजधज से आई, जैसी साहित्य के इतिहास में कभी नहीं आई थी। मन का जगत् भी नये परिधान में आविष्ट हो कर बाहर आया। प्रकृति के साथ मानों जगत् का यह नया रूप ही साहित्य में छायावाद कहलाया। शृंगारी कविता से इस में भिन्नता केवल यही थी कि इसमें उतना खुलापन न था, जितना उसमें होता है। यह प्रच्छन्न शृंगार था, जिसमें भव्यता अधिक थी। इतिवृत्तात्मक कविता के प्रेमी और उस काल की व्रज भाषा के रसिकों की समझ में यह अटपटी व्यंजना नहीं आती थी, कुछ अस्पष्टता भी थी। उन्होंने इसमें काव्य की काया न देखी, छाया देखी और बस नाम रख दिया 'छायावाद'।

इस छायावादी कविता को जिन कवियों ने आगे बढ़ाया उनमें हमारे पंत जी का प्रमुख स्थान । यों तो छायावाद का आरम्भ जयशंकर प्रसाद जी के 'झरना' काव्य- संग्रह से माना जाता है और वही इसके प्रवर्तक कहे जाते हैं लेकिन पंत जी ने छायावाद की कला को सबसे अधिक निखारा है। इनके अतिरिक्त पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला और महादेवी वर्मा ने इस कविता में पौरुष और करुणा का समावेश किया है। इस प्रकार छायावाद की कविता के प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी ये चार उज्ज्वल नक्षत्र हैं, जिनके प्रकाश में

अन्य कवियों ने अपने काव्य-साधना के पथ को पार किया है। ये चार ही अपनी नवीन भावाभिव्यंजना, नवीन विचार-प्रणाली, नवीन भाषा-शैली और नवीन कला-कौशल के कारण शीर्ष स्थान पाने के अधिकारी हैं। इनका विरोध भी बहुत हुआ है लेकिन अध्ययन की गंभीरता और व्यक्तित्व की धीरता के बल पर वे बराबर आगे बढ़ते आए हैं। लाञ्छनाओं और आक्षेपों के प्रहार सहने वाले इन कवियों ने भक्ति-काल की विशदता और व्यापकता से पहली बार साहित्य का शृंगार किया है और इनके साहित्य की समता केवल भक्ति काल के साहित्य से ही की जा सकती है । वृत्तियों में नहीं वरन् भाषा और भाव के सौंदर्य में; क्योंकि वृत्तियाँ उनकी भक्तिकालीन कवियों से नितान्त भिन्न हैं। पौर्वात्य और पाश्चात्य दोनों साहित्यों के मूल-तत्त्वों के विवेचन-विश्लेषण के बाद इन्होंने अपने काव्य का शृंगार किया है और खड़ी बोली को मृदुता और माधुर्य के साथ वह भावाभिव्यंजकता दी है, जो द्विवेदी काल में देखने को भी नहीं थी। सच तो यह है कि अपनी इसी विशेषता से वे साहित्य में प्रतिष्ठित हुए और इसके लिए वे सदैव प्रतिष्ठित रहेंगे।

जैसा कि हम कह चुके हैं, इन कवियों में पंत जी का प्रमुख स्थान है। उन्हें प्रकृति का सुकुमार कवि कहा जाता है। वास्तव में पंत जी को यह विशेषण देना संगत है क्योंकि वे उन्मुक्त प्रकृति के अंचल में जन्मे, पले और बड़े हुए हैं, जिससे उनकी अंतःप्रकृति भी कोमल और स्निग्ध हो गई है। उनका जन्म मई १६०० में कूर्मांचल के सुंदरतम प्रदेश कौसानी में हुआ था, जो अल्मोड़ा ज़िला में है। बचपन में ही इन्हें माता की स्नेहमयी गोद से वंचित होना पड़ा। फल-स्वरूप व्यक्तित्व में संकोचशीलता आ गई। प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण ने

इसमें साथ दिया और बचपन से ही कवि चिंतनशील होगया। स्कूली शिक्षा के प्रति विशेष रुचि नहीं रही क्योंकि वह उनके चिंतन को गति नहीं दे सकी और महात्मा गांधी के भाषण से प्रभावित होकर एफ० ए० से ही पढ़ना छोड़ दिया। लेकिन संस्कृत, बँगला और अंग्रेजी के गंभीर अध्ययन ने दीवारों की बंद शिक्षा का अभाव ही नहीं पूरा किया वरन् नवीन उद्भावनाओं के लिए भी मार्ग खोल दिया। बचपन से ही कवितायें लिखने लगे। विषय होते थे 'कागज-कुसुम', 'सिगरेट का धुआँ' जैसे बिलकुल निराले। १५ वर्ष की उम्र में 'हार' नामक उपन्यास भी लिखा था, जिसकी हस्त-लिखित प्रति काशीनागरी प्रचारिणी के संग्रहालय में है। पहली कविता 'स्वप्न' थी जो 'सरस्वती' में छपी थी। सबसे पहले १६२५ में उनकी प्रसिद्ध कविता पुस्तक 'पल्लव' निकली जिसने नवयुग उपस्थित कर दिया। वैसे उससे पहले 'वीणा' और 'ग्रंथि' भी लिख चुके थे। 'वीणा' में आरंभिक प्रकृति-प्रेम की कवितायें हैं और 'ग्रंथि' में एक प्रेम-कथा है। 'पल्लव' के बाद ही कवि के पिता का देहांत होगया और जीवन में अभाव ही अभाव होगया। इसी समय उनको बीमारी ने भी आ घेरा। प्रकृति-प्रेम से कवि में जीवन के सुख-दुख की ओर देखने की प्रवृत्ति जगी। दुःख का अनुभव हुआ पर स्वस्थ होने से आशा भी जगी और उसके बाद 'गुंजन' का प्रकाशन हुआ जिसमें जीवन की—मानव-जीवन की—आशामयी विवेचना है। 'गुंजन' का प्रकाशन सन् ३२ में हुआ। मानव-जीवन की मंगलमयी कल्पना सन् ३३ में प्रकाशित 'ज्योत्स्ना' नाटक में हुई। लेकिन तभी कवि को अपनी वास्तविक दृष्टि मिल गई और कल्पना के स्वर्ग को छोड़कर कवि धरती उतरा। 'युगांत' में, जो सन् ३४ में प्रकाशित हुआ, प्राचीनता

के प्रति विरक्ति और नवीनता के प्रति आग्रह है। उसमें मानव का रूप और निखरा। उसके पश्चात् 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' का प्रकाशन हुआ। सन् ४०-४१ के बाद अब कवि मौन है और भारत के प्रसिद्ध नर्तक श्री उदयशंकर के साथ कला के उद्धार के लिए प्रयत्न-शील है और भावी समाज-व्यवस्था की शीघ्र से शीघ्र स्थापना के लिए जनता के निकट आ रहा है। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में जिस साम्यवादी विचारधारा को उसने अपनी कला का विषय बनाया है, उसी विचारधारा को अब मूर्तिमान देखने के लिए उसकी साधना जारी है।

कवि पंत बोलते बहुत कम हैं। जन-भीरु भी हैं, कभी उन्हें भीड़-भाड़ से रुचि नहीं रही। व्यक्तित्व बड़ा सौम्य और आकर्षक है। घुँघराले रेशम के-से लंबे लंबे बाल, स्वच्छ और स्निग्ध आँखें, गंभीर और सरल मुखाकृति, आकर्षण के साधन हैं। उनकी वेशभूषा अत्यंत सादी होने पर भी उसमें सुरुचि का प्रमुख स्थान है। वीभत्सता से उन्हें चिढ़ है, सौंदर्य से प्रेम। स्वाभिमानी और आत्म-विश्वासी होने के साथ-साथ जीवन में संयम और निश्चय के पक्षपाती हैं। अविवाहित रहने और जीविका के लिए चिन्ता न करने तथा कभी कहीं कभी कहीं अस्थिरता से घूमते रहने पर भी उनकी संयत जीवन-प्रणाली में अन्तर नहीं आया। यह विशेषता हिन्दी में अकेले कवि पंत जी में ही है।

पंत जी की कविता का सबसे बड़ा तत्त्व है—उनका प्रकृति प्रेम। जन्मभूमि का पर्वतीय दृश्य और उस पर बचपन से मातृहीन होने से एकान्त-चिंतन ने पन्त जी को प्रकृति का चिर-सहचर बना दिया है। हिंदी में ऐसा कोई कवि नहीं हैं जिसने इस प्रकार प्रकृति को अपना कर जीवन का अंग बना कर रखा हो। 'वीणा' 'ग्रन्थि', 'पल्लव' तक तो

कवि ने अपने सौंदर्य-प्रेम और प्रकृति को मिला ही दिया है। 'गुञ्जन' में, जहाँ कि मानव-जीवन के प्रति दार्शनिक प्रकृति परिलक्षित है और 'युगान्त' से आगे 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' तक, जिनमें वस्तु जगत् ने उनके भावजगत् पर विजय पा ली है, सर्वत्र प्रकृति का अनोखा प्रभाव पड़ा है। प्रभाव ही नहीं कवि को कविता लिखने की प्रेरणा भी प्रकृति से ही मिली है। प्रकृति के रूपों के क्षण-क्षण बदलते रंगों—आकारों—ने ही कवि को सौंदर्य के प्रति प्रेम और जिज्ञासा की दृष्टि दी है। आरंभ में तो कवि का प्रकृति के प्रति इतना आग्रह था कि उसे नारी-सौंदर्य भी उतना आकर्षक नहीं लगता था जितना कि प्रकृति-सौंदर्य। 'वीणा' की एक कविता में कवि ने अपनी इस भावना का परिचय यों दिया है :—

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले, तेरे बाल-जाल से कैसे उलझा दूँ लोचन ?

प्रकृति का यह आकर्षण कवि को आरंभ से ही अपनी ओर खींचता रहा है। यही कारण है कि प्रकृति ने ही उनके काव्यजगत् को वह रूप-रंग दिया है जो अन्य-कवियों से उन्हें अलग कर देता है। प्रकृति के स्वतंत्र परंतु असंयत, नियंत्रित, नियमित वातावरण ने ही उनके छंदों और भाषा का परिष्कार करके उनकी कला का भी निर्माण किया। प्रकृति के संबंध में कवि का स्वयं का कथन है—"कविता करने की प्रेरणा मुझे सब से पहले प्रकृति-निरीक्षण से मिली है, जिसका श्रेय मेरी जन्मभूमि कूर्माचल प्रदेश को है। कवि-जीवन से पहले भी, मुझे याद है, मैं घंटों एकांत में बैठा, प्राकृतिक दृश्यों को एकटक देखा करता था: और कोई अज्ञात आकर्षण मेरे भीतर एक अव्यक्त

सौंदर्य का जाल बुन कर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था। जब कभी मैं आँख मूँदकर लेटता था, तो वह दृश्यपट, चुपचाप, मेरी आँखों के सामने घूमा करता था। अब मैं सोचता हूँ कि क्षितिज में दूर तक फैली, एक के ऊपर एक उठी, ये हरित नील धूमिल कूर्मांचल की छायांकित पर्वत-श्रेणियाँ, जो अपने शिखरों पर रजत मुकुट हिमांचल को धारण किए हुए हैं और अपनी ऊँचाई से आकाश की अवाक् नीलिमा को और भी ऊपर उठाए हुए हैं किसी भी मनुष्य को अपने महान् नीरव संमोहन के आश्चर्य में डुबाकर, कुछ काल के लिए भुला सकती हैं। और शायद यह पर्वत प्रांत के वातावरण का ही प्रभाव है कि मेरे भीतर विश्व और जीवन के प्रति एक गंभीर आश्चर्य की भावना, पर्वत ही की तरह निश्चय रूप से अवस्थित है।"

इससे स्पष्ट है कि कवि के भीतर प्रकृति-प्रेम ने ही एक 'अज्ञात आकर्षण' को जन्म दिया है और उस 'अज्ञात आकर्षण' ने 'अव्यक्त सौंदर्य' को। इसलिए कवि का हृदय उस सौंदर्य के भीतर अपने को खो देने को उत्सुक रहता है। साथ ही प्रकृति ने ही 'विश्व और जीवन के प्रति एक गंभीर आश्चर्य भावना' भी दी है, जिसने उसे चिंतक बना दिया है। कवि के कथन से एक और बात स्पष्ट होती है। वह यह कि उसकी कविता में जो रहस्यवाद बताया जाता है, वह व्यर्थ का है। कवि के शब्दों में केवल आश्चर्य और कौतूहल की व्यंजना ही, प्रकृति के माध्यम से हुई है। इसमें जीव, ब्रह्म या आत्मा परमात्मा की एकता का स्वप्न देखना या शंकर का अद्वैतवाद देखना अपनी आँखों को धोखा देना है।

१—'आधुनिक कवि', भाग २ (भूमिका)

तो कवि पंत ने प्रकृति से अपना नाता जोड़ लिया है और शैशव से ही उसे वह विभिन्न रूपों में दिखाई देती रही है। प्रकृति से निकट का परिचय होने के कारण कवि की दृष्टि में तीव्रता आ गई है। तीव्रता के कारण वह प्रकृति को शीघ्र पढ़ लेता है और उससे जो सन्देश मिलता है उसे भी ग्रहण कर लेता है। उसकी विशेषता यह है कि प्रकृति का चित्र ज्यों का त्यों खड़ा कर देता है—उसी प्रकार जिस प्रकार एक मित्र दूसरे मित्र के विषय में, उसकी आकृति, वेशभूषा, हाव-भाव के विषय में यथातथ्य जानकारी देता है। पर्वत-प्रदेश में पावस ऋतु का सौंदर्य अंकित करते हुए कवि उसके क्षण-क्षण बदलते रूप का स्पष्ट चित्र अंकित कर देता है। पहाड़ों के बीच घिरे हुए पानी में फूलों से भरे पहाड़ों की परछांई पड़ रही है। साधारण-सी बात है। लेकिन कवि ने इस साधारण सी बात को एक रूपक में परिवर्तन कर दिया है, और वह पहाड़ सजीव हो गया है, जिसके ऊपर खिले फूल उसके खुले हुए नेत्र हो गए हैं और नीचे भरे हुए पानी का ताल दर्पण होगया है, जिसमें वह बार-बार अपना मुँह देख रहा है।[1] उस दृश्य को यों प्रकट

१—पावस ऋतु थी, पर्वत प्रदेश,
पल-पल परिवर्तित प्रकृति वेश !
मेखलाकार पर्वत अपार
अपने सहस्र दृग-सुमन फाड़
अवलोक रहा है बार-बार
नीचे जल में निज महाकार
—जिसके चरणों में पला ताल
दर्पण-सा फैला है विशाल !

करने में उसका स्वरूप आँखों के आगे खड़ा हो जाता है। चित्रों की ऐसी अशेष राशि कवि के काव्य में बिखरी पड़ी है।

पंत जी की प्रकृति के साथ जो यह मैत्री है, उसका कारण यह है कि वे अपनी भावनाओं को उसके माध्यम से भली भाँति व्यक्त कर सकते हैं। उनसे उनके चित्रों में सजीवता और सौंदर्य आ जाता है और हम उनकी भावनाओं को समझ सकते हैं। कवि चाहता है कि प्रेयसी के 'ध्यान' करने और उसकी 'सुधि' आने की बेला में उसकी जो मानसिक दशा होती है, उसका चित्रण करे। उसके पास उस मानसिक दशा को व्यक्त करने के लिए प्रकृति के अतिरिक्त और कोई माध्यम नहीं है। वह 'ध्यान' के लिए तड़ित—बिजली—की तड़प लेता है। ध्यान और बिजली के सहसा आने में समानता है। बिजली की कड़क और गर्जना में जुगुनू जैसे अधीर हो जाते हैं वैसे ही प्रेयसी का ध्यान आते ही कवि के प्राण भी बेचैन हो उठे हैं। प्राण और जुगुनू की यहाँ समानता कर दी। यों एक मानसिक भावना को व्यक्त कर दिया। अब 'सुधि' को लीजिए। 'सुधि' बातों की आती है। बातों में सुखद स्वर की मिठास होती है। फिर 'सुधि' आने पर वे बातें ही दुहर-सी जाती हैं—उसी प्रकार जैसे शुक एक ही बात को सुखकर स्वर में दुहराता है। 'सुधि' और 'शुक' की यहाँ समानता है। इससे दूसरी मानसिक भावना मूर्त हो जाती है।[२]

२—तड़ित-सा सुमुखि! तुम्हारा ध्यान
प्रभा के पलक मार, उर चीर,
गूढ़ गर्जन कर जब गंभीर
मुझे करता है अधिक अधीर;

कभी-कभी कवि ने यह भी किया है कि अपनी भावनाओं को प्रकृति के माध्यम से व्यक्त करने के बदले प्रकृति को ही भावनाओं के माध्यम से व्यक्त किया है—

गिरिवर के उर से उठ-उठ कर,
उच्चाकांक्षाओं-से तरुवर,
हैं झाँक रहे नीरव नभ पर
अनिमेष, अटल, कुछ चिंतापर !

यहाँ वृक्षों की ऊँचाई को उचाकांक्षाओं के माध्यम से व्यक्त किया है और उनकी शांत दशा को अनिमेष, अटल चिंतापर व्यक्ति से। यों व्यक्ति की भावनाएँ ही प्रकृति के चित्रण का माध्यम बन गई हैं।

इसके अतिरिक्त कवि ने प्रकृति को नारी रूप में ही देखा है,[1]

जुगुनुओं से उड़ मेरे प्राण
खोजते हैं तब तुम्हें निदान !
पूर्व सुधि सहसा जब सुकुमारि !
सरल शुक सी सुखकर सुर में
तुम्हारी भोली बातें
कभी दुहराती है उर में,
अगन-से मेरे पुलकित प्राण
सहस्रों सरस स्वरों में कूक,
तुम्हारा करते हैं आह्वान,
गिरा रहती है श्रुति सी मूक !

१—प्रथम रश्मि का आना, रंगिणि !
तूने कैसे पहचाना ?

कुछ तो अपनी सुकुमारता के कारण और कुछ प्रकृति के सौंदर्य के कारण। हो सकता है कि दार्शनिक भावना से 'प्रकृति और पुरुष' का रूपक भी कवि के सामने हो। कभी-कभी प्रकृति के साथ तादात्म्य स्थापित करते हुए उसने अपने को नारी रूप में अंकित कर दिया है।[1]

यदा-कदा पंत जी प्रकृति के ऐसे चित्र भी देते हैं, जिनमें न आलंकारिकता होती है, न भावनाओं और प्रकृति का आदान-प्रदान, केवल तटस्थ दर्शक की भाँति कवि निरीक्षण द्वारा प्रकृति का चित्रण करता है और वातावरण की सृष्टि कर देता है:—

बाँसों का झुरमुट
संध्या का झुटपुट
हैं चहक रही चिड़ियाँ
टी-वी-टी-टुट्-टुट्!

कहाँ, कहाँ हे बाल-विहंगिनि!
पाया तूने यह गाना?
सोई थी तू स्वप्न-नीड़ में
पंखों के सुख में छिप कर।
झूम रहे थे, घूम द्वार पर
प्रहरी से जुगनू नाना।

१—कभी उड़ते पत्तों के साथ
मुझे मिलते मेरे सुकुमार
बढ़ाकर लहरों से निज हाथ
बुलाते, फिर, मुझको उस पार।

ये नाप रहे निज घर का मग—
कुछ श्रम जीवी घर डगमग पग
भारी है जीवन! भारी पग!!

लेकिन एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि पंत जी ने प्रकृति का कोमल और स्निग्ध स्वरूप ही चित्रित किया है। 'पल्लव' की 'परिवर्तन' कविता को छोड़कर सर्वत्र वे प्रकृति के मोहक रूप की ओर ही आकर्षित रहे हैं। 'परिवर्तन' में भी दार्शनिकता के कारण वह रूप स्वतः आ गया है, अन्यथा 'प्रथम रश्मि' 'बादल', 'नौका-विहार', 'एक तारा', 'दो मित्र, 'आँसू', 'अप्सरा' 'चाँदनी' आदि में कवि ने प्रकृति के सरस और स्निग्ध रूप को ही चित्रित किया है। श्री नगेन्द्र के शब्दों में 'प्रकृति के विराट् रंग-मंच पर इनकी सौंदर्यमयी दृष्टि पल्लव, बीचिजाल, मधुप-कुमारी, किरण, चाँदनी, अप्सरा, संध्या, ज्योत्स्ना, छाया, इन्दु, सुरभि, तारिकाएँ आदि पात्रों का ही अभिनय देखती है—अथवा देखना चाहती है। दिगन्तव्यापी उल्कापात, बवंडर, भूम्कप और वाडव-मंथन आदि में इनकी वृत्ति नहीं रमती।' लेकिन प्रकृति के इस सुन्दर पक्ष को चित्रित करने में वे सबसे आगे हैं।

प्राकृतिक सौंदर्य कवि की आत्मा की वस्तु बन गया है इसलिए वह अपने हृदय के उस आवेश को व्यक्त करना चाहता है, जिसे प्रेम कहते हैं और मिलन और विरह जिसके दो छोर हैं, तब भी वह प्रकृति को भूलता नहीं। साथ ही, नारी-सौंदर्य के चित्रण के लिए भी वह प्रकृति की सहायता भी ले लेता है। प्रकृति के साथ साथ पंत जी नारी के सौंदर्य का भी भव्य—वासना लिप्त नहीं—चित्रण करते हैं। वे नारी-सौंदर्य पर भी उतने ही मुग्ध हैं, जितने प्रकृति-

सौंदर्य पर।[1] वस्तुतः बात तो यह है कि वे सौंदर्य को व्यापक रूप में लेते हैं। सर्वत्र सौंदर्य की अखण्ड सत्ता देखने के कारण उनको सौंदर्य के चित्रण में स्वाभाविक रुचि रहती है और वे उसे व्यक्त भी बड़ी चातुरी से कर देते हैं, फिर चाहे वह नारी-सौंदर्य हो या प्रकृति-सौंदर्य। 'उच्छ्वास की बालिका' में वे एक बालिका का चित्रण करते हैं। इस चित्रण में आपको कहीं राग-तत्त्व का वासना-पंकिल रूप नहीं मिलेगा। पूरी कविता में उसके स्वच्छ, पवित्र, उज्ज्वल रूप के ही दर्शन होंगे—

सरलपन ही था उस का मन,
निरालापन था आभूषण,
कान से मिले अजान नयन
सहज था सजा सजीला तन।

+ + + +

रँगीले, गीले फूलों से
अधखिले भावों से प्रमुदित
बाल्य सरिता के कूलों से
खेलती थी तरंग-सी नित
—इसी में था असीम अवसित॥

कवि की कलम तूलिका है, इधर-उधर रेखायें खींच कर ही काम चला लेती है। उसे अधिक प्रयास नहीं करना पड़ता और चित्र खड़ा हो जाता है। मिलन के आनन्द का वर्णन जहाँ अन्य कवि

१—अकेली सुंदरता कल्याणि,
संकल ऐश्वर्यों की संधान।

कई पृष्ठ लिखकर भी नहीं कर सकते वहाँ उन्होंने केवल—"तुम्हारे छूने में था प्राण संग में पावन गंगा-स्नान । तुम्हारी वाणी में कल्याणि त्रिवेणी की लहरों का गान ।" से ही कर दिया है । मिलन हो या विरह, कवि की अनुभूति इतनी तीखी है कि उसकी नोक से कोई भाव या विचार विद्ध होने से नहीं बचता । सौंदर्य की एक झलक ही उसकी कल्पना को सौ-सौ नेत्र दे जाती है । उसे अनुभूति और कल्पना का वरदान प्राप्त है । वह भावनाओं को ऐसा रूप दे देता है कि उसे पढ़कर हृदय में उनकी कसक ज्यों की त्यों उतर आती है । इसका कारण यह है कि कवि की कल्पना वेदना-मय है, उसके आँसुओं में गान जीता-सिसकता है और शून्य आहों में सुरीले छन्द हैं । ऐसा समन्वय होने के कारण ही मधुर लय का कहीं अन्त नहीं होता ।[1] और तभी वह पुकार उठता है—

वियोगी होगा पहला कवि,
आह से उपजा होगा गान ।
उमड़ कर आँखों से चुपचाप,
बही होगी कविता अनजान !

पंत जी ने 'वीणा', 'ग्रंथि' और 'पल्लव' तक इस प्रकार की सौंदर्य-प्रेम-मयी कविताएँ लिखी हैं, जिनमें उनकी कल्पना को बहुत दूर तक दौड़ लगाने का अवकाश मिला है । 'वीणा' में इनके किशोर कवि की बालसुलभ भावुकता है, जिसमें कवि का प्रकृति की महत्ता पर

१—कल्पना में है कसकती वेदना
अश्रु में जीता सिसकता गान है
शून्य आहों में सुरीले छंद हैं
मधुर लय का क्या कहीं अवसान है ?

पूर्ण विश्वास है और उसके व्यापारों में पूर्णता का आभास मिलता है। 'वीणा' की कविताओं में 'गीतांजलि' की छाया भी स्पष्ट है।[१] परंतु 'ग्रंथि' में कवि संस्कृत काव्य की आलंकारिक प्रणाली से प्रभावित हुआ जान पड़ता है। असफल प्रेम की कथा में कवि ने हृदय की समस्त सरसता उँडेल दी है। नायक के झील में डूबने और होश में आने पर वह अपने को एक बालिका के घुटनों पर सर रखे हुए पाता है। वहीं परस्पर प्रेम का अंकुर जमता है। वह अंकुर समाज के भय से पल्लवित नहीं होने पाता। इतनी सी कथा को कवि ने संस्कृत की अलंकृत शैली में—नई अभिव्यंजना के साथ लिखा है। कवि-हृदय की आशा, निराशा और सौंदर्य के विभिन्न चित्रों से यह कृति भरी है। स्थान-स्थान पर प्रेम-संबंधी विविध मानवीय व्यापारों की सरस व्यंजना भी है, जो कवि की भाषा के माधुर्य से नया रूप लेकर आई है। उदाहरणार्थ प्रेम की यह व्यंजना 'पानी पीकर घर पूछना' वाले मुहावरे से मिलकर बिलकुल निखर गई है।

> यह अनोखी रीति है क्या प्रेम की
> जो अपांगों से अधिक है देखता;
> दूर होकर और बढ़ता है, तथा
> वारि पीकर पूछता है घर सदा।

---

[१] हुआ था जब सन्ध्यालोक
हँस रहे थे तुम पश्चिम ओर
विहग रव बनकर मैं चितचोर
गा रहा था गुण, किंतु कठोर
रहे तुम नहीं वहाँ भी शोक।

'पल्लव' में कवि की प्रतिभा का प्रौढ़ विकास है। 'वीणा' और 'ग्रंथि' में किशोरावस्था के गीत हैं और 'पल्लव' में यौवनावस्था के। अब कवि की अनुभूति और भावोन्माद में स्वाभाविक वेग आ गया है और कवि अब कल्पना को खुलकर खेलने देता है। अंग्रेज़ी के सीधे प्रभाव में आने पर कवि की व्यंजना बड़ी निराली हो गई है। शैली, कीट्स, वर्ड्सवर्थ और टेनीसन का कवि ने गंभीर अध्ययन किया है, इसलिए उनकी छाया भी यत्र-तत्र स्पष्ट है। वे शैली से अधिक प्रभावित हुए हैं। उनकी प्रसिद्ध कल्पना-पूर्ण कविता 'बादल' शैली की 'क्लाउड' कविता से प्रेरित है, लेकिन कवि ने शैली का अनुवाद करके नहीं रख दिया। उससे बादल का मनोहर रूप ही लिया है, जब कि शैली ने भयंकर रूप भी चित्रित किया है। उनकी कला पर टेनीसन का अधिक प्रभाव है जो अपनी ध्वन्यात्मकता और भावानुकूल शब्द-चयन के लिए प्रसिद्ध था। 'पल्लव' में अंग्रेज़ी के इन कवियों की लाक्षणिकता—सांकेतिकता स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। इस प्रकार 'पल्लव' में उनकी प्रकृति और सौंदर्य की भावना का चरम विकास है, जो कला के आवरण में और भी खिल उठा है।

लेकिन कवि को किशोर-प्रेम के ही गीत पसंद है। यौवन में आते-आते तो उसका हृदय विरह के तीव्र अनुभव से व्यथित हो गया है और उसने संयम के द्वारा अपने जीवन की दिशा ही मोड़ दी है। एक बार कवि ने स्वयं लिखा था—"मैं किशोर प्रेम का ही प्रायः चित्रण करता हूँ।" 'लाई हूँ फूलों का हास, लोगी मोल, लोगी मोल ?' में क्या 'लाया' या 'लोगे' नहीं लिखा जा सकता था ? 'वीणा' में ऐसी कई कविताएँ हैं। मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि

प्रेम का प्रारंभिक उद्रेक पवित्र होने के कारण किशोर-किशोरियों में सजातीय प्रेम ही—लड़की का लड़की के प्रति, लड़के या लड़के के प्रति—पहले उत्पन्न होता है।

प्रकृति और सौंदर्य का उपासक यह कवि आरंभ से ही चिंतन-शील रहा है। यह उसके कवित्व और वक्तव्य से ध्वनित होता है। जब वह अभी किशोर था, तभी उसने विवेकानंद और रामतीर्थ का दर्शन हृदयंगम किया। विवेकानंद का दर्शन आध्यात्मिकता के माध्यम से राष्ट्र की सेवा करना है और रामतीर्थ का दर्शन जगत् के माध्यम से आध्यात्मिकता को प्राप्त करना है। कवि के ऊपर इन दोनों दर्शनों का प्रभाव पड़ा। 'पल्लव' की रचना 'परिवर्तन' में कवि का यह चिंतन दर्शनीय है। इस कविता को श्री निराला जी ने पूर्ण कविता कहा है। उसमें सृष्टि के परिवर्तन-शील रूप की व्यंजना कवि ने बड़ी कुशलता से की है। यों तो उसका विचारक प्रारंभ से ही जागरूक है और 'वीणा' और 'ग्रंथि' काल की कविताओं में उसके ऐसे चिंतन कण बिखरे मिल जायँगे। लेकिन 'परिवर्तन' में उसके विचारक का श्रेष्ठतम रूप है। 'पल्लव' तक आते-आते तो उसका विचारक प्राधान्य पा लेता है और 'परिवर्तन' में वह संसार की अशांति से विकल हो कर पुकार उठता है—

एक सौ वर्ष नगर उपवन, एक सौ वर्ष विजन वन।
यही तो है असार संसार, सृजन, सिञ्चन, संहार॥

इस नश्वरता-अनश्वरता के ज्ञान के साथ कवि को जग की नित्यता अनित्यता का आभास होता है, उसे जग के रहस्य को सुलझाने का संकेत-सा मिलता है और यहाँ उसे सर्वत्र एक ही शक्ति के दर्शन होते हैं। प्रकृति के प्रति जो कवि कभी जिज्ञासु था—भावना-

शील था—वही अब उसके भीतर के रहस्य को पाने के लिए विकल हो उठता है। एक दिन उसके जीवन की जो डाल 'प्रेम बिहग का वास' बन गई थी वह संसार की क्षण-भंगुरता के पतझड़ का अनुभव करती है और कवि तत्त्व-चिंतन से इस निष्कर्ष पर पहुँचता हैं कि एक ही असीम आनंद सर्वत्र व्याप्त है और विश्व में उसके ही विविध रूप प्रकट होते हैं। जलधि की हरीतिमा, अंबर की नीलिमा, हृदय का प्रेमोच्छ्वास, काव्य का रस, फूलों की सुगंध, तारकों की झलमलाहट, लहरों का लास, सब में वही एक शक्ति है।[1] तभी वह सुख-दुख में समझौता कर लेता है और बिना दुख के सुख उसे निस्सार प्रतीत होता है और बिना आँसू से जीवन भार-स्वरूप। यहीं संसार की दीनता का अनुभव करके वह दया, क्षमा और प्यार की आवश्यकता का अनुभव करता है।[2] यह अनुभव तो उसे होता

१—एक ही तो असीम उल्लास,
विश्व में पाता विविधाभास,
तरल जलनिधि में हरित विलास,
शांत अम्बर में नील विकास।

वही उर-उर में प्रेमोच्छ्वास,
काव्य में रस, कुसुमों में बास,
अचल तारक, पलकों में हास,
लोल लहरों में लास।

२—बिना दुख के सब सुख निस्सार,
बिना आँसू के जीवन भार,
दीन दुर्बल है रे संसार।
इसी से दया क्षमा और प्यार।

ही है परंतु प्रकृति की वह व्याप्त शक्ति उसे अपनी ओर भी खींचती है। कवि को अनुभव होता है कि स्तब्ध ज्योत्स्ना में जब चकित शिशु के समान संसार की आँखों पर अजान स्वप्न विचरते हैं तब उसे नक्षत्रों से कोई मौन निमंत्रण देता जान पड़ता है।[१] यों 'पल्लव' में कवि की एक शक्ति के प्रति जिज्ञासा और संसार की नित्यता-अनित्यता का चित्रण भी प्रकृति-सौंदर्य के साथ-साथ मिलता है और कहना न होगा कि यह स्वर उसके लिए नया प्रकाश देता है—वह प्रकाश है आशा का। यहाँ से कवि परिवर्तन की अनिवार्यता स्वीकार करके आशावादी बन बैठता है। यही आशावाद 'गुंजन' के दार्शनिक चिंतन में भी है। 'गुंजन' में कवि की भावना और विचार दोनों में एक प्रकार से समझौता सा हो जाता है, लेकिन कवि में विचारक तत्त्वों की अधिकता होने लगती है। वह अपने गीतों को 'जग के उर्वर आँगन' में बरसने के लिए प्रेरणा देता है, मानों अपने से बाहर मानवमात्र की ओर वह बढ़ता है। वहीं उसे सुख-दुःख की सापेक्ष अनुभूति होती है। और कवि की सुख दुःख की यह सापेक्ष अनुभूति ही उसके जीवन में एक नवीन आशा का संचार कर देती है और वह सुख-दुख के महत्त्व पर कह उठता है—

१—स्तब्ध ज्योत्स्ना में जब संसार,
चकित रहता शिशु-सा नादान।
विश्व के पलकों पर सुकुमार.
विचरते हैं, जब स्वप्न अजान,
न जाने नक्षत्रों से कौन ?
निमंत्रण देता मुझको मौन

सुख, दुख के मधुर मिलन से
यह जीवन हो परिपूरन।
फिर घन में ओझल हो शशि,
फिर शशि से ओझल हो घन।
जग पीड़ित है अति दुख से
जग पीड़ित रे अति सुख से
मानव-जग में बँट जावें
सुख दुख से और दुख सुख से।

कवि को यह दृष्टि मिलते ही वह अपने मन को—विधुर मन को—विश्व-वेदना में प्रतिपल गलने के लिए प्रेरित करता है। "तप रे मधुर मधुर मन" के स्वर में वह नई दिशा की ओर उन्मुख होता है। और कभी जो इस जगत् की सीमा पर बैठा हुआ दूर से ही उस रहस्य को पा लेना चाहता था वही अब सुख-दुख से ऊपर उठकर 'जीवन के अंतस्थल में नित बूड़ बूड़ रे भाविक' की रट लगाता है और जीवन को निकट से देखने के लिए आतुर होता है। 'गुंजन' में पंत जी का आशावादी दर्शन खूब प्रस्फुटित हुआ है। उसमें कहीं-कहीं चिंतन की अपेक्षा भावुकता का भी प्राधान्य हो गया है और जहाँ ऐसा हुआ है, वहाँ उनकी रहस्य-भावना का सौंदर्य सहसा वृद्धि को प्राप्त हो गया है। प्रकृति भी 'गुंजन' में नए रूप में है और उसके चित्र बड़े परिपूर्ण हैं। 'नौका विहार' जैसी कविताएँ विश्व-साहित्य की श्रीवृद्धि कर सकती हैं। गंगा की धारा में नौका-बिहार का चित्र कवि ने ऐसा खींचा है कि प्रत्येक छंद का चित्र बन सकता है। यह कविता कवि की प्रकृति-संबंधिनी कविताओं की शिरमौर है।

लेकिन 'गुंजन का वह कवि जो 'वीणा', 'ग्रंथि' और 'पल्लव' की प्रकृति और सौंदर्य-भावना को चिपकाए हुए, 'चाँदनी' और 'नौका-विहार' के गीत गाता था और जगत् की 'नश्वरता-अनश्वरता' पर अपना मत देता था और कहता था कि 'चिर जन्म-मरण के आर पार शाश्वत जीवन नौका-विहार' हो रहा है, वही अब 'युगान्त' में अपने पिछले जीवन की—पिछले युग की—समाप्ति और नवयुग का अभि-नन्दन करता है। वह मानवात्मा के सुख दुख से बाहर जगत् की चिंता में रत हो जाता है। कल्पना—कलात्मक विलास—छोड़ कर सीधा प्रकृति को—वस्तु जगत् को—अपना विषय बनाता है। उसे वह स्वप्न व्यर्थ मालूम होता है, जिसमें वह स्वयं अब तक डूबा था। वह कल्पना का साम्राज्य उसे अब स्वीकार नहीं है, जिसमें उसकी आत्मा विहार करती रही है। वह युग ही उसे 'मृतविहंग' जान पड़ता है और वह जगत् की रूढ़ियों—प्राचीनताओं की जीर्ण पदावली को झर जाने के लिए कहता है—

द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र !
हे स्रस्त-ध्वस्त ! हे शुष्क शीर्ण !
हिम-ताप-पीत, मधुवात-भीत,
तुम वीत-राग, जड़ पुराचीन !
निष्प्राण विगत युग ! मृत विहंग !
जग-नीड़ शब्द औ' श्वास हीन,
च्युत, अस्त व्यस्त पंखों से तुम
झर-झर अनन्त में हो विलीन !

गत युग की घृणास्पद विकृतियों में कवि को कोई सार नहीं दिखाई देता और वह अब इस आशा से कि जगती का भाग्योदय

होगा, अपने गीत-खग से कहता है कि तुम जगती के जन-पथ-कानन में अनादि गान गाओ और चिर शून्य शिशिर-पीड़ित जग में अपने अमर स्वरों के प्राण-स्पन्दन भरो क्योंकि जो स्वप्नों के तम में सोये हैं वे निश्चय ही जागेंगे और जीवन में निशीथ (निराशा) देखने वाले प्रभात (आशा) देखेंगे।[1] कवि को 'युगान्त' में लोक की मंगलाशा की ही विशेष चिंता है; अपने सुख-दुख की नहीं जैसा कि 'गुंजन' तक रहा था। वह दार्शनिकता भी अब कवि को आकर्षित नहीं करती। अब तो वह 'नवल मानव-कानन के पल्लवित होने' की आशा से 'गा कोकिल बरसा पावक कण !' का स्वर संधान करता है क्योंकि उसका विश्वास है कि जिन गत युग की संस्कृतियों ने देश और जाति की दीवारें खड़ी करके मानवता को बंदी बना रखा है, वे मानवता का विकास पाकर सब डूब जायँगी और मानवात्मा का प्रकाश पाकर यह यंत्र युग हँसने लगेगा।[2] आज तो कला भी

१—जगती के जन-पथ-कानन में
तुम गाओ विहग ! अनादि गान,
चिर शून्य शिशिर-पीड़ित जग में
निज अमर स्वरों से भरो प्राण !
जो सोए स्वप्नों के तम में
वे जागेंगे—यह सत्य बात
जो देख चुके जीवन-निशीथ
वे देखेंगे जीवन-प्रभात !

२—मानव जग में गिरि-कारा-सी
गतयुग की संस्कृतियाँ दुर्धर
बन्दी की हैं, मानवता को

कवि को आकर्षित नहीं करती। 'ताजमहल' पर न जाने कितने कवियों ने लिखा होगा और प्रशंसा में पृष्ठ के पृष्ठ रँगे होंगे। विश्व-कवि रवीन्द्र ने 'काल के कपोल पर एक अश्रु बिंदु' कह कर ताज के अमरत्व का करुण सन्देश दिया है, लेकिन हमारा कवि—'युगान्त' का कवि—उसकी प्रशंसा अथवा उसके निर्माण को ही 'मृत्यु का अपार्थिव पूजन' कहता है—

हाय मृत्यु का ऐसा अमर, अपार्थिव पूजन !
जब विषण्ण, निर्जीव पड़ा हो जग का जीवन !

\+ + +

मानव ! ऐसी भी विरक्ति क्या जीवन के प्रति ?
आत्मा का अपमान, प्रेत औ' छाया से रति !

कवि का दृष्टिकोण 'युगान्त' में पूर्णरूप से बदल जाता है और वह युग बदलने के लिए चिंतन द्वारा अपने भीतर ही एक नई सृष्टि रचता प्रतीत होता है—"मैं सृष्टि रच रहा नवल, भावी मानव के हित भीतर।"[1] साथ ही मानव-केसरी को गर्जन करने के लिए और गत युग के शव को नष्ट करने के लिए भी कहता है।[2] इस

रच देश-जाति की भित्ति अमर।
ये डूबेंगी—सब डूबेंगी !
पा नव मानवता का विकास
हँस देगा स्वर्णिम वज्र लौह,
छू मानव-आत्मा का प्रकाश।

२—गर्जन कर मानव-केसरि
प्रखर नखर नव जीवन की लालसा गड़ा कर
छिन्न-भिन्न कर दे गतयुग के शव को दुर्भर।

प्रकार 'युगान्त' कवि के काव्य-जीवन का मध्य-विन्दु है, जिसके पहले उसने प्रकृति, सौंदर्य, प्रेम, उल्लास, आत्मा, जगत्, आदि की पहेली को भोले शिशु के रूप में सुलझाया है और जिसके पीछे उसने जगत् के यथार्थ संघर्ष की ओर अनुभूति को वाणी दी है । आचार्य पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है " 'पल्लव' में कवि अपने व्यक्तित्व के घेरे में बँधा हुआ, 'गुंजन' में कभी-कभी उसके बाहर और 'युगांत' में लोक के बीच दृष्टि फैला कर आसन जमाता हुआ दिखाई देता है । 'गुंजन' तक वह जगत् से अपने लिए सौंदर्य और आनन्द का चयन करता हुआ प्रतीत होता है, 'युगान्त' में आकर वह सौंदर्य और आनन्द का जगत् में पूर्ण प्रसार देखना चाहता है । कवि की सौंदर्य-भावना अब व्यापक होकर मंगल-भावना के रूप में परिणत हुई है ।"

इस प्रकार 'युगांत' में कवि मानव का यशोगान गाने बैठ जाता और नए जग के निर्माण के लिए तैयारी करता है । एक बात विशेष रूप से दर्शनीय है कि अब कवि प्रेम को बिलकुल ही छोड़ चुका है । यों तो 'गुञ्जन' में ही वह मानवता के प्रति आकृष्ट हो चुका था परन्तु फिर भी उसमें 'भावी पत्नी के प्रति' आदि कवितायें कवि के भीतर छिपी प्रेम की कल्पना का स्वरूप प्रदर्शित कर जाती हैं ।[1] यही नहीं 'गुंजन' की 'मधुवन' कविता में उसे

१—मृदूर्मिल-सरसी में सुकुमार
अधोमुख, अरुण-सरोज समान,
मुग्ध-कवि के उर के छू तार
प्रणय का-सा नव-गान
तुम्हारे शैशव में, सोभार,
पा रहा होगा यौवन प्राण;

प्रेयसी की मदिर छवि ही समस्त प्रकृति में बिखरी दिखाई देती थी।[1] परंतु 'युगांत' में जैसे कवि ने उस ओर देखा ही नहीं। यों भी कह सकते हैं कि कवि ने नारी-सौंदर्य से विवश हो अपने को अलग कर लिया। इसका कारण यह है कि महान् कवि के नाते उसने अपने मानसिक विलास को व्यक्त करना उचित नहीं समझा और जगत् के सुख-दुख में अपने व्यक्तित्व को लय करने का निश्चय कर लिया। हाँ जिस प्रकृति से उसने बोलना—वार्तालाप करना—सीखा था उसे वह 'युगांत' में भी नहीं छोड़ सका है। 'युगांत' ही क्या आगे की कृतियों में जहाँ वह शुद्ध विवेचक के रूप में आया है वहाँ भी वह प्रकृति से संपर्क-विहीन नहीं हो पाया है। हमारा तात्पर्य उसकी 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' से है। इनमें पंत जी ने प्रकृति के चित्रण दिए हैं और अत्यंत उत्कृष्ट दिए हैं; परंतु उनमें वह मीनाकारी नहीं, जो 'बादल' और 'चाँदनी' में है। वह तो अब प्रकृति को उसके यथातथ्य रूप में ही देखता है। 'युगांत' तक कवि के विकास का रूप है—प्रकृति-सौंदर्य से नारी-सौंदर्य, नारी सौंदर्य से जीवन-दर्शन और जीवन-दर्शन से मानव-जगत् के यथार्थ रूप के प्रति प्रेम। मानो किशोरावस्था से यौवनावस्था और यौवनावस्था

स्वप्न-सा विस्मय-सा अम्लान
प्रिये, प्राणों की प्राण!

१—आज उन्मद मधु-प्रात
गगन के इन्दीवर से नील
झर रही स्वर्ण-मरन्द समान
तुम्हारे शयन-शिथिल सरसिज उन्मील
छलकता ज्यों मदिरालस प्राण!

से प्रौढ़ावस्था की ओर स्वाभाविक गति रही हो।

प्रश्न यह है कि 'वीचिविलास', 'चाँदनी' और 'अप्सरा' का यह कवि आज यंत्र-युग से प्रभावित होकर मानव की जड़ता और संस्कार-हीनता का चित्रण कर उसके ही भाग्योदय की आशा से अपने काव्य की दिशा को कैसे मोड़ सका ? जो कभी जीवन का अर्थ केवल क्रीड़ा, कौतूहल, कोमलता, मोद, मधुरिमा, हास, विलास, लीला, विस्मय, अस्फुटता, स्नेह, पुलक, सुख और सरल हुलास ही समझता था[1] वही आज कुरूप, कुत्सित, प्राकृत, सुन्दर, सस्मित दोनों से परिचित की भाँति क्यों मिलना चाहता है।[2] इन प्रश्नों का उत्तर स्वयं कवि ने दिया है। उसके शब्दों में ही उसके द्वारा दिशा-परिवर्तन का कारण सुनिए। कवि ने कालाकाँकर से 'रूपाभ' नाम का एक मासिक निकाला था। उसके प्रथम अंक में उसने स्वयं लिखा—"कविता के स्वप्न-भवन को छोड़कर हम इस खुरदुरे पथ पर क्यों उतर आए ?......इस युग की वास्तविकता ने जैसा उग्र आकार धारण किया है, उससे प्राचीन विश्वासों में प्रतिष्ठित हमारे भाव और कल्पना के मूल हिल गए हैं। श्रद्धा-अवकाश में पलने वाली संस्कृति का वातावरण आन्दोलित हो उठा है और काव्य की स्वप्न-जड़ित आत्मा जीवन की कठोर आवश्यकता के उस नग्न-

---

१—क्रीड़ा, कौतूहल, कोमलता, मोद, मधुरिमा, हास-विलास।
लीला, विस्मय, अस्फुटता, भय, स्नेह, पुलक, सुख, सरल, हुलास।

२—हे कुरूप, हे कुत्सित, प्राकृत,
हे सुंदर हे संस्कृत सस्मित,
आओ जग-जीवन, परिणय में
परिचित-से मिल बाँह भरें।

रूप से सहम गई। उसकी जड़ों को अपनी पोषण सामग्री ग्रहण करने के लिए कठोर धरती का आश्रय लेना पड़ रहा है। और युग-जीवन ने उसके चिर-संचित सुख-स्वप्नों को जो चुनौती दी है, उसको उसे स्वीकार करना पड़ा है।"

कवि के कथन का अर्थ है कि वह युग की माँग पर स्वप्न-जगत् छोड़ कर धरती पर आ गया और उसने वास्तविकता का निमंत्रण स्वीकार किया। उसके पश्चात् उसने जीवन की विकृति और वीभत्सता को गहरी दृष्टि से देखा। किसान मज़दूर वर्ग के लिए उसके मन में बौद्धिक सहानुभूति जाग्रत हुई और उसने 'युगवाणी' दी, जिसमें उसने समाजवादी सिद्धान्तों का विश्लेषण किया और उसके बाद 'ग्राम्या' में उन सिद्धान्तों का प्रयोग किया। यही कारण है कि कला की दृष्टि से 'ग्राम्या' 'युगवाणी' की अपेक्षा अधिक सुन्दर है। परंतु अभी हम कला की बात को यहीं छोड़ कर केवल कवि के प्रतिपाद्य को देखना चाहते हैं। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या', 'युगान्त' के बाद कवि की मानव-पूजा की कृतियाँ हैं, जिनमें उसने भावी संस्कृति की रूप-रेखा देने के साथ-साथ वर्तमान का भी चित्रण किया है। अपने देश और वर्तमान संसार की दुर्दशा से व्याकुल होकर 'युगान्त' में कवि ने 'बापू' के प्रति कविता लिखी थी, जसमें उसने गाँधी जी की प्रशस्ति के साथ उनके गांधीवाद की भी प्रशंसा की थी। सत्य, अहिंसा, चरखा आदि जो गाँधीवाद के प्रतीक हैं उनपर अपना मत दिया था और उनको 'शुद्ध बुद्ध आत्मा केवल' कहकर सम्बोधित करते हुए अन्त में लिखा था—

> आए तुम मुक्त पुरुष कहने—
> मिथ्या जड़ बन्धन, सत्य राम,

नानृतं जयति सत्यं मा भैः;
जय ज्ञान-ज्योति तुमको प्रणाम।

लेकिन 'ग्राम्या' में 'महात्मा जी के प्रति' कविता में उन्होंने इस 'मुक्त पुरुष' की पराजय दिखाई है और कहा है—

हे भारत के हृदय तुम्हारे साथ आज निःसंशय।
चूर्ण होगया विगत सांस्कृतिक हृदय जगत का जर्जर।

यह मानो गाँधीवाद से समाजवाद की ओर कवि की रुचि का परिचायक है। कवि के हृदय का यह परिवर्तन उसको श्रद्धा से, जो काव्य का प्राण है, शंका की ओर, जो विज्ञान का जीवन है ले गया और काव्य या आध्यात्मिकता तथा विज्ञान या वास्तविकता के समन्वय की उसने चेष्टा की। उसने दोनों को स्वीकार किया और आशा की कि यंत्र-युग के साथ जब साम्यवाद द्वारा स्वर्ण-युग का अवतरण विश्व में होगा तब गाँधीवाद और साम्यवाद दोनों एक हो जाएँगे—

मनुष्यत्व का तत्त्व सिखाता निश्चय हमको गाँधीवाद।
सामूहिक जीवन विकास की साम्य योजना है अविवाद।

इस प्रकार उसने सामन्तवाद से पूँजीवाद और पूँजीवाद से साम्यवाद तक की भावना को अपने काव्य में स्थान दिया। 'पल्लव' तक की सौंदर्य-वासना में सामन्तवाद, 'गुंजन' की दार्शनिकता में पूँजीवाद और 'युगान्त', 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की वास्तविकता में साम्यवाद की यात्रा पंत ने की है। इस यात्रा में वे अपने कवित्व को श्रीहीन होने से नहीं बचा पाये हैं। और यह शुष्क विश्लेषण होकर ही रह गया है; यद्यपि 'ग्राम्या' में वे कवित्व भी लाए हैं। परंतु 'पल्लव' के उपवन में विहार करने वाले पाठक को 'युगान्त' के बाद

की कृतियाँ रेतीला मैदान जान पड़ती हैं, जिनमें कहीं-कहीं नखलिस्तान के दर्शन हो जाते हैं। कवि के पास इसका उत्तर नहीं है क्योंकि वह स्पष्ट कह चुका है कि जब वे काल्पनिक व्यंजनाएँ ही नहीं रहीं तब वह सरसता कहाँ से आवेगी? वास्तविकता में हमें अपने मस्तिष्क से भी काम लेना है। अब से पहले उसने हृदय को गुदगुदाया था, अब उसने मस्तिष्क को कुरेदा है। पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी के शब्दों में "आज पंत के कवि की लेखनी और तूलिका का स्थान छैनी और कुदाली ने ले लिया है, रूप-रंग का स्थान रक्त-मांस ने। अब वह कला की उतनी चिंता नहीं करता जितनी सृष्टि-निर्माणकारी विचारों की। इसीलिए उसने स्पष्ट कहा है कि 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में निम्नवर्ग को उसने बौद्धिक सहानुभूति दी है। पंत जी इससे अधिक कर भी नहीं सकते। उनका संकोचशील स्वभाव, अभिजात्य वर्ग की रुचि और एकाकी जीवन, उन्हें मज़दूरों-किसानों के बीच काम करने की आज्ञा नहीं देते, वे तटस्थ दर्शक की भाँति उनकी स्थिति का अवलोकन करके ही उनके सुख-दुख का चित्रण कर सकते हैं। इसका परिणाम यह है कि उनके चित्रण में अनुभूति का सरस रूप नहीं दिखाई देता। लेकिन उनकी दृष्टि इतनी पैनी है कि वे बड़ी गहराई तक जाते हैं और उनका अध्ययन ठीक होता है, इसीलिए वे मानव की उपासना के अधिकारी होकर जनकवि भी बन सकते हैं।

पंत की चिंतनशील प्रवृत्ति ने उनको आशावादी बनाया है अतः वे विकृति का यथातथ्य चित्रण करते हुए भी किसानों-मज़दूरों के लिए हाय! हाय! नहीं करते वरन् उनको भविष्य की ओर ही देखने की प्रेरणा करते हैं और जहाँ ऐसा नहीं करते वहाँ

उनको ज्यों का त्यों रख देते हैं। इसीलिए भारतीय ग्राम का चित्रण करते हुए उसकी तुलना नरक से की है।[1] किसान को भी वज्रमूढ़, जड़भूत, हठी और ऐसे कितने ही विशेषण दे डाले है।[2] इसका कारण यह है कि कवि उनकी दुर्दशा को सहन नहीं कर सकता और उसका हृदय व्यथित हो जाता है—"इन कीड़ों का भी मनुज बीज यह सोच हृदय उठता पसीज !" लेकिन एक बात है कि कवि इसको राजनीति का प्रश्न नहीं बनाता, वह इसको सांस्कृतिक प्रश्न बनाता है। कलाकार के नाते वह राजनीति या पार्टीनीति से प्रभावित नहीं है। 'संस्कृति का प्रश्न' शीर्षक 'ग्राम्या' की कविता में वे कहते हैं :—

राजनीति का प्रश्न नहीं रे आज जगत के सम्मुख
अर्थ साम्य भी मिटा न सकता मानव-जीवन के दुख।

\+ + + +

आज वृहत् सांस्कृतिक समस्या जग के निकट उपस्थित
खण्ड मनुजता को युग युग की होना है नव-निर्मित।

वस्तुतः बात यह है कि कवि के संस्कारी हृदय ने विश्व की आधुनिक विकार-ग्रस्त दशा का उपचार सांस्कृतिक समन्वय में ही

१—यह तो मानव लोक नहीं रे यह है नरक अपरिचित,
यह भारत का ग्राम सभ्यता, संस्कृति से निर्वासित,

\+ + + +

प्रकृति धाम यह तृण-तृण कण-कण जहाँ प्रफुल्लित जीवित
यहाँ अकेला मानव ही रे चिर विषण्ण जीवनन्मृत !

२—वज्रमूढ़, जड़भूत, हठी, वृष बान्धव कर्षक
ध्रुव ममत्व की मूर्ति रूढ़ियों के चिर रक्षक।

खोजा है। इसीलिए उसे आज असुन्दर सुन्दर लगते हैं, शोषित जन प्रिय लगते हैं और जीवन के दैत्यों से जर्जर मानव-मुख उसका मन हरता है।[3] 'युगवाणी' में उसने, 'बौद्धिक सहानुभूति' देकर सिद्धान्तों, वर्ग-समस्याओं, राज्यान्दोलनों की मीमांसा की थी परंतु 'ग्राम्या' में उसने मीमांसा का पथ छोड़कर, सीधे ग्राम्यचित्रण की ओर ध्यान दिया है। 'धोवियों का नाच', 'चमारों का नाच', 'कहारों का रुद्र नर्तन' आदि में उसने सामूहिक-जीवन से प्रेरित होकर निम्नवर्ग की भावनाओं को वाणी दी है। 'राष्ट्र गान', 'वह बुड्ढा', 'ग्राम देवता', 'भारत माता', 'ग्रामश्री' आदि कविताओं में गाँवों की वर्तमान दशा के साथ प्रकृति के सुन्दर चित्र हैं।

भावी समाज-व्यवस्था में नारी का बड़ा हाथ होगा। कवि ने उसकी मुक्ति के लिए भी गंभीर स्वर से शंखनाद किया है। इसमें नारी का वर्तमान स्वरूप बोल-सा उठा है—

> सदाचार की सीमा उसके तन से है निर्धारित,
> पूतयोनि वह; मूल्य चर्म पर केवल उसका अंकित।
> वह समाज की नहीं इकाई—शून्य समान अनिश्चित।
> उसका जीवन मान, मान पर नर के है अवलम्बित।
> योनि नहीं है रे नारी, वह भी मानवी प्रतिष्ठित
> उसे पूर्ण स्वाधीन करो, वह रहे न नर पर अवसित।

पंत जी की इन कविताओं में हम प्रगतिशील मनुष्य समाज का चित्र देखते हैं। इनके भीतर जो मानव है, वह आज से आगे आने वाले उस स्वर्ण युग का है, जिसमें यंत्रों (विज्ञान की देन) के

३—आज असुन्दर लगते सुन्दर, प्रिय पीड़ित शोषित जन,
जीवन के दैत्यों से जर्जर, मानव मुख हरता मन।

विकास से 'सतयुग' लाने की चेष्टा की जायगी। उस समय मनुष्य अभावों से ग्रसित नहीं होगा, उसकी रक्त-मांस की इच्छायें पूरी होंगी और सर्वत्र प्रेम का राज्य होगा, तब स्वर्ग की आवश्यकता न रहेगी।[१] तब, दैन्य-दुःख और क्षुधा-तृषा के क्रंदन मिट जायँगे और भावी के सुख स्वप्नों का युग साक्षात् रूप में अवतरित होगा। उस समय न ये ग्राम रहेंगे न ये नगर रहेंगे। समस्त बंधनों से दिशा और क्षण मुक्त हो जायँगे और मनुज जीवन से क्षुद्रताओं का नाश हो जायगा।[२] ऐसे संसार की कल्पना 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' का कवि करता है। तभी वह अपनी दृष्टि को नवीनता से समन्वित करता है। अपने कवि को ही संबोधन करके कहता है कि कल्पना के लिए आकाश क्या ताक रहे हो? मृत्यु नीलिमा की गहराई वाले आकाश में रखा क्या है? उसे अनिमेष, स्थिर दृष्टि से निरंतर देखने से क्या लाभ है? वह तो निःस्पंद है, शून्य है, निर्जन है और है निःस्वन। यदि देखना चाहते हो तो पृथ्वी को देखो—उस पृथ्वी को जो जीव-प्रसू है, हरित-भरित है, पल्लवित-मर्मरित है,

---

१—जीवन की क्षण धूलि रह सके जहाँ सुरक्षित
रक्त मांस की इच्छायें जन की हों पूरित
मनुज प्रेम से जहाँ रह सकें—मानव ईश्वर!
और कौन-सा स्वर्ग चाहिए तुझे धरा पर?

२—आज मिट गए दैन्य दुःख सब क्षुधा तृषा के क्रंदन
भावी स्वप्नों के तट पर युग जीवन करता नर्तन
ग्राम नहीं वे, नगर नहीं वे—मुक्त दिशा औ' क्षण से
जीवन की क्षुद्रता निखिल मिट गई मनुज जीवन से।

कुंजित-गुंजित और कुसुमित है।[1] इसी प्रेरणा को लेकर कवि ने 'युगांत' के बाद की कविताओं में नीचे के धरातल पर उतर, जनता की भावनाओं और सुख-दुख की वाणी दी है। इन दिनों वे नृत्यकार उदयशंकर के साथ रहे जो भारत की ग्रामीण नृत्य-कला का पुनरुद्धार कर रहे हैं, इसलिए भी वे ग्राम्य-चित्रण में सफल हुए हैं। कला आज जन-हित का बाना पहन कर नए रूप में सज्जित हो रही है और युग-द्रष्टा कलाकार उसमें अपना भाग दे रहे हैं। पंत जी के कवि ने भी अपने कर्तव्य को समझा है और उसके अनुकूल ही अपनी वाणी की दिशा परिवर्तित की है।

हमारा विश्वास है कि प्रकृति के अंचल में पले, सौंदर्य के स्वप्नों में विहार करने वाले मानव-जीवन के इस दार्शनिक विवेचक कवि का मानव जगत् के वर्तमान संघर्ष में जूझने का यह निर्णय भारतीय जनता के लिए कल्याण-कर होगा। अब तक हमने केवल यही देखा है कि पंत जी ने अपने काव्य में प्रकृति, सौंदर्य, दर्शन और

१—ताक रहे हो गगन ?
मृत्यु-नीलिमा-गहन गगन ?
अनिमेष, अचितवन, काल-नयन ?
निस्पन्द, शून्य, निर्जन, निःस्वन ?
देखो भू को
जीव-प्रसू को
पल्लवित-मर्मरित
कुंजित-गुंजित
कुसुमित
भू को !

मानव के प्रति क्या दृष्टिकोण रखा और कैसे उनके कवि का विकास हुआ ? अब हम उनकी कला पर भी थोड़ा विचार कर लें। कारण, पंत जी ने केवल इतिवृत्तात्मक कविता के साथ ही विद्रोह नहीं किया वरन् छंद, भाषा और अलंकारों में भी क्रांति की है। पंत जी की कला के विषय में सबसे पहली बात तो यह है कि उनकी चित्रण-शक्ति बड़ी प्रबल है। प्रत्येक दृश्य या गति का चित्र वे बड़ी कुशलता से खींचते हैं। ये चित्र स्थिर दृश्यों के भी होते हैं और गत्यात्मक दृश्यों के भी। अपनी 'दो मित्र' नामक कविता में उन्होंने दो चिल-बिल के पेड़ों का चित्र दिया है। वे पेड़ एक निर्जन टीले पर एक दूसरे से मिले खड़े हैं।

उस निर्जन टीले पर
दोनों चिलबिल
एक दूसरे से मिल,
मित्रों-से हैं खड़े,
मौन, मनोहर।
दोनों पादप,
सह वर्षातप,
साथ ही बड़े,
दीर्घ सुदृढ़तर।

यह एक स्थिर दृश्य का चित्र है, जिसे पढ़ते ही दूर सूने टीले पर खड़े दो पेड़ हिले-मिले दिखाई देने लगते हैं। साधारण व्यक्ति भी इनका मानसिक चित्र बना सकता है।

अस्थिर या गत्यात्मक चित्र भी एक से एक सुन्दर हैं। 'नौका-विहार, कविता में तो प्रत्येक शब्द का चित्र है। गंगा में नाव से

उठती हिलोर, उस में प्रतिबिंबित तारक-दल और उसके ऊपर नाव का हंसिनी के समान चलना सब अलग-अलग रेखाओं से स्पष्ट हैं:—

नौका से उठती जल हिलोर
विस्फारित नयनों से निश्चल कुछ खोज रहे चल तारकदल
ज्योतित कर जल का अंतस्तल।

\+ + + +

मृदु मंद-मंद मंथर-मंथर लघु तरणि हंसिनी-सी सुन्दर
तिर रही खोल पालों के पर।

ऐसी चित्रण शक्ति आधुनिक कवियों में से बहुत कम को प्राप्त है। इसके द्वारा कवि सूक्ष्म से सूक्ष्म और गतिवान से गतिवान भाव या दृश्य को चित्रित कर सकता है। दूसरी विशेषता है—ध्वनि चित्रण की। कवि ऐसे शब्दों का प्रयोग करता है कि अर्थ शब्द की ध्वनि से ही स्पष्ट हो जाता है और सुनने वाले को अर्थ के लिए कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। 'युगान्त' में संध्या का चित्रण केवल कुछ ही शब्दों में कर दिया है, जो ध्वन्यात्मकता से युक्त होने के कारण अर्थ के साथ संध्या का चित्र भी देते हैं।[1] इसी प्रकार 'झंझा में नीम' झूम-झूम कर, झुक-झुककर सर-मर-चर-मर करता प्रतीत होता है।[2] ध्वन्यात्मकता के साथ ही उनको रंगों का ज्ञान बहुत

१—बाँसों का झुरमुट—
संध्या का झुटपुट
हैं चहक रही चिड़ियाँ
टी-वी-टी-टुट्-टुट्।

२—झूम-झूम-झुक-झुक कर
भीम नीम तरु निर्भर

अच्छा है। यह रंग का ज्ञान उनकी चित्रण-शक्ति को बढ़ाता है। अलग-अलग रंगों का प्रयोग[1] ही नहीं मिश्रित रंगों के प्रयोग में भी कवि को निपुणता प्राप्त है।[2] कुशल चित्रकार की भाँति कवि रंग, छाया और प्रकाश का चित्रण तो करता ही है, कभी-कभी रूप-रंग के अतिरिक्त वह स्पर्श और गन्ध को भी सजीव कर देता है।[3]

शब्दों का चयन और अवसरानुकूल प्रयोग करने में पंत

सिहर-सिहर थर थर
करता सर मर
चर मर।

१—विद्रुम और मरकत की छाया
सोने चाँदी का सूर्यातप
हिम परिमल की रेशमी वायु
शत रत्न छाय, खग-चित्रित नभ।

२—देखता हूँ जब पतला
इन्द्र धानुषी हलका।
रेशमी घूँघट बादल का
खोलती है कुमुद कला!

३—फैली खेती में दूर तलक
मखमल-सी हरियाली

× ×

महके कटहल मुकुलित जामुन
जंगल में झरबेली झूली

जी को कोई कठिनाई नहीं होती। इसमें उनका चिंतन उनकी विशेष सहायता करता है। उनकी कविता में आपको कहीं कोई व्यर्थ का शब्द नहीं मिलेगा। यदि एक ही पंक्ति में 'बीचि' और 'लहर' होगा तो एक का अर्थ दूसरे से भिन्न होगा। शब्दों की आत्मा का ऐसा सूक्ष्म ज्ञान कम कवियों को होता है। उनके शब्द पूरे-पूरे भाव को व्यक्त कर देते हैं। 'पल्लव' की भूमिका में उन्होंने लिखा है—भिन्न-भिन्न पर्यायवाची शब्द, प्रायः, संगीत भेद के कारण, एक ही पदार्थ के भिन्न-भिन्न स्वरूपों को प्रकट करते हैं। जैसे, 'भ्रू' से क्रोध की वक्रता, 'भृकुटि' से कटाक्ष की चंचलता, 'भौंहों' से स्वाभाविक प्रसन्नता-ऋजुता का हृदय में अनुभव होता है। ऐसे ही 'हिलोर' में उठना, 'लहर' में सलिल के वक्षःस्थल की कोमल कम्पन, 'तरंग' में लहरों के समूह का एक दूसरे को धकेलना, उठ-उठ कर गिर पड़ना, 'बढ़ो-बढ़ो' कहने का शब्द मिलता है; 'बीचि' से जैसे किरणों में चमकती, हवा के पलने में हौले-हौले झूलती हुई हँसमुख लहरियों का, 'ऊर्मि' से मधुर मुखरित हिलोरों का, 'हिल्लोल-कल्लोल' से ऊँची बाँहें उठाती हुई उत्पात-पूर्ण तरंगों का आभास मिलता है।" वस्तुतः पंत जी की कविता में कला प्रधान हो गई है। उनकी कला के लिए उन्हीं की प्रसिद्ध उपमा-युक्त कविता 'छाया' की ये पंक्तियाँ लागू होती हैं—

तरुवर की छायानुवाद-सी,
उपमा-सी भावुकता-सी,
अविदित भावाकुलभाषा-सी,
कटी-छटी नव कविता-सी।

'कटी-छटी नव कविता-सी' में उनकी कला की व्यंजना है, जो उनके छन्दों में व्यक्त होती है। वे मात्रिक छंदों का ही अधिक प्रयोग

करते हैं। इसका कारण उनकी दृष्टि में यह है कि हिंदी के शब्द-विन्यास की प्रकृति स्वरों से अधिक निर्मित है। फिर संगीत में भी स्वर ही प्रधान है। इसलिए शब्द-जगत् में स्वर ही उनके भीतर वह प्रवाह और गति देते हैं जो संगीत बनकर कविता को स्वर्गीय बना देते हैं। उनकी दृष्टि तुक आदि पर या समान मात्राओं पर न रह कर केवल भावों की गति पर रहती है, जिससे उनकी चित्रमयता, ध्वन्यात्मकता और सांकेतिकता बनी रहे।

अपनी काव्य-कला के शृंगार के लिए कवि को अंग्रेज़ी के शब्दों और अलंकारों तथा बँगला के प्रयोगों की भी सहायता लेनी पड़ी है, लेकिन धीरे-धीरे उसने यह छोड़ दिया और जैसे ही वह समाज के—जगत् के—संपर्क में आया है उसने वह सब बंधन छोड़ दिए हैं और छंद, अनुप्रास के बंधनों से मुक्त उसकी युग वाणी अनायास बहने लगी है।[1] 'युगवाणी' के बाद उसने कला की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया, ऐसा नहीं है। छंदों के विविध प्रयोग और सादे चित्रों का बाहुल्य 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में मिलता है, पर सजावट की ओर कवि का ध्यान नहीं गया है। भाषा की रंगीनी भी नहीं है, न कल्पना का ही विलास है। विषय के परिवर्तन के साथ भाषा भी स्थूल हो गई है पर उसकी भावाभिव्यक्ति में कहीं कमी नहीं है।

१—खुल गए छन्द के बन्ध,
　　प्रास के रजत पाश।
　　अब गीत मुक्त,
　　औ' युग वाणी बहती अयास।

हिंदी में पंत जी की कविता का सीधा विकास हुआ है। छायावाद और प्रगतिवाद दोनों में ही उन्होंने नेतृत्व किया है—छायावाद में 'पल्लव' द्वारा और प्रगतिवाद में 'युगांत', 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' द्वारा। जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण आशावाद का रहा है। वे कला का शृंगार भी मौलिकता से कर पाये हैं। साधना में उनका अटूट विश्वास है और उसको ही वे जीवन का ध्येय समझते हैं[1]। इसीलिए निरंतर गतिशीलता में उनका विश्वास है। उच्च मध्यवर्ग परिवार में जन्म लेकर और सामंती संस्कृति के भग्नावशेष रूप गत युग के संस्कारों में पालित-पोषित होने पर भी नवयुग की पुकार पर उन्होंने अपने स्वभाव को बदल दिया है; अपने व्यक्ति को भुला कर कला का मुखोज्ज्वल किया है। वे जो कुछ भी लिखते हैं—सोच कर, समझ कर, मनन और चिंतन कर के। उनकी गंभीरता और संयत व्यक्तित्व उनकी कविता से प्रकट होते हैं। वे मौलिक कलाकार हैं। वे भावी समाज व्यवस्था के लिए अपने स्वप्न-जगत् से वह्नि, बाढ़, उल्का, झंझा की उस भीषण भू पर उतर आए हैं, जहाँ कोमल मनुज कलेवर का जीवित रहना कठिन है[2]। लेकिन वे जिस भावना को लेकर साधना कर रहे हैं वह बड़ी पवित्र और जन-हित की है।

———

१—अलभ है इष्ट अतः अनमोल
साधना ही जीवन का मोल

२—वह्नि, बाढ़, उल्का, झंझा की भीषण भू पर।
कैसे रह सकता है, कोमल मनुज कलेवर।

महादेवी वर्मा

आधुनिक कवियों में श्रीमती महादेवी वर्मा का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वह इस लिए नहीं कि वे स्त्री हैं, वरन् इसलिए कि उन्होंने आधुनिक काव्य की कला और साज-शृंगार में सर्वाधिक योग दिया है। छायावाद के प्रवर्तक स्वर्गीय बाबू जयशंकर 'प्रसाद' और उसके उन्नायक सर्वश्री पं० सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' तथा सुमित्रानन्दन पंत के बाद उन्हीं की गणना होती है। महादेवी जी ने इन कवियों की अपेक्षा छायावादी काव्य को सबसे अधिक देन यह दी है कि काव्य उनके कंठ से विशुद्ध अनुभूतिमय हो कर फूटा है और उनकी कल्पना अनुभूति से ऐसी घुल-मिल गई है कि यह धोखा होना कि यह अनुभूति है या कल्पना, असंभव नहीं है। हृदय की सूक्ष्मतम भावनाओं को जितनी सफलता के साथ देवी जी ने व्यक्त किया है, उतनी सफलता के साथ अन्य कोई कवि शायद ही कर सका हो। उनके काव्य में कला का विकास न होकर हृदय की सचाई की झलक है। प्रसाद, निराला और पंत तीनों ही बाह्य-विषय-परक कविता लिखने की ओर विशेष उन्मुख रहे हैं— प्रसाद कामायनी लिख कर, निराला जी तुलसीदास लिख कर और पंत जी इधर की प्रगतिशील कविताओं का सृजन करके। परंतु महादेवी जी ने आरंभ से लेकर अंत तक आत्मपरक कवितायें ही अधिक लिखी हैं। उनकी वाणी गीति-काव्य के माध्यम से मुखरित हुई है, जिसमें वेदना और सुकुमार कल्पना का अनिवार्य सहयोग रहता है। गीति-काव्य के लिए

आवश्यक है कि एक ही कोमल मर्मस्पर्शी उद्गार नवनीत-सदृश कोमल, कसक-भरे शब्दों में स्वाभाविक रूप से फूट पड़े और उसकी वेदना पाठक और श्रोता के हृदय में घर करती चली जाय। महादेवी जी में यह गुण है कि उनके गीत सीधे हृदय पर प्रभाव डालते हैं। वे वनफूल की भाँति अकृत्रिम हैं और उनमें कहीं बनावट नहीं है। छायवादी काव्य में प्रसाद ने यदि प्रकृति-तत्त्व को मिलाया, निराला जी ने मुक्त छंद दिया, पंत जी ने शब्दों को खराद पर चढ़ा कर सुडौल और न स बनाया तो महादेवी जी ने उसमें प्राण डाले, उसकी भावात्मकता को समृद्ध किया। इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रसाद, निराला और पंत ने भाव-पक्ष की उपेक्षा की। नहीं; ऐसा कहना इन कवियों के प्रति घोर अन्याय होगा। उनकी कविता में भाव-पक्ष का उज्ज्वलतम रूप निखर कर सम्मुख आया है। हमारे कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि महादेवी जी ने कला पक्ष की अपेक्षा हृदय पक्ष पर अधिक आग्रह रखा है उस बीच में कोई स्वाभाविक भावना यदि स्वतः ही नवीन छंद में निस्सृत हो गई है तो वह महादेवी जी का जान बूझ कर छंद-परिवर्तन करना या नवीन प्रयोग करना नहीं कहा जा सका; जैसा कि प्रसाद, पंत तथा निराला में हुआ है। प्रसाद जी ने तो प्रवर्तक के नाते ही काव्य में अनेक परिवर्त्तन किये हैं। उदाहरणार्थ, जैसा कि प्रसाद जी के काव्य का अध्ययन करते समय देख चुके हैं, उनका 'प्रेम पथिक' लिया जा सकता है, जिसे उन्होंने व्रजभाषा से खड़ी बोली में और बदले हुए छंदों में लिखा। पंत जी ने तो स्पष्ट ही 'पल्लव' की भूमिका में भी शब्दों की कोमलता-कठोरता, स्त्रीलिंग-पुल्लिंग में प्रयोग और व्रज तथा खड़ी बोली के अंतर के साथ

नवीन छंदों की ओर भी अंगुलि-निर्देश किया है। निराला जी तो हिंदी में छंद के सम्राट् के नाते विख्यात हैं। उनकी कविता 'बंधनमय छंदों की छोटी राह' छोड़ कर बही है। परंतु महादेवी जी में ऐसा कहीं नहीं हुआ। उन्होंने तो केवल आत्म-प्रकाशन पर लक्ष्य रखा है और इस बीच में यदि नवीन शब्दों—प्रतीकों—और छंदों के नमूने आगए हैं तो वह स्वाभाविकता-वश। उसमें उनका ऐसा भाव नहीं है कि वे कोई पांडित्य प्रदर्शन या नेतृत्व की चेष्टा कर रही हैं। इतना होने पर भी उनके विषय में यह कहना अत्युक्ति न होगी कि उनके छन्दों—विशेष कर गीतों—का बेहद अनुकरण हुआ है और कई बार हमें यह कहने को बाध्य होना पड़ता है कि नवीन प्रयोग के प्रति उदासीन रहने वाली इस कवयित्री का जो इतना अधिक अनुकरण हुआ है, उसका कारण यह है कि उनकी कविता में दर्द या टीस अधिक है, जो उनके युग की मूल भावना रही है और जिसको लेकर छायावाद जन्मा, पनपा और समृद्ध हुआ है। महादेवी जी की कविता में वेदना और करुणा का ऐसा साम्राज्य है कि जिसकी शोभा-श्री पर सौ-सौ स्वर्गों का सुख भी निछावर है। वेदना के पाप से गलकर उनके हृदय की द्रवीभूत अनुभूति पारे की भाँति तरल होकर बह निकली है।

लेकिन महादेवी जी की कविता की इस विशेषता का मूल कारण है—उनका जीवन। उनका जन्म अत्यन्त सम्पन्न परिवार में हुआ है। पिता बाबू गोविंद प्रसाद वर्मा एम० ए०, एल-एल० बी०, ऐडवोकेट और माता श्रीमती हेमरानी देवी विदुषी तथा कला-प्रिय नारी हैं। शिक्षा के प्रति उनके विचार बड़े उदार हैं। इसी लिए महादेवी जी की स्कूली शिक्षा के साथ घर पर उन्हें

चित्र कला और संगीत की शिक्षा देने का भी प्रबन्ध किया गया था। इस प्रकार उच्च विचारों के पिता तथा कविता और भावुकता की मूर्ति माता द्वारा संगीतकला, चित्र कला, और काव्य कला के विकास की सुविधायें पाकर हमारी कवयित्री ने अपने बाल्य-जीवन के सुखद दिवस समाप्त किए। तभी ११ वर्ष की छोटी उम्र में शादी होगई। उसके बाद उनको महात्मा गौतम बुद्ध के जीवन और उनके दार्शनिक सिद्धान्तों का अध्ययन करने का अवसर मिला। बुद्ध के प्रभाव से उनका जीवन ही बदल गया। उन्होंने निश्चय किया कि वे विवाहित जीवन नहीं बितायेंगी और बौद्ध भिक्षुणी होकर रहेंगी। घर वाले इस बात पर राज़ी न थे। उन्होंने अधिक विरोध न करके अपना अध्ययन चालू रखा। अन्त में प्रयाग यूनीवर्सिटी से संस्कृत में एम० ए० पास करने के बाद आपने अपने भिक्षुणी होने के स्वप्न को सेवा द्वारा पूरा करना चाहा। वे तब से पति से पृथक् रहकर प्रयाग महिला विद्यापीठ की प्रधान आचार्या के रूप में कार्य कर रही हैं। समय मिलने पर विशेष रूप से छुट्टियों में—वे गाँवों में जाकर वहाँ दवा-दारू भी करती हैं अत्यन्त सादा जीवन बिताते हुए वे साहित्य साधना में निरत हैं। पर उनका कथन है कि साहित्य-सेवा उनके सम्पूर्ण जीवन की साधना नहीं है। वे साहित्य-साधना तब करती हैं, जब उन्हें विद्यापीठ के कार्यों से अवकाश मिल जाता है। तभी उन्होंने कहा है—"मेरी संपूर्ण कविता का रचना-काल कुछ घंटों में ही सीमित किया जा सकता है। प्रायः ऐसी कवितायें कम हैं, जिनके लिखते समय मैंने रात में चौकीदार की सजग वाणी या किसी अकेले जाते हुए पथिक के गीत की कोई कड़ी नहीं सुनी।" इस प्रकार उनका जीवन मूलतः सेवा

का है—रचनात्मक कार्यकर्ता का है।

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कविता के संस्कार उन्हें अपनी माँ के द्वारा प्राप्त हुए हैं। उन्होंने अपने सम्बन्ध में लिखा है—"माँ से पूजा-आरती के समय सुने हुए मीरा, तुलसी आदि के तथा स्व-रचित पदों के संगीत पर मुग्ध होकर मैंने व्रज-भाषा में पद-रचना आरंभ की थी। मेरे प्रथम हिंदी-गुरु भी व्रजभाषा के ही समर्थक निकले, अतः उलटी-सीधी पद-रचना छोड़कर मैंने समस्या-पूर्तियों में मन लगाया। बचपन में जब पहले-पहल खड़ी बोली की कविता से मेरा परिचय पत्रिकाओं द्वारा हुआ तब उसमें, बोलने की भाषा में ही, लिखने की सुविधा देखकर मेरा अबोध मन उसी ओर उत्तरोत्तर आकृष्ट होने लगा। गुरु उसे कविता ही न मानते थे अतः छिपा छिपा कर मैंने रोला और हरिगीतिका में भी लिखने का प्रयत्न किया। माँ से सुनी एक करुण कथा का प्रायः सौ छंदों में वर्णन कर मैंने मानों खण्ड-काव्य लिखने की इच्छा भी पूरी कर ली। बचपन की वह विचित्र कृति कदाचित् खो गई है। उसके उपरान्त बाह्य-जीवन के दुःखों की ओर मेरा विशेष ध्यान जाने लगा था। पड़ोस की एक विधवा वधू के जीवन से प्रभावित होकर मैंने 'अबला' 'विधवा' आदि शीर्षकों से उस जीवन के जो शब्द-चित्र दिए थे वे उस सयय की पत्र-पत्रिकाओं में भी स्थान पा सके। पर जब मैं अपनी विचित्र कृतियों तथा तूलिका और रंगों को छोड़कर विधिवत् अध्ययन के लिए बाहर आई तब सामाजिक जागृति के साथ राष्ट्रीय जागृति की किरणें फैलने लगी थीं, अतः उनसे प्रभावित होकर मैंने भी 'शृंगारमयी अनुरागमयी भारत जननी भारत माता', 'तेरे उतारूँ आरती माँ भारती' आदि जिन रचनाओं की सृष्टि की

वे विद्यालय के वातावरण में ही खो जाने के लिए लिखी गई थीं। उनकी समाप्ति के साथ ही मेरा कविता का शैशव भी समाप्त होगया। इस समय से मेरी प्रवृत्ति एक विशेष दिशा की ओर उन्मुख हुई, जिसमें व्यष्टिगत दुःख समष्टिगत गंभीर वेदना का रूप ग्रहण करने लगा और प्रत्यक्ष का स्थूल रूप एक सूक्ष्म चेतना का आभास देने लगा।······करुणा-बहुल होने के कारण बुद्ध सम्बन्धी साहित्य भी मुझे बहुत प्रिय रहा है।"[1]

अभिप्राय यह है कि महादेवी का जीवन विचित्र परिस्थितियों के प्रभावों से पूर्ण है। सम्पन्न और शिक्षित परिवार में जन्म, चित्रकला और संगीत की शिक्षा का प्रबंध, बुद्ध की करुणा की गहरी छाया दार्शनिक चिंतन, पति से पृथक् एकाकी जीवन, सेवा-भावना का अत्यधिक उज्ज्वल रूप आदि ने मिल कर उनके व्यक्तित्व को ऐसा रूप दे दिया है कि हिंदी ही नहीं भारत और विश्व में कोई स्त्री-कलाकार उनकी कोटि में नहीं आ सकती। जीवन के पट में ऐसे बहुरंगी धागों का संयोग अन्यत्र नहीं मिल सकता। इसीलिए महादेवी जी अपने क्षेत्र में अकेली हैं।

महादेवी जी की कविता के अब तक निम्नलिखित संग्रह निकल चुके हैं:—'नीहार', 'रश्मि', 'नीरज', 'सांध्य गीत' और 'दीप शिखा'। 'नीहार', 'रश्मि', 'नीरजा' तथा 'सान्ध्यगीत' की १८५ कविताएँ एक ही संग्रह 'यामा' में संकलित की गई हैं। इस प्रकार आज 'यामा' और 'दीपशिखा' दो बृहद् संग्रह उनके काव्य के उपलब्ध हैं। इन काव्य-ग्रंथों में संग्रहीत गीतों से जहाँ महादेवी जी के आध्यात्मिक चिंतन और रहस्यमयी भावना का पता चलता है, वहाँ उनके 'अतीत के चल

१—आधुनिक कवि, भाग १।

चित्र', 'स्मृति की रेखाएँ' आदि गद्य कृतियों से उनके यथार्थवादी स्वरूप के दर्शन होते हैं। इन रेखा-चित्रों और संस्मरणों में महादेवी की आत्मा छायावाद की सुन्दर भूमि से यथार्थ की कठोर भूमि पर उतर आई है। लेकिन उनकी समवेदना इतनी सरल और पावन है कि जिन व्यक्तियों को लेकर ये रेखाचित्र लिखे गये हैं, उनसे महादेवी जी का रागात्मक संबंध हो गया है। उनकी दयनीय दशा का चित्र खींचते हुए महादेवी जी ने व्यंग का भी सहारा लिया है, जो कि आज के गद्य की एक प्रमुख आवश्यकता है। गद्य इन सब के अनुकूल पड़ता है, इसीलिए महादेवी जी ने गद्य को अपनाया है। परन्तु वहाँ भी उनकी गहन दृष्टि का प्रकाश है। हिंदी के प्रसिद्ध समालोचक और निबंधकार बाबू गुलाबराय एम. ए. ने एक बार लिखा था कि वे गद्य में महादेवी जी का लोहा मानते हैं। महादेवी जी के गद्य की प्रौढ़ता का इससे बड़ा प्रमाण-पत्र और क्या हो सकता है। उनके विचारक रूप की झाँकी यदि पानी हो, तो 'शृंखला की कड़ियाँ' और 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य' देखिए। पहले में नारी को लेकर समाज के संबंध में वस्तुस्थिति के चित्रण के साथ वैज्ञानिक विवेचन किया गया है। दूसरे में साहित्य की समस्याओं—छायावाद, रहस्यवाद, गीतिकाव्य आदि—पर कवयित्री ने अपने गंभीर विचार प्रकट किए हैं। आधुनिक साहित्यिक समस्याओं पर लिखे ये लेख महादेवी जी के अपने चिंतन और विशिष्ट दृष्टिकोण को व्यक्त करते हैं।

आइए, अब हम तनिक उनके काव्य की मूल विशेषताओं का अनुशीलन करें। हम कह चुके हैं कि महादेवी जी का व्यक्तित्व हिंदी साहित्य में अपनी निजी विशेषता रखता है। भक्ति काल में

जो स्थान मीरा को प्राप्त था वही छायावाद में महादेवी जी को प्राप्त है और इसी को देखकर लोग उन्हें आधुनिक युग की मीरा कहते हैं। इस विषय में कुछ मत-भेद भी है। कुछ आलोचकों की राय में उन्हें मीरा से उपमा देना चाहिए और कुछ की राय में नहीं। हम उस विवाद में नहीं पड़ना चाहते। तब भी इस विषय पर अपनी सम्मति देने का लोभ संवरण हम नहीं कर सकते। जहाँ तक दुःख-दर्द और पीड़ा-कसक का संबंध है वहाँ तक मीरा और महादेवी में कोई अंतर नहीं है। मीरा भी राजकुमारी थीं और उन्होंने भी 'मेरो दर्द न जाने कोय' की पुकार लगाई थी। महादेवी यद्यपि राजघराने में पैदा नहीं हुई परंतु ऐसे संपन्न घराने में अवश्य पैदा हुई हैं, जहाँ सब प्रकार के सुख और सुविधाएँ प्राप्त हो सकती हैं। उन्होंने भी अपने लिए कहा है कि 'अश्रुमय कोमल कहाँ तू आ गई परदेशिनी री!' यों व्यथा और पीड़ा का संसार दोनों के पास है। अंतर है परिस्थितियों और शिक्षा-दीक्षा का। मीरा रहस्यवादी सन्तों की परंपरा के संस्कार लेकर आई थीं और रैदास की कृपा से उन्होंने सहज ज्ञान का प्रकाश प्राप्त किया था। महादेवी जी बीसवीं सदी के वैज्ञानिक युग में पैदा हुई हैं, जहाँ वे भिक्षुणी भी नहीं बन पाईं। उनकी शिक्षा भी बड़े-बड़े ऊँचे भवनों में हुई है। मीरा ने अपने को 'गिरधर गोपाल' के समर्पित कर दिया था और 'अँसुवन जल सींचि-सींचि प्रेम बेलि बोई' थी। उनका प्रियतम सगुण साकार था। महादेवी ने भी असीम के प्रति अपने को समर्पित किया है और आँसू उन्होंने भी कम नहीं बहाए हैं। उनका प्रियतम निर्गुण निराकार है। मीरा की कविता में त्रिकुटी, अनहद-नाद, सुरत-निरत, ज्ञान-दीपक, सुषुम्ना की सेज, सुन्न महल, हंस और

अगम देश की चर्चा होने पर भी रहस्य-भावना गौण है क्योंकि उनके भावों का प्रेरक ब्रज का छलिया गिरधर नागर था। महादेवी जी में ऐसे प्रतीक नहीं मिलते क्योंकि आज का युग इन प्रतीकों का नहीं है और न इनके लिए अवकाश ही है। इसलिए महादेवी में नवीनता भी है और उनकी वेदना कुछ अस्पष्टता से व्यक्त होने पर भी तीखेपन में मीरा से कम नहीं है। हाँ मीरा की-सी सीधी अभिव्यक्ति महादेवी जी में नहीं है। उसका एक कारण यह भी है कि अपनी व्यथा का वैसा प्रदर्शन आज के युग में किसी स्त्री द्वारा नहीं हो सकता। लेकिन महादेवी जी के विचार और कल्पनाएँ भी मीरा में नहीं मिलेंगी। इस प्रकार भेद के होते हुए भी दोनों में कुछ ऐसी समानताएँ हैं कि हम महादेवी को मीरा के साथ रख सकते हैं। हिंदी के प्रसिद्ध आलोचक श्री नंददुलारे वाजपेयी के शब्दों में महादेवी जी और मीरा दार्शनिक दृष्टि से एक ही परंपरा की अनुयायिनी प्रतीत होती हैं।

महादेवी जी मीरा हैं या नहीं इसे छोड़ भी दें तब भी उनका स्वतंत्र व्यक्तित्व इतना प्रखर है कि उनका महत्त्व किसी प्रकार उपेक्षणीय नहीं है। उनके प्रखर व्यक्तित्व की सबसे बड़ी भावना है—उनकी कविता में दुःखवाद का प्रभाव। यह दुःखवाद, यह पीड़ा का संसार, उनके जीवन में अनजाने ही बस गया है। और जब वह बस गया है तो महादेवी जी उसे सँजोए चली जा रही हैं क्योंकि वह उनके उस प्रियतम की देन है, जो विश्व की प्रति साँस में अपना स्वर मिलाए हुए है। उनका हृदय प्रतिक्षण किसी अभाव का अनुभव करता है, उसी की खोज में मस्त रहता है। वह सर्वदा शून्यता का अनुभव करती रहती हैं। परंतु उस सूनेपन की भी वह साम्राज्ञी हैं और उसमें प्राणों

का ही दीपक जलाकर दीवाली मनाती रहती हैं।[१] यह सूनेपन दीवाली मनाने का आयोजन उन्होंने इसलिए किया है कि कभी उस प्रियतम से उनका मूक-मिलन हुआ था। परंतु आज वह सब सपना हो गया है। आज तो उस मूक मिलन द्वारा बने पीड़ा के साम्राज्य में ही उन्हें रहना है जो क्षितिज के पार है, जहाँ मिटना ही निर्वाण है तथा नीरव रोदन ही जहाँ पहरेदार है।[२] पीड़ा को ग्रहण करने के कारण उनके जीवन का लौकिक सुख-स्वप्न नष्ट हो गया है। लौकिक सुख-स्वप्न के नष्ट हो जाने से उल्लास और उत्साह के केन्द्र हृदय में विषाद और निराशा ने घर कर लिया है। उनकी यह पीड़ा, जिसने विषाद और निराशा से हृदय को भर दिया है, स्वयं आई है—उनके अपने जीवन से, और उसका माध्यम रहा है वह प्रियतम। जब उनकी प्यार से ललचाई पलकों पर व्रीड़ा का पहरा था तभी उस चितवन ने उन्हें पीड़ा का साम्राज्य दे डाला और परिणाम यह हुआ कि

१—अपने इस सूनेपन की मैं हूँ रानी मतवाली,
प्राणों का दीप जलाकर करती रहती दीवाली!

२—पीड़ा का साम्राज्य बस गया,
उस दिन दूर क्षितिज के पार,
मिटना था निर्वाण जहाँ,
नीरव रोदन था पहरेदार
कैसे कहती हो सपना है,
अलि! उस मूक मिलन की बात?
भरे हुए अब तक फूलों में
मेरे आँसू उनके हास!

उस सोने के सपने को देखे युग बीत गए तथा उनकी आँखों के कोश रीते होगए परंतु फिर उस सोने के सपने को देखने का सुयोग न मिला।[1]

लेकिन यह पीड़ा उन्हें अत्यंत प्रिय है और वे इसे छोड़ना नहीं चाहतीं। बात यह है कि विरही के लिए पीड़ा का ही एक मात्र सहारा होता है। यदि वह भी न रहे तो फिर उसका जीना मुश्किल हो जाता है। शेखसादी से एक बार किसी ने पूछा था कि तुम इस पीड़ा को क्यों अपने साथ चिपकाए फिरते हो, छोड़ क्यों नहीं देते! शेखसादी ने उस प्रश्नकर्ता को उत्तर दिया था कि पीड़ा ही मेरा जीवन है, यदि इसे छोड़ दूँगा तो मैं मर जाऊँगा। महादेवी जी की कुछ ऐसी ही स्थिति है। वे भी पीड़ा को अत्यंत प्यार से सँभाल कर रखना चाहती हैं। दुःख की फिलासफी उनको बुद्ध के जीवन से मिली है और वहीं से करुणा का स्रोत भी उनके जीवन में फूटा है। परन्तु वह उनके काव्य में अपना निजीपन बनाए हुए दिखाई देता है। वे दुःख को सुख से अधिक महत्त्व देती हैं और उनका विश्वास है कि दुःख ही मानव मात्र को परस्पर निकट लाने का साधन है।

१—इन ललचाई पलकों पर
पहरा था जब व्रीड़ा का,
साम्राज्य मुझे दे डाला
उस चितवन ने पीड़ा का!
उस सोने के सपने को
देखे कितने युग बीते!
आँखों के कोश हुए हैं
मोती बरसा कर रीते!

उनका कथन है—"दुःख मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है, जो सारे संसार को एक सूत्र में बाँध रखने की क्षमता रखता है। हमारे असंख्य सुख हमें चाहे मनुष्यता की पहली सीढ़ी तक भी न पहुँचा सकें किंतु हमारा एक बूँद आँसू भी जीवन को अधिक मधुर, अधिक उर्वर बनाए बिना नहीं गिर सकता। मनुष्य सुख को अकेले भोगना चाहता है परन्तु दुःख सब को बाँटकर—विश्व-जीवन में अपने जीवन को, विश्व-वेदना में अपनी वेदना को इस प्रकार मिला देना जिस प्रकार एक जल-बिंदु समुद्र में मिल जाता है, कवि का मोक्ष है।" निस्संदेह उनका यह कथन यथार्थ है। दुःख से जीवन में जो बल आता है उससे आत्मा उज्ज्वल बनती है। उपास्यदेव की आराधना में जितना ही अधिक कष्ट अनुभव होगा उतनी ही आत्मा उसके निकट पहुँचेगी। 'नीहार' और 'रश्मि' में उनका यही दुःखवाद तीव्र रूप में प्रकट हुआ है।

संभवतः महादेवी जी को पीड़ा इसलिए प्रिय है, करुणा इसीलिए, अच्छी लगती है कि इससे जीवन की साधना पूरी होती है। यही आनन्द की चरमावस्था तक ले जाने का साधन है। तभी वे अमरों के लोक को ठुकरा देती हैं; और अपने मिटने के अधिकार को बचाए रखना चाहती हैं। क्योंकि जिस लोक में अवसाद नहीं, वेदना नहीं, जलन नहीं, ऐसे लोक को लेकर क्या होगा? उनके लिए ऐसा लोक व्यर्थ है।[1] दूसरी बात यह है कि वे जलन को ही अपने लिए वर चुकी हैं। इससे प्रेमी की भी महत्ता है, क्योंकि वे जलती हैं तो

१—ऐसा तेरा लोक, वेदना
नहीं, नहीं जिसमें अवसाद,

उनके प्रेमी की पीड़ा का साम्राज्य तो बना है, यदि वह न जलेंगी तो उस पीड़ा के साम्राज्य में अन्धकार छा जायगा। इसलिए वे नहीं चाहतीं कि अपने अस्तित्व को मिटा दें।[१] महादेवी के काव्य की यह एक बड़ी विशिष्टता है कि प्रत्येक साधक अंत में मिलन चाहता है और मिलन में उस दुःख का पर्यवसान चाहता है, जिस दुःख ने कि उसे मिलन की स्थिति तक पहुँचाया है, परन्तु वे दुःख का पर्यवसान नहीं चाहतीं। वे उस मानिनी नायिका की तरह हैं, जो प्रियतम की एक भूल पर रूठ जाती है और सौ-सौ बार मनाने पर भी नहीं मानती तथा जिसके जीवन में वह एक भूल सदा के लिए-तीर बनकर समा जाती है। इसलिए आज महादेवी जी ने यह दृढ़ निश्चय कर लिया है कि उनके प्राणों की क्रीड़ा कभी शेष न होगी और वे पीड़ा में प्रियतम को और प्रियतम में पीड़ा को देखेंगी—

> पर शेष नहीं होगी यह,
>
> मेरे प्राणों की क्रीड़ा।
>
> तुमको पीड़ा में ढूँढा
>
> तुममें ढूँढूँगी पीड़ा।

जलना जाना नहीं, नहीं—
जिसने जाना मिटने का स्वाद,
क्या अमरों का लोक मिलेगा
तेरी करुणा का उपहार,
रहने दो हे देव! अरे यह
मेरा मिटने का अधिकार।

२—चिन्ता क्या है, हे निर्मम, बुझ जाए दीपक मेरा,
हो जायेगा तेरा ही, पीड़ा का राज्य अँधेरा।

पीड़ा और प्रियतम परस्पर ऐसे घुल-मिल गए हैं कि दोनों में कोई अन्तर ही नहीं रह गया है। इसलिए वे पीड़ा को ही सर्वस्व मान कर अपना और प्रियतम का मिलन नहीं चाहतीं; विरह में ही उन्हें आनन्द आता है—'मिलन का मत नाम ले मैं विरह में चिर रहूँ।' क्यों ऐसा चाहती हैं उसका उत्तर यह है कि विरह अतृप्ति है और जब तक अतृप्ति है, अभाव है, तभी तक उन्हें उल्लास और आनन्द की प्रेरणा मिलती है। मिलन होने पर जीवन में कोई हलचल न रहेगी। तब जीवन बिलकुल मूक हो जायगा, भावना हीन-सा जड़, और यह महादेवी जी को स्वीकार नहीं है। उनका विश्वास है कि कामनाओं की चिर-तृप्ति जीवन को निष्फल कर देती है और हमारी प्यास बुझते ही विरक्ति का स्वरूप ले लेती है। बादलों का सजल होना इसी में है कि सारा जल बरसा कर रीते हो जायँ और सुख की पूर्णता इसी में है कि उससे मन फिर जाय[1]।

लेकिन इतना होने पर भी महादेवी जी का एक स्वप्न अवश्य है, जिसकी स्निग्धता से वे परिचित हैं और उनका विश्वास है कि उनका आज का विषाद कभी सुख में बदल जायगा। उनका वह स्वप्न

१—चिर तृप्ति कामनाओं का
कर जाती निष्फल जीवन,
बुझते ही प्यास हमारी,
पल में विरक्ति जाती बन।
पूर्णता यही भरने की
ढुल कर, देना सूने घन;
सुख की चिर पूर्ति यही है
उस मधु से फिर जावे मन।

है—"जिस प्रकार जीवन के उषाकाल में मेरे। सुखों का उपहास-सा करती हुई विश्व के कण-कण से एक करुणा की धारा उमड़ पड़ी है उसी प्रकार संध्या-काल में जब लंबी यात्रा से थका हुआ जीवन अपने ही भार से दब कर कातर क्रन्दन कर उठेगा, तब विश्व के कोने-काने में एक अज्ञात पूर्व सुख मुसकरा उठेगा"। 'नीरजा' में पहुँच कर महादेवी जी अपने उक्त कथन की सार्थकता सिद्ध करती प्रतीत होती हैं। यहाँ वे दुःख के साथ सुख का अनुभव कभी कभी कर लेती हैं। अब उनका विषाद मिट-सा चला है। यही भावना 'सांध्यगीत' में और परिष्कृत रूप में व्यक्त हुई है। अब उन्हें अपने हृदय में उस अज्ञात प्रियतम की झलक स्पष्ट प्रतीत होती है। उन्हें एक करुण अभाव में चिरतृप्ति का संसार संचित दिखाई देता है, एक लघु क्षण निर्वाण के सौ-सौ वरदान देने वाला जान पड़ता है और उन्हें जान पड़ता है कि वेदना के सौदे में उन्होंने किसी निधि को पा लिया है[1]। आज उनके प्राणों में दूर के संगीत की भाँति कोई गूँजता है और उन्हें अपने को खोकर कुछ खोई हुई वस्तु मिल गई है। विरह की निशा मिलन के मधु-दिन में स्नात होकर आई है। आज उनके हृदय में कोई आकर बस-सा गया है[2]। यही कारण है कि

१—एक करुण अभाव में चिर-तृप्ति का संसार संचित
एक लघु क्षण दे रहा निर्वाण के बरदान शत-शत,
पा लिया मैंने किसे इस वेदना के मधुर क्रय में, कौन तुम मेरे हृदय में?

२—गूँजता उर में न जाने दूर के संगीत-सा क्या,
आज खो निज को मुझे खोया मिला विपरीत-सा क्या,
क्या नहा आई विरह-निशि मिलन मधु-दिन के उदय में,
कौन तुम मेरे हृदय में?

वे आज अपने हृदय को अथवा आत्मा को दीपक की भाँति मधुर-मधुर जलने का आदेश देती हैं। 'नीहार' में उनका कथन था कि हे नभ की दीपावलियो तुम पल भर के लिए बुझ जाना क्योंकि करुणा-मय को तम के परदे में आना भाता है।[1] लेकिन 'नीरजा' में प्रियतम के पथ के आलोक के लिए उनको अपनी आत्मा को दीप की भाँति प्रज्वलित रखना है।[2] 'सांध्य-गीत' में भी उन्हें यही भावना आगे ले जाती है और विरह की घड़ियाँ उन्हें मधुर मधु की यामिनी सी जान पड़ती हैं—'विरह की घड़ियाँ हुईं अलि, मधुर मधु की यामिनी-सी।' 'दीप-शिखा' में तो साधना के प्रारंभ से लेकर सिद्धि प्राप्त करने तक की सभी स्थितियों के दर्शन हो जाते हैं। उन्होंने अपनी साधना का दिग्दर्शन कराते हुए लिखा है कि मैं दीप के समान अविराम मिटती हुई स्वजन के समीर-सी आ रही हूँ।[3] संभवतः इसीलिए उनका चितेरा दीपक तूलिका रख कर सो गया है। ठीक भी है मिलन का प्रभात आए और कल्पना साकार हो जाए तथा चित्र में प्राणों का संचार हो जाए तब साधना की पूर्ति के अंतिम क्षण का आगमन समझ

१—हे नभ की दीपावलियो
        तुम पल भर को बुझ जाना,
    करुणामय को भाता है,
        तम के परदे में आना।

२—मधुर-मधुर मेरे दीपक जल
    युग युग, प्रति दिन, प्रतिक्षण, प्रतिपल
        प्रियतम का पथ आलोकित कर।

३—दीप सी मैं
    आ रही अविराम मिट-मिट स्वजन और समीप सी मैं।

लेना चाहिए।[१] इस प्रकार पीड़ा उनके काव्य में साधना का माध्यम रही है, जिस के द्वारा वे मिलन की स्थिति तक पहुँचती हैं।

अब तक हमने यह देखा है कि किस प्रकार महादेवी जी के काव्य में पीड़ा और करुणा तथा वेदना का साम्राज्य है और कैसे उस वेदना को वे अपना बना कर रखना चाहती हैं। उनके काव्य की इस मूल विशेषता के पश्चात् हमारा ध्यान सहसा उनके माधुर्य भाव की ओर चला जाता है। मीरा की भाँति वे भी माधुर्य-भाव की उपासिका हैं। माधुर्य भाव में प्रिया और प्रियतम का संबंध माना जाता है। भगवान् को साधकों ने कभी माता, कभी पिता, कभी स्वामी, कभी सखा, कभी प्रियतमा और कभी प्रियतम के रूप में देखा है। इन सभी रूपों में प्रियतम प्रियतमा का रूप सबसे अधिक आनंद-प्रद है क्योंकि इसमें परस्पर के भाव-प्रकाशन में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं रहता। गोपियों की कृष्णोपासना भी इसी रूप की थी इसीलिए वे कृष्ण के अधिक निकट थीं। महादेवी जी भी माधुर्य-भाव से ही अपने प्रियतम को भजती हैं। वे नारी हैं, और नारी के लिए इससे अधिक स्वाभाविक मार्ग दूसरा नहीं हो सकता। यह भी एक कारण है कि उन्होंने अपने ब्रह्म को प्रियतम का रूप दिया है। वे अपने प्रियतम को बहुधा 'प्रिय' कह कर पुकारती हैं। वैसे उसके सौंदर्य का वर्णन करते समय 'सुंदर', 'चिर सुंदर' और उसकी उपेक्षा को बताते हुए 'निठुर', 'निर्मोही', 'निर्मम'

१—सजल है कितना सबेरा !

कल्पना निज देख कर साकार होते
और उसमें प्राण का संचार होते
सो गया रख तूलिका दीपक चितेरा !

आदि कह कर भी संबोधित करती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि वे समयानुकूल संबोधन करती हैं। परंतु महादेवी की विशेषता यह है कि वे सर्वत्र गंभीर रहती हैं। कभी उनको गोपियों की भाँति प्रियतम से छेड़-छाड़ या हास-परिहास करने का ध्यान नहीं आता। बात यह है कि वे सूक्ष्म ब्रह्म की उपासिका हैं, जहाँ कि उनकी कोई प्रति-द्वंद्विनी नहीं है और जहाँ असीम पथ पर उन्हें स्वयं आगे बढ़ना है। इसीलिए उनकी पूजा भी स्वयं मन के भीतर होती है। किसी मंदिर में उनका प्रियतम नहीं है, जहाँ वे मीरा की भाँति नाच सकें। वे तो बाह्य पूजा के विधान को भी स्वीकार नहीं करतीं। उनकी दृष्टि में पूजा या अर्चन व्यर्थ है। जब उनका लघुतम जीवन ही उस असीम का सुन्दर मंदिर है, जब उनकी श्वासें नित्य प्रिय का अभिनंदन करती रहती हैं, जब पद-रज धोने के लिए लोचनों के जल-कण उनके पास हैं, जब पुलकित रोम ही अक्षत हैं और पीड़ा ही चंदन है, जब स्नेह भरा मन झिलमिलाते दीप की भाँति जलता रहता है, जब दृग-तारक ही कमल पुष्प का काम देते हैं, जब हृदय की धड़कन ही धूप बन कर उड़ती रहती है, जब अधर 'प्रिय प्रिय' जपते हैं और पलकों का नर्तन ताल देता है, तब बाह्याडंबर की क्या आवश्यकता है?[1] इसीलिए वे शून्य मंदिर में स्वयं प्रियतम की प्रतिमा बन जाना चाहती हैं और

१—क्या पूजा क्या अर्चन रे?

उस असीम का सुन्दर मंदिर मेरा लघुतम जीवन रे!
मेरी श्वासें करती रहतीं नित प्रिय का अभिनंदन रे!
पद-रज को धोने उमड़े आते लोचन में जल कण रे!
अक्षत पुलकित रोम मधुर मेरी पीड़ा का चंदन रे!

उनके गीले नयन आरती करना चाहते हैं।[२] यह सब देख कर लगता है कि महादेवी जी पर भक्तों और निर्गुणिये संतों का प्रभाव पर्याप्त मात्रा में पड़ा है। जहाँ इस प्रकार के निवेदन हैं, वहाँ उनकी भक्तों और संतों से प्रभावित भक्ति भावना का ही प्रकाशन अधिक है, रहस्य-भावना कम। उन्होंने मधुरतम व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा करके उसके प्रति आत्म-निवेदन किया है। उस आत्म-निवेदन में उनकी आत्मा स्वकीया की भाँति अपने प्रियतम के पथ में आँखें बिछाए रहती है और निरंतर उसकी पूजा-अर्चना का विधान किया करती है।

महादेवी जी की कविता में तीसरा विशेष तत्त्व है उनके द्वारा गृहीत प्रकृति का स्वरूप। छायावाद में प्रकृति का कई रूपों में उपयोग हुआ है। कहीं वह सचेतन मानवी बनकर सम्मुख आई, कहीं स्वतंत्र चित्रण के केन्द्र के रूप में और कहीं मानव-मन में उठती सुख-दुःखात्मक अनुभूतियों के व्यक्तीकरण में सहायता देने के लिए। यह अंतिम रूप ही प्रमुख है, जिस में मानव ने प्रकृति के साथ तादात्म्य स्थापित किया है। प्रकृति मानो एक अंग है, जिसके द्वारा भावनाएँ सरलता से व्यक्त हो जाती हैं। आज ही नहीं, रीतिकाल में भी, जब कि प्रकृति जड़ बन कर रह गई थी—

स्नेह-भरा जलता है झिलमिल मेरा यह दीपक-मन रे!
मेरे दृग के तारक में नव उत्पल का उन्मीलन रे!
धूप बने उड़ते रहते हैं, प्रतिपल मेरे स्पन्दन रे!
प्रिय-प्रिय जपते अधर ताल देता पलकों का नर्तन रे!

२—शून्य मंदिर में बनूँगी आप मैं प्रतिमा तुम्हारी!
मेरे गीले नयन बनेंगे आरती।

उसका यह रूप किसी न किसी प्रकार सम्मुख आता ही रहा। छायावाद तो प्रकृति को सचेतन करने के लिए आया ही था। छायावाद में कहीं तो यह हुआ है कि भावनाएँ ही प्रकृति का माध्यम हुई हैं और कहीं प्रकृति-वर्णन से ही भावनाएँ व्यक्त हुई हैं और कहीं दोनों का समानुपात हुआ है। स्वतंत्र प्रकृति-चित्रण इस काल में कम ही हुए हैं। जो हुए हैं, वे भी कला-विन्यास के लिए। महादेवी जी ने प्रकृति के स्वतंत्र चित्रण बहुत कम किए हैं। प्रकृति के स्वतंत्र चित्रण के लिए 'यामा' में उनकी एक ही कविता है—हिमालय के ऊपर। उसमें भी उनकी अन्तमुखी वृत्ति उभर आई है। प्रकृति के रूपों, दृश्यों और भावों को महादेवी जी ने एक चेतन व्यक्तित्व दे दिया है। इसे यों कहें कि प्रकृति उनके साथ ही उनके प्रियतम के प्रति आत्म-निवेदन में सहायक होकर समर्पित हो गई है, तो अधिक संगत होगा। यही रूप उनके काव्य में अधिक प्रमुखता रखता है। वैसे वे भी अन्य कवियों की भाँति ब्रह्म की ओर जाती हुई प्रकृति के सौंदर्य से आकर्षित हो कर उसमें कुछ देर को खो जाती हैं। लेकिन ऐसी कविताओं में भी, अंतिम पंक्ति से वे अपने जी की जलन भी व्यक्त कर ही देती हैं। बात यह है कि मन की व्यथा का व्यक्तीकरण उन्हें इतना प्रिय है कि उसे वे बचा नहीं सकतीं, सर्वत्र उसकी छाया आ ही जाती है। 'रश्मि' की 'रश्मि' नाम की कविता को ही लें तो उसमें प्रभात के स्वतन्त्र और सुन्दर चित्र मिलेंगे। लेकिन उसके अन्त में कवयित्री ने लिखा है कि नींद अपने स्वप्न-पंख फैला कर क्षितिज के पार उड़ गई है और अध-खुले दृगों के कंज-कोश पर विस्मृति का खुमार छाया हुआ है। यही नहीं, प्रभातकाल की स्वर्ण वेला में यह हृदय-चितेरा अश्रु-हास ले कर सुधि-विहान

रँग रहा है। महादेवी जी की कविता में प्रकृति के रूपक बहुत मिलते हैं। 'रूपसि तेरा घन केश-पाश' में पावस का, 'धीरे धीरे उतर क्षितिज से आ वसंत रजनी' में वसन्त की रात्रि का, 'लय गीत अमर, पद ताल अमर' में प्रकृति का अप्सरा के रुप में चित्रण आदि प्रकृति के ऐसे सांग रूपक हैं, जिनमें प्रकृति का मानवीकरण किया गया है और प्रकृति का स्वरूप नेत्रों के सम्मुख प्रत्यक्ष हो गया है। इन से भी अधिक प्रकृति का स्वरूप वहाँ खुला है, ज ॉ प्रकृति के साथ कवयित्री ने अपने जीवन को एकाकार कर दिया है। इस दृष्टि से 'प्रिय ! सांध्य गगन मेरा जीवन' वाला गीत अत्यंत उत्कृष्ट है। सांध्य गगन के सौंदर्य के साथ अपने जीवन का ऐसा उत्कृष्ट सामंजस्य स्थापित किया गया है कि कलाकार की प्रशंसा किए बिना नहीं रहा जा सकता। कवयित्री कहती हैं कि मेरा जीवन सांध्य गगन की भाँति है। यह गोधूलि बेला के कारण धुँधला क्षितिज मेरे हृदय का विराग है। सांध्य नभ की लालिमा सा ही मेरा सुहाग है, संध्या की शून्य छाया के समान ही राग हीन मेरी काया है, और रँगीले घन ही मेरे सुधि भरे स्वप्न हैं। इस प्रकार संध्या और मेरे जीवन में कोई अंतर नहीं है।[१] इन पूर्ण रूपकों के अतिरिक्त ऐसे खंड-रूपकों की भरमार है जहाँ प्रकृति के कुछ चित्र लेकर अपनी भावनाओं को व्यक्त किया गया है। 'विरह का जलजात जीवन ! विरह का जलजात !'

१—प्रिय ! सांध्य गगन, मेरा जीवन !
यह क्षितिज बना धुँधला विराग
नव अरुण अरुण मेरा सुहाग,
छाया सी काया वीतराग,
सुधि-भीने स्वप्न रँगीले घन।

और 'मैं नीर भरी दुख की बदली' आदि गीतों में ऐसे ही रूपक व्यक्त हुए हैं।[1] इस प्रकार महादेवी जी में प्रकृति के रंगीन चित्र असंख्य हैं पर वे सब या तो उनकी भावना से रँगे हैं या उनमें उनकी भावना व्याप्त है। तात्पर्य यह है कि प्रकृति महादेवी जी के जीवन में एकाकार होकर उनमें विरह-मिलन की अनुभूतियों के चित्रण में सहायक हो गई है।

इस सब के साथ वर्तमान हिंदी कविता में रहस्यवाद की वे एक-मात्र कवयित्री हैं। जहाँ रहस्यवाद की चर्चा होती है, वहाँ हमारा ध्यान सहसा दार्शनिक और साधक ज्ञानियों की ओर चला जाता है। परन्तु महादेवी जी साधक नहीं हैं, आराधक हैं, जैसा कि हम उनके माधुर्य-भाव की विवेचना करते समय देख चुके हैं। इस आराधना के कारण उनका कवि सदैव शिशु की भावुकता से अभिभूत रहा है। इसीलिए उनकी अनुभूति कभी फीकी नहीं पड़ी। 'दीप-शिखा' के गीतों में भी जहाँ चिंतन अधिक गहरा हो गया है, वे अपने उसी सहज आकर्षक रूप में विद्यमान हैं। उन्होंने स्वयं एक स्थान पर लिखा है—"मानवीय संबंधों में जब तक अनुराग-जनित आत्म-

---

१ (क)—विरह का जलजात जीवन विरह का जल जात।
वेदना में जन्म, करुणा में मिला आवास,
अश्रु चुनता दिवस इसका अश्रु गिनती रात!

(ख)—मैं नीर भरी दुख की बदली!
विस्तृत नभ का कोई कोना,
मेरा कभी न अपना होना,
परिचय इतना इतिहास यही
उमड़ी कल थी मिट आज चली!

विसर्जन का भाव नहीं धुल जाता तब तक वे सरस नहीं हो पाते और जब तक मधुरता सीमातीत नहीं हो जाती तब तक हृदय का अभाव दूर नहीं होता। इसी से इस (प्राकृतिक) अनेकरूपता के कारण पर एक मधुरतम व्यक्तित्व का आरोपण कर उसके निकट आत्म-निवेदन कर देना इस काव्य का (रहस्यवादी काव्य का) दूसरा सोपान बना, जिसे रहस्यमय रूप के कारण ही रहस्यवाद का नाम दिया गया।" जब कि उसके प्रथम रूप के बारे में वे कहती हैं कि "छायावाद की प्रकृति घट, कूप आदि में भरे जल की एकरूपता के समान अनेक रूपों में प्रकट एक महा-प्राण बन गई, अतः अब मनुष्य के अश्रु, मेघ के जल-कण, और पृथ्वी के ओस-बिन्दुओं का एक ही कारण, एक ही मूल्य है।" स्पष्ट है प्रकृति में मानवी भावों की छाया या उसके साथ मानव भावना का तादात्म्य महादेवी जी की सम्मति में छायावाद है और जब प्रकृति में एक मधुरतम व्यक्तित्व का आरोप कर उसके प्रति आत्म-निवेदन किया जाता है, तब रहस्यवाद हो जाता है। अर्थात् रहस्य-वाद छायावाद की दूसरी सीढ़ी है। यहाँ इस विवाद में न पड़ कर हम केवल महादेवी जी के काव्य में उनके कथनानुसार रहस्यवाद की छानबीन करेंगे।

जैसा कि हम कह चुके हैं—उनके काव्य में चिंतन का प्राधान्य है और चिन्तन दार्शनिकता की ओर ले जाता है, जिसके भावात्मक प्रकाशन को रहस्यवाद कहते हैं। आत्मा और परमात्मा दोनों एक हैं। आत्मा परमात्मा से बिछुड़ गई है और माया के आवरण में अपने शुद्ध स्वरूप को न देख सकने के कारण परमात्मा का अनुभव नहीं कर सकती, यदि साधना द्वारा माया का आवरण हटा दिया

जाय तो परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है, आदि क्रमशः आत्मा के परमात्मा तक पहुँचने के साधन हैं। रहस्यवादी कवि भी इस प्रक्रिया का सहारा लेता है। वह सृष्टि में सर्वत्र उसी की छाया देख कर पूछ उठता है कि न जाने वह कौन है, जो तारों में हँसता, विद्युत् में चमकता ओस-बिन्दुओं में रोता है। उस 'कौन' के लिए उसकी आत्मा जिज्ञासा-भव से पीड़ित हो उठती है। प्रकृति के परिवर्तन में उसे उसी का भाव जान पड़ता है[1]। इसके साथ साथ वह अपने प्रियतम के पथ की ओर निरन्तर बढ़ता जाता है और उस पथ पर चलते हुए उसे विरह की तीव्र वेदना सहनी पड़ती है। यह विरह की तीव्र वेदना ही रहस्यवादी कवि के काव्य का प्राण होती है। ऐसे स्थलों पर वह लौकिकता के रूपकों को अपनाने के लिए बाध्य होता है। महादेवी जी ने स्वयं इस संबंध में कहा है कि रहस्यवाद में मर्मस्पर्शी व्यंजना के लिए लौकिकता का इतना आधार अत्यंत आवश्यक होता है। उनके शब्दों में "जायसी की परोक्षानुभूति चाहे जितनी ऐकांतिक रही हो परंतु उनकी मिलन-विरह की मधुर और मर्मस्पर्शी अभिव्यंजना क्या किसी लोकोत्तर लोक से रूपक लाई थी? हम चाहे आध्यात्मिक संकेतों से अपरिचित हों परंतु उनकी लौकिक कला-रूप सप्राणता से हमारा पूर्ण परिचय है। कबीर

१—जब कपोल-गुलाब पर शिशु-प्रात के
सूखते नक्षत्र-जल के बिन्दु से
रश्मियों की कनक धारा में नहा
मुकुल हँसते मोतियों का अर्घ्य दे,
स्वप्न शाला में यवनिका डाल जो
तब दृगों को खोलता वह कौन है?

की ऐकान्तिक रहस्यानुभूति के संबंध में भी यही सत्य है।" सारांश यह कि कबीर और जायसी की भाँति ही महादेवी जी की रहस्यानुभूति भी लौकिक रूपकों द्वारा व्यक्त हुई है। वे भी अपने को उसी एक-मात्र सत्ता की चिर-विरहिणी समझती हैं और उसी की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करती हैं। वे उससे भिन्न नहीं हैं क्योंकि जैसे सिंधु को वीचि-विलास अपना कुछ परिचय नहीं दे सकते उसी प्रकार कवयित्री के बुद् बुद् प्राण भी उसी महासमुद में लीन होते और उसी से प्रकट होते हैं[१]। उनकी आत्मा का परमात्मा से वही संबंध है जो विधु-बिम्ब से चन्द्रमा का संबंध होता है। इसी लिए उनका कथन है कि उस किरण को कौतूहल के बाण खींच कर विश्व में ले आते हैं और जब ओस से धुले पथ में तेरा छिपा आह्वान आता है तो वही किरण अपना अधूरा खेल भूलकर तुम्हीं में अंतर्धान हो जाती है[२]। यह अनुभव करके ही कवयित्री अपना परिचय नहीं देना चाहती। जब वह और प्रियतम एक ही हैं तब फिर परिचय कैसा? चित्र का रेखाओं से, राग का स्वर से, असीम का सीमा से और काया का छाया से जो संबंध है वही आत्मा

१—सिंधु को क्या परिचय दें देव, बिगड़ते वीचि विलास?
 क्षुद्र हैं मेरे बुद-बुद प्राण तुम्हीं में सृष्टि तुम्हीं में नाश।

२—तुम हो विधु के बिम्ब, और मैं
 मुग्धा रश्मि अजान
 जिसे खींच लाते अस्थिर कर
 कौतूहल के बाण।
 ओस धुले पथ में छिप तेरा जब आता आह्वान।
 भूल अधूरा खेल तुम्हीं में होती अन्तर्धान।

और परमात्मा का संबंध है फिर परिचय देना व्यर्थ है।[1] जब इस स्थिति का अनुभव हो जाता है तब व्यथा न जाने कहाँ चली जाती है। नयन श्रवण-मय और श्रवण नयन-मय हो जाते हैं, रोम रोम में एक नया ही स्पन्दन होने लगता है और छाले प्रसन्नता से फूल बन जाते हैं।[2] सीमा असीम में मिट जाती है और असीम सीमा में बँध जाता है। विरह की रात तब मिलन का प्रात बन जाती है।[3] तब साधिका बन्दिनी होकर भी बंधनों की स्वामिनी सी हो जाती है—"बन्दिनी बन कर हुई मैं बंधनों की स्वामिनी सी।" यही वह स्थिति होती है जब वह गा उठती है कि 'बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ।' तब समस्त विश्व का सुख-दुःख प्रियतम के कारण मधुर बन जाता है[4] और साधिका का स्पर्श पाते ही काँटे कलियाँ और प्रस्तर रसमय हो जाते

१—चित्रित तू मैं हूँ रेखा-क्रम,
मधुर राग तू मैं स्वर-संगम, तू असीम मैं छाया का भ्रम,
क्या छाया में रहस्यमय ! प्रेयसि प्रियतम का अभिनय क्या ?
तुम मुझ में प्रिय फिर परिचय क्या ?

२—नयन श्रवण-मय श्रवण नयन-मय आज हो रहे कैसी उलझन,
रोम रोम में होता री सखि एक नया उर का सा स्पन्दन,
पुलकों से भर फूल बनाए जितने प्राणों के छाले, हैं
मुस्काता संकेत भरा नभ अलि, क्या प्रिय आने वाले हैं !

३—चिर विरह की रात को अब
तू मिलन का प्रात रे कह।

४—मधुर मुझ को हो गए सब
मधुर प्रिय की भावना ले।

हैं—'मेरे पद छूते ही होते काँटे कलियाँ, प्रस्तर रसमय'। सारांश यह है कि महादेवी जी में रहस्यवाद का स्वाभाविक विकास है और वे कबीर और जायसी के बाद हिंदी में रहस्यवाद की परम्परा को आगे बढ़ाने वाली एकमात्र कवयित्री हैं। मीरा की-सी तीखी और सरल अनुभूति उनमें नहीं है, परंतु कल्पना के मधुर संयोग से उन्होंने जिस भावना-लोक में अपने प्रियतम के साथ आँख-मिचौनी खेली है और प्रकृति के सौंदर्य के माध्यम से उससे साक्षात्कार किया है, वह मीरा से उन्हें ऊँचा उठा देता है। रहस्यवाद की ऐसी स्वाभाविक कविता हिंदी में तो है ही नहीं, विश्व की अन्य भाषाओं में भी नहीं हैं। कुछ लोगों को उनकी अस्पष्टता के प्रति बड़ी शिकायत है, परंतु यह महादेवी की नहीं युग की विशेषता है। छायावाद की प्रतीकात्मक पद्धति के कारण अस्पष्टता सभी में है। महादेवी जी में अस्पष्टता का एक कारण यह भी है कि साधना की जिस ऊँची भूमिका से उनका आत्म-निवेदन हुआ है वह साधारण पाठक को एकदम बुद्धि-गम्य नहीं होता। उनके नारी-हृदय ने संयम की रेखा को नहीं लाँघा है। यह भी एक कारण है जिससे वे कुछ अधिक स्पष्ट नहीं हैं। इतना होने पर भी यदि हम उनके जीवन और साधना-पथ को समझ लें तो हमें उनकी कविता समझने में कोई कठिनाई न होगी।

महादेवी जी का कलापक्ष भी उतना ही सुन्दर है जितना कि भावपक्ष। वह इसलिए नहीं कि उन्होंने प्रसाद, पंत, निराला आदि की भाँति कोई नई क्रांति की है। उसकी सुन्दरता उनकी स्वाभाविकता में है। उनकी दृष्टि में कविता हृदय की अनुभूति है। पालिश करने से उसका स्वरूप परिवर्तित हो जाता है। इसीलिए वे जो रचनाएँ लिखती हैं,

एक ही बार लिखती हैं, उसे 'संशोधन', 'खराद' या 'पालिश' की कसौटी पर नहीं कसतीं। यही कारण है कि उनमें कृत्रिमता का आभास नहीं मिलता और वे हृदय से उद्भूत भावों और अनुभूतियों की एकरूपता प्रदर्शित करती हैं। इस अकृत्रिमता के कारण ही उनकी भाषा अत्यंत परिष्कृत, अत्यंत मधुर और अत्यंत कोमल है। स्वाभाविकता का उन्होंने इतना ध्यान रखा है कि मात्राओं की पूर्ति और तुक के आग्रह के लिए कुछ शब्दो का अंग भंग भी हो गया है। 'बातास' का 'बतास' 'आधार' का 'अधार', 'ज्योति' का 'ज्योती', 'कर्णधार' का 'कणाधार' लिखने में उन्होंने कभी संकोच नहीं किया। उनकी कविता में कहीं कहीं अंत्यानुप्रास भी नहीं मिलते हैं; परन्तु तुक और शब्दों के ऐसे प्रयोग उनके काव्य की गति को मन्द नहीं करते वरन् उसमें स्वाभाविकता ला देते हैं।

दूसरी बात उनकी अभिव्यक्ति में यह है कि वह सूक्ष्मतम भावनाओं को वाणी देने के कारण संकेतात्मक है। उसमें शब्दों के लाक्षणिक प्रयोग, अमूर्त वस्तुओं के लिए मूर्त योजनाएँ, भावों और प्राकृतिक रूपों के मानवीकरण आदि छायावादी शैली की सभी विशेषतायें पाई जाती हैं। उनके काव्य में शब्द चित्र भी अधिक मिलते हैं। इसका कारण यह है कि वे चित्रकार भी हैं। उनकी अन्तिम कृति 'दीप शिखा' में प्रत्येक कविता की पृष्ठिभमि के लिए एक-एक चित्र दिया गया है। 'यामा' में भी ऐसे ही चित्र हैं। इन चित्रों की विशेषता ऐसे रंगों का विधान है, जो दृश्य या रूप को ज्यों का त्यों उतार दे। चित्रकार की तूलिका और कवि की वाणी दोनों के संयोग से उनकी कविता खिल उठती है। एक आलोचक ने यह ठीक ही लिखा है कि महादेवी जी के यहाँ एक ओर चित्रकला की

गोद में काव्य कला खेलती है और दूसरी ओर काव्य कला की अमूर्तता रेखा और रंग के सहारे चित्रित (मूर्त) होगई है। उनके चित्रों में दीपक, शतदल और काँटे तथा बादल आदि का प्रयोग वैसे ही है जैसे उनके गीतों में।

महादेवी जी ने गीतिकाव्य ही अधिक लिखा है और अंतर्मुखी भावनाओं को व्यक्त करने के लिए गीतिकाव्य ही उपयुक्त होता है। इन गीतों मे उनके हृदय का हर्ष-विषाद सहज रूप में व्यक्त हो उठा है। महादेवी जी ने लिखा है "गीत का चिरंतन विषय रागात्मिका वृत्ति से संबंध रखने वाली सुख-दुःखात्मक अनुभूति से ही रहेगा। साधारणतः गीत व्यक्तिगत सीमा में सुख दुःखात्मक अनुभूति का वह शब्द-रूप है, जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके।" अपने गीतों के संबंध में उन्होंने यह उचित ही लिखा है। वास्तव में उनके गीत निराला जी की भाँति ताल-स्वर के सीमित बंधन में बंद नहीं हैं, वे अपनी ध्वन्यात्मकता में ही गेय हैं, जिनमें संगीत काव्य का अनुयायी है और मानव वृत्तियों के चित्रों को गति और सौंदर्य दे देता है। गीतों की जो परंपरा वैदिक काल से लेकर उपनिषद् काल और महाकाव्य काल तक किसी न किसी रूप में चलती रही, उसका प्रथम स्वर हमारी भाषा में विद्यापति द्वारा गूँजा। उसके बाद कबीर की प्रेम-भक्ति की वाणी भी पदों द्वारा जनता तक पहुँची। सूर और तुलसी ने भी उस परंपरा को आगे बढ़ाया। लेकिन उसका चरम विकास मीरा में मिलता है। मीरा के गीत हृदय की कसक के सहारे स्वरों में ध्वनित हुए हैं। मीरा के बाद गीत का स्वाभाविक रूप महादेवी में ही मिलता है। यों छायावादी युग में प्रसाद, निराला, पंत, तथा अन्य कवियों के सुन्दर गीत भी

मिल सकते हैं, परंतु गीतिकाव्य का ऐसा विकास उनमें नहीं है, जो महादेवी जी की कला को छू सके। उनके गीत निसर्ग सुंदर हैं और उनमें अपनी निजी विशेषता है और वह है उनकी स्वाभाविक गति और भाव-भंगिमा। महादेवी इस क्षेत्र में अद्वितीय हैं। इसके कारण उनका कला-पक्ष अनूठा और अपूर्व हो उठा है, जिसने उनकी भावनाओं को सदा के लिए अमर बना दिया है।

महादेवी जी अभी तक साधना के पथ पर हैं। 'नीहार' के धुँधले पन में 'रश्मि' के सुनहले प्रकाश पर जो 'नीरजा' खिली थी यह 'सांध्य गीत' की ध्वनि से 'दीप शिखा' तक अपनी सजल-सरस अनुभूति और कल्पना की पंखुड़ियों से सौंदर्य विकीर्ण कर इस नारी की आत्मा की व्यथा को विश्व के कण-कण के माध्यम में से उस अनन्त, असीम के चरणों तक पहुँचाती रही। भविष्य में वे प्रभात के अनुकूल मिलन की भूमिका बाँध कर हमें अपने आनन्द का भी उसी प्रकार सन्देश देंगी, जैसे विषाद का संदेश दिया है, यह आशा है। तब उन्हें न जलन रहेगी, न पीड़ा और न दीपक की भाँति तिल-तिल कर प्रिय के लिए मिटना ही पड़ेगा। तब उनके काव्य से आशा और उत्साह का स्वर्गीय गान फूटेगा और तब वे 'शलभ में शापमय वर हूँ, किसी का दीप निष्ठुर हूँ' की पुकार न लगा कर केवल यही गीत गायेंगी।

सजल सीमित पुतलियाँ पर चित्र अमिट असीम का वह,
चाह एक अनन्त बसती प्राण किन्तु ससीम सा यह,
रज कणों से खेलती किस विरज विधु की चाँदनी मैं?
प्रिय चिरन्तन है सजनि, क्षण-क्षण नवीन सुहागिनी मैं!

नाटककार

जयशंकर 'प्रसाद'

हिंदी-साहित्य के इतिहास में प्रसाद जी का व्यक्तित्व अप्रतिम है। वे एक ही साथ कवि, दार्शनिक, इतिहासज्ञ, कथाकार और नाटककार सभी रूपों में हमारे सामने आते हैं। यों और भी ऐसे व्यक्ति होंगे जिनमें एक नहीं कई विभिन्न तत्त्वों का समावेश होगा, परन्तु उन तत्त्वों में से वे एक ही विशेष तत्त्व के लिए प्रशंसित होंगे। प्रसाद जी के साथ ऐसा नहीं है। उनके व्यक्तित्व में जितने भी तत्त्व हैं; वे सब अपना अलग-अलग महत्त्व रखते हैं। उनकी कविता, उनका दार्शनिक चिंतन, उनकी ऐतिहासिकता, उनकी कथात्मक वृत्ति और उनकी नाट्यकला सभी में उन्होंने समान रूप से अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन किया है। आश्चर्य की बात तो यह है कि जो कुछ लिखा है, वह उत्कृष्ट लिखा है। कहीं शैथिल्य नहीं, कहीं भर्ती का प्रयत्न नहीं, कहीं कृत्रिमता नहीं। सब एकदम ठोस, स्वाभाविक और ला-जवाब। साहित्य में इस प्रकार की अभूतपूर्व सफलता महान् प्रतिभाशाली व्यक्तियों को ही मिलती है। प्रसाद ऐसे ही प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। यही कारण है कि वे हिंदी के रवींद्रनाथ कहे जाते हैं। रवींद्रनाथ की परिस्थितियाँ और सुविधायें प्रसाद को प्राप्त नहीं थी। यदि होतीं तो वे भी 'नोबेल पुरस्कार' विजेता हो सकते थे। 'कामायनी' विश्व की सर्वश्रेष्ठ रचनाओं में से एक है, जिसका अनुवाद यदि हो जाय तो विश्व-साहित्य में उथल-पुथल हो सकती है। स्वतंत्र-चेता साहित्यकार की भाँति प्रसाद ने अपने को साहित्य के लिए घुला

दिया था। हम कवि के रूप में उनके कृतित्व पर पीछे विचार कर चुके हैं। यहाँ उनके नाटककार रूप पर विचार करेंगे।

कितने आश्चर्य की बात है कि जिस काशी में सन् १८५० में हिंदी के आधुनिक काल के जनक स्वनाम-धन्य भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का अवतार हुआ था और जो ३५ साल की छोटी-सी अवस्था में ही हिंदी साहित्य में बहुमुखी क्रांति करके भारतेन्दु-युग के प्रवर्तक हुए उसी काशी में उनकी मृत्यु के चार वर्ष बाद ही अर्थात् सन् १८८६ में बाबू जयशंकर प्रसाद का आविर्भाव हुआ और उन्होंने ३५ साल की अपेक्षा ४८ साल की आयु में (जो अधिक नहीं कही जा सकती) हिन्दी में काव्य, नाटक, कथा, निबंध आदि के क्षेत्र में ऐसे वृक्ष लगाए, जो सदैव अपनी शोभा से रसिकों का हृदय आकर्षित करते रहेंगे। काशी के इन दोनों वैश्य-कुलोत्पन्न बाबुओं में कुछ ऐसी समानताएँ हैं कि कभी-कभी हमें भ्रम हो जाता है कि कहीं भारतेन्दु ने ही तो प्रसाद के रूप में अवतार नहीं ले लिया था। वही मस्ती, वही साहित्य-साधना, वही सज-धज, वही विचार, वही विशाल-हृदयता, सभी कुछ प्रसाद में भारतेन्दु जैसे थे। हाँ नेतृत्व की प्रवृत्ति प्रसाद जी में न थी। वे मंडली के आदमी थे, सभा-सोसाइटियों के नहीं, इसलिए भारतेन्दु की भाँति उनके नाम पर युग नहीं चला। इससे लाभ भी हुआ और हानि भी। लाभ तो यह कि प्रसाद जी को चिंतन का अवसर मिला और उनकी किसी कृति में 'प्रचार' की बू नहीं आ पाई, जो सत्-साहित्य की दृष्टि से कभी अवांच्छनीय नहीं कही जा सकती। हानि यह हुई कि उन्हें जितना सम्मान मिलना चाहिए था उतना न मिल सका।

प्रसाद जी क्रांतिकारी साहित्य-स्रष्टा थे। क्रांतिकारी का

अर्थ राजनीतिक अर्थ में न लेकर साहित्यिक अर्थ में लेना चाहिए। साहित्य के सभी अंगों में उनकी अलग शैली है, जिसे आप 'प्रसादत्व' कह सकते हैं। नाटकों में उनका यह प्रसादत्व और भी अधिक खिला है। उनके नाटकों पर विचार करने से पहले यह समझ लेना चाहिए कि प्रसाद जी की परिस्थितियाँ क्या थीं और उन्हें नाटक की कोई परंपरा भी मिली या नहीं। जैसा कि हम प्रसाद के जीवन से जानते हैं, प्रसाद द्विवेदी युग में रहते हुए भी कभी उससे प्रभावित न हुए थे। वे अपने ही मार्ग पर बढ़े थे। साहित्य की उनकी अपनी निजी विचार-प्रणाली थी और निजी दृष्टिकोण। नाटकों में भी यही बात थी। उनसे पूर्व भारतेन्दु जी का युग ही नाटक में चला आ रहा था, जिसमें संस्कृत की परम्पराओं के प्रति विद्रोह भावना और नवीनता के प्रति प्रेम का परिचय दिया जा चुका था। भारतेन्दु और उनके मंडल के लेखकों ने उसी परम्परा को आगे बढ़ाया। भारतेन्दु जी बँगला से प्रभावित थे। उनका 'विद्यासुंदर' नाम का पहला नाटक बँगला का अनुवाद था। संस्कृत-नाटकों के अनुवाद भी उन्होंने किये थे, जैसा कि 'मुद्राराक्षस' से प्रकट होता है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' आदि नाटकों से ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृत का आधार लेकर नाटक रचने की ओर भी उनका ध्यान गया था। साथ ही 'भारत-दुर्दशा', 'नीलदेवी' आदि सामाजिक-राजनीतिक विचार-धाराओं को व्यक्त करने वाले सामयिक और मौलिक नाटक भी उन्होंने लिखे थे। तात्पर्य यह है कि भारतेन्दु-काल नाटक का प्रयोगकाल था जिसमें दिशा स्थिर नहीं हो पाई थी। उनके बाद बंगाल में द्विजेन्द्रलाल राय का प्रभाव बढ़ा और हिंदी वालों का बँगला के प्रति विशेष आदर होने के कारण उनके नाटक

हिंदी में भी अनुवादित हुए। परिणाम हुद हुआ हिंदी में 'राय' युग का ऐसा प्रभाव पड़ा कि भारतेन्दु युग को भी लोग भूल से गए। इसका कारण बंगालियों की भावुकता थी। भारतेंदु युग में मानसिक द्वन्द्व और संघर्ष का अभाव था। राय महोदय ने अंग्रेजी के अध्ययन से अन्तर्द्वन्द्व पूर्ण नाटकों का प्रचलन बँगला में भी किया। उनमें स्वतः भावुकता उमड़ पड़ी। बाह्य घटनाओं के साथ आन्तरिक वृत्तियों का जो परस्पर संघर्ष उनके नाटकों में व्यक्त हुआ वह कुछ तो नवीनता के कारण और कुछ स्वाभाविकता के कारण शीघ्र ही हिंदी में ग्राह्य हो गया और 'राय' के नाटकों के अनुवाद हिंदी में धड़ाधड़ होगए। दूसरी ओर रंगमच पर, जिसकी व्यवस्था पारसी कम्पनियाँ किया करती थीं, बेताब और राधेश्याम कथावाचक के नाटकों की धूम मची थी। द्विजेंद्रलाल राय के नाटक अनुवाद थे और वे हिंदी साहित्य की निधि नहीं कहे जा सकते थे। पारसी रंगमंच पर खेले जाने वाले नाटक वैसे ही साहित्यिकता की कोटि में न आते थे। इस प्रकार हिंदी-साहित्य नाटक की दृष्टि से दरिद्र था और भारतेन्दु की भावुकता और राष्ट्रीय चेतना के बाद नाटक में गंभीरता और सार्वभौमिकता के तत्त्वों की बड़ी आवश्यकता थी। कांग्रेस के उदय और आर्य समाज के उत्थान ने उस आवश्यकता को और भी तीव्र कर दिया था। ऐसी ही अभाव-ग्रस्त परिस्थितियों में प्रसाद जी ने नाटक-रचना आरम्भ की।

जैसा कि अभी-अभी हमने कहा है प्रसाद जी का युग राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक और धार्मिक उथल-पुथल का था। आर्य-समाज के उत्थान और कांग्रेस के उदय ने हमें इस बात के लिए बाध्य किया था कि हम अपनी संस्कृति और राष्ट्रीयता के

विषय में गंभीरता से सोचें। कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त ने 'भारत-भारती' में 'हम कौन थे, क्या हो गए हैं और क्या होंगे अभी' लिखकर इसी भावना को व्यक्त किया था। उस समय हमें अपनी स्थिति पर गंभीरता से विचार करना था। उस समय कोई हल सूझता न था। तात्कालिक हल पर विश्वास भी नहीं किया जा सकता था। प्रसाद जी ने इसी लिए अतीत की ओर देखा। पददलित जाति के लिए अतीत बड़ा आकर्षक होता है—विशेष रूप से तब जब कि वह अतीत वास्तव में मधुर और गौरवशाली रहा हो। अतीत का भी प्रसाद जी ने वह खंड लिया, जो भारतीय इतिहास में स्वर्ण काल कहा जाता है। परीक्षित और जनमेजय से लेकर हर्षवर्धन तक का काल वह काल है, जिसमें भारतीयों ने अपने उत्कर्ष का उज्ज्वलतम रूप देखा। उस काल की एक विशेषता है। जहाँ इस काल में साहित्य, कला, ज्ञान, विज्ञान आदि का चरम विकास हुआ, वहाँ राजनीतिक उथल-पुथल भी अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी। राजनीतिक ही नहीं धर्मों—वैदिक, बौद्ध, ब्राह्मण आदि—का संघर्ष भी उस काल में भयंकर रूप ले चुका था। इतना होने पर भी भारत की भारतीयता का विकास इसी काल में हुआ था, उसकी सांस्कृतिक एकता का आयोजन इसी संघर्ष-काल में हुआ था। प्रसाद जी का अपना युग भी राजनीतिक उथल-पुथल का युग था, उसमें भी हिन्दू-मुस्लिम का प्रश्न उग्र रूप ले चुका था, उसमें भी कला और साहित्य के नवोन्मेष के लिए चिन्ता थी। इस प्रकार प्रसाद के लिए यह स्वाभाविक था कि वे उस काल की ओर देखते। एक दूसरा कारण भी इसका था और वह यह कि प्रसाद जी मूलत

दार्शनिक थे और प्राचीन साहित्य और इतिहास का उन्होंने गहरा अध्ययन किया था। परिणाम-स्वरूप उनकी वृत्ति चिंतनशील हो गई, वे गंभीर बन गए। शैवागम के आनंद की उपासना से उनकी गंभीरता और शालीनता में वह शक्ति भी आ गई थी कि संघर्ष का विष पीकर भी वे हँसते-हँसते जीवन का खेल खेल सकें। उथल-पुथल से घबराना उन्होंने नहीं सीखा था। यही नहीं, वे उस उथल-पुथल को चुनौती देने की शक्ति रखते थे। उनका विचार था कि अखंड भारतीयता का सांस्कृतिक पुनरुत्थान यदि संभव है तो प्राचीन भारतीयता के उज्ज्वलतम उदाहरणों को ही भारतीयों के सम्मुख रखना चाहिए। अध्ययन से वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचे थे। इसी लिए राय महोदय के ग्रहण किए हुए मुस्लिम युग को उन्होंने नहीं अपनाया। वे जानते थे कि इस युग में विलास ही विलास, भावुकता ही भावुकता, मनोरंजन ही मनोरंजन है, जीवन की आनंददायिनी नैतिकता, विवेक और चिंतन उसमें नहीं है। फिर मुस्लिम युग से आज तक का भारत पराधीनता और पराजय के अभिशापों का भारत है, उसमें उन्मुक्त जीवन के विकास के चिह्न नहीं है। ऐसे काल को लेकर वे क्या नवीनता दिखा सकते थे। उनके बाद भी हिंदी के प्रसिद्ध नाटक-कार श्री हरिकृष्ण प्रेमी ने मुगल-काल को अपने नाटकों का विषय बनाया और हिंदू-मुस्लिम ऐक्य के तत्त्वों की छान-बीन कर ऐसी कथायें ली जहाँ ये दोनों संस्कृतियाँ एक होकर भारतीयता की अखण्ड चेतना की रक्षा में सहायक हो सकती हैं और धर्म के आधार को छोड़कर मानवता के आधार पर एक राष्ट्र के अंग होने के नाते से परस्पर मेल मिलाप से रह सकती हैं, परन्तु उनमें वह शक्ति, वह

तेज और वह विशदता नहीं आ पाई, जो प्रसाद में है। उसका कारण यह नहीं है कि प्रेमी जी में कला या प्रतिभा की कमी है। नहीं, प्रेमी जी की नाट्यकला अत्यंत उत्कृष्ट है—साहित्यिक दृष्टि से भी और रंगमंच की दृष्टि से भी। परन्तु साहित्यिकता और रंगमंचीय अनुकूलता के अतिरिक्त श्रेष्ठ साहित्य में जो 'संदेश' निहित होता है वह उनके नाटकों में नहीं है। उनका युग इसके लिए उत्तरदायी है। जिस युग को लेकर उन्होंने अपनी नवीन भावना का सूत्र-पात किया है वह भावना स्वाभाविक न होकर ऊपर से लाई गई सी है और इसका प्रमाण यह है कि समग्र रूप में आज भी हिंदू-मुस्लिम ऐक्य का वह विधान पूर्ण नहीं हो पाया है। यही देखकर संभवतः श्री उदयशंकर भट्ट को वैदिक कालीन और पौराणिक नाटक लिखने की चेतना जाग्रत हुई, जिसमें वे मानवता का निसर्ग सुन्दर रूप प्रस्तुत कर सकें। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रसाद जी ने मुगल काल को न लेकर बौद्धकाल को इस लिए अपनाया है कि वहाँ भारत भारत है, वहाँ हम हम हैं।

यहाँ एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। प्रसाद जी ने इस ऐतिहासिक काल को ज्यों-का-त्यों नहीं ग्रहण किया। वेद, पुराण, काव्य इत्यादि का अध्ययन करके उन्होंने अपने ऐतिहासिक नाटकों की कथाओं के रूप जोड़े हैं। गंभीर अध्ययन और मनन के बाद वे जिस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं, उसे ही उन्होंने ऐतिहासिक नाटकों के लिए आधार बनाया है। उनकी कथायें इतिहास से कितने ही स्थलों पर नहीं मिलतीं; इसका कारण यही उनका मौलिक स्वरूप है। कल्पना का भी उपयोग उन्होंने किया है परन्तु वह केवल सामाजिक वातावरण की सृष्टि के लिए या धार्मिक भावना के प्रत्यक्षीकरण

के लिए। ऐसा नहीं हुआ कि उनकी कल्पना इतिहास से दूर जा पड़ी हो। उस कल्पना द्वारा प्रसाद जी ने इतिहास के युग को मूर्तिमान किया है। तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक तथा साहित्यिक चेतना के लिए उन के काल्पनिक पात्रों ने ऐसी परिस्थितियों का निर्माण कर दिया है कि उस काल का एक रंगीन चित्र हमारी आँखों के सम्मुख खिंच जाता है। ऐतिहासिक खोजों में प्रसाद जी ने जो श्रम किया था वह बड़े बड़े इतिहासज्ञों की राय में उनकी एक अलग देन है।

इतना कह चुकने के बाद अब हम यह देखें कि प्रसाद ने हमें क्या दिया, कितना दिया और कैसा दिया? प्रसाद ने हमें जो रचनाएँ दी हैं वे काल क्रम के अनुसार नीचे दी जा रही हैं।

'सज्जन' (१६१०-११), 'कल्याणी-परिणय' (१६१२), 'करुणालय' (१६१२), 'प्रायश्चित्त' (१६१४), 'राज्यश्री' (१६१५), 'विशाख' (१६२१), 'अजातशत्रु' (१६२२), 'कामना' (१६२३-२४) 'जनमेजय का नागयज्ञ' (१६२६), 'स्कन्दगुप्त' (१६२८), 'एक घूँट' (१६३०), 'चंद्रगुप्त' (१६३१) और ध्रुवस्वामिनी' (१६३३)

ऊपर जो सूची प्रसाद के नाटकों की काल क्रम के अनुसार दी गई है, उसे यदि हम लेखक के विकास क्रम से देखें तो उसके निम्न लिखित भेद हो सकते हैं :—

१—प्रारंभिक प्रयोग-कालीन नाटक जिनमें 'सज्जन', 'कल्याणी-परिणय', 'करुणालय' और 'प्रायश्चित्त' की गणना की जा सकती है।

२—लेखक की कला के विकसित सिद्धान्तों और विचार-धाराओं को व्यक्त करने वाले नाटक, जिनमें 'राज्यश्री', 'विशाख', 'अजातशत्रु',

'जनमेजय का नागयज्ञ', 'स्कन्दगुप्त', 'चंद्रगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' को लिया जा सकता है। इसी वर्ग के नाटकों में लेखक की ऐतिहासिक खोजों और नाट्य-कला के स्वनिर्मित सिद्धान्तों की झलक मिलती है।

३—युग की समस्याओं को रूपक के आवरण में सम्मुख रखनेवाले नाटक जिनमें 'कामना' और 'एक घूँट' को सम्मिलित किया जा सकता है।

प्रथम वर्ग में जिन चार नाटकों को लिया गया है वे लेखक के मानसिक विकास के उस स्तर की ओर संकेत करते हैं, जब वह नाटक लिखने के लिए कभी प्राचीन पद्धति को अपनाता था, कभी नवीन पद्धति को और कभी दोनों के सम्मिलित रूप की ओर झुकता था। कथायें भी वह कभी किसी काल से चुनता था कभी किसी काल से। मानो कवि की नाट्यकला अपनी दिशा खोज रही है और वह सब ओर उत्सुकता से देखती हुई आगे बढ़ने को व्याकुल है। उदाहरण के लिए 'सज्जन' को लीजिए। यह उनका प्रथम नाटक है। इसकी रचना प्राचीन नाट्य शैली के आधार पर हुई है। नान्दी और सूत्र-धार का विधान है और अन्त में भरतवाक्य भी दिया गया है। पारसी स्टेज की भाँति गद्य के साथ पद्य जुड़ा हुआ है। कथा का अंश महाभारत से लिया गया है और उसका सम्बन्ध पाण्डवों के अज्ञात-वास से है, जहाँ दुर्योधन पाण्डवों को तंग करने के लिए उत्सव मनाने आता है और मृगया के प्रसंग में गंधर्व चित्रसेन से उसकी लड़ाई होती है। युधिष्ठिर अपनी सज्जनता प्रदर्शित करने के लिए अर्जुन को चित्रसेन से दुर्योधन को छुड़ा लाने के लिए भेजता है, जो धर्मराज के चरित्र को देवोपम बना देता है। 'प्रायश्चित्त' की शैली 'सज्जन' से सर्वथा विपरीत है। उसी काल की रचना होने पर

भी न उसमें नान्दी-पाठ है, न सूत्रधार और न भरतवाक्य के ही दर्शन होते हैं। यही नहीं उसमें पद्यात्मक संवादों का भी सर्वथा अभाव है। हाँ, संस्कृत-नाटकों जैसी अलौकिकता बनाए रखने के लिए इसमें आकाशवाणी का आयोजन अवश्य किया गया है। इसकी एक विशेषता यह है कि इसकी भाषा पात्रों की सामाजिक स्थिति के अनुसार रखी गई है। 'सज्जन' की कथा महाभारत से ली गई थी, जब कि इसकी कथा भारतीय इतिहास की वह किंवदन्ती है, जिसमें जयचन्द अपने द्वेष-वश अपने जामाता पृथ्वीराज को मार देता है और प्रसन्नता से फूला नहीं समाता तथा एक आकाशवाणी द्वारा भर्त्सना का पात्र होने पर और निर्जन शून्य स्थान में अपनी पुत्री संयोगिता की मूर्ति के देखने पर अर्द्ध-विक्षिप्तावस्था में ही सहसा रण से लौट आता है। साथ ही गौरी के आक्रमण की बात सुनकर सेना का भार तो अपने पुत्र तथा मत्री को सौंप देता है और स्वयं गंगा में डूब कर जीवन-लीला समाप्त कर बैठता है। 'कल्याणी परिणय' में भी नांदीपाठ और भरत-वाक्य का आयोजन है और सर्वत्र पद्य का प्रयोग किया गया है। इसमें नवीनता यह है कि इसमें प्रसंगानुसार गानों का समावेश भी कर दिया गया है। यह 'प्रायश्चित्त' से पहले की रचना है अतः इसमें 'सज्जन' की कला का रूप ही अधिक है। कथा इसकी मौर्य-काल की है, जिसमें सिकन्दर के सेनापति सेल्यूकस की पराजय और उसकी पुत्री कल्याणी का चन्द्रगुप्त से विवाह-सम्बन्ध वर्णित है। इसी कथा पर आगे चलकर 'चन्द्रगुप्त' जैसी महान् कृति का निर्माण हुआ है। 'करुणालय' गीतिनाट्य शैली पर लिखा हुआ दृश्य काव्य है। इसकी रचना अतुकान्त मात्रिक छन्द में हुई है, जिसमें वाक्य की समाप्ति पर विराम चिह्न लगाए गए हैं। यह

आरंभिक काल का नया प्रयोग है। इसकी कथा ऐतिहासिक न होकर पौराणिक है, जिसमें महाराज हरिश्चन्द्र का अपने सेनापति ज्योतिष्मान के साथ नौका-विहार करना, आकाशवाणी द्वारा उनको रोहिताश्व की बलि चढ़ाये जाने की याद दिलाना, रोहिताश्व का वन जाना और अजीगर्त ऋषि के पुत्र शुनःशेप को बलि के लिए प्राप्त करना, विश्वामित्र का अपने पुत्रों सहित यज्ञ मण्डप में पहुँचना, दासी सुव्रता का वहाँ पहुँचना और यह भेद खुलने पर कि वह विश्वामित्र की पत्नी है और शुनःशेप विश्वामित्र द्वारा उत्पन्न उस का पुत्र, उस का दासी कर्म से मुक्त होना आदि बातों का वर्णन है।

सारांश यह है कि इन आरंभ काल की चारों कृतियों में कथायें महाभारत (सज्जन) भारतीय इतिहास के पतन काल (प्रायश्चित्त) और उत्थान काल (कल्याणी परिणय) तथा पौराणिक काल (करुणालय) से ली गई हैं, जिन में सीधी-सादी घटनाएँ हैं और नाट्य-कला के लिए अपेक्षित भंगिमाओं का अभाव है। उनमें न चरित्र के लिए विकास की गुंजायश है न आकर्षण पैदा करने के लिए कल्पना का समावेश करने का अवकाश। शैली भी भिन्न-भिन्न प्रकार की है। एक वाक्य कहें तो अभी अस्थिरता ही बनी है। हाँ, इस रचना-वैविध्य में लेखक की प्रतिभा और अध्ययन दोनों के स्पष्ट संकेत अवश्य मिल जाते हैं और यह आशा होने लगती है कि भविष्य में स्थिरता प्राप्त करने पर लेखक की कला विकास पर पहुँचेगी और वह हिन्दी का भण्डार भरेगी।

दूसरे वर्ग की रचनाओं को देख कर हमारी पहले वर्ग की आशा पूरी हो जाती है। इस वर्ग की भी कुछ प्रारम्भिक रचनाएँ यद्यपि एक दम प्रथम श्रेणी की नहीं हो पाईं तथापि वे प्रथम और द्वितीय वर्ग के बीच की कड़ी बन जाती हैं। 'राज्यश्री' और 'विशाख' को हम इस

दृष्टि से ले सकते हैं। ये दोनों कृतियाँ लेखक के दृष्टि-कोण, उस की नाट्य कला के प्रति अभिरुचि और ऐतिहासिकता के भीतर भारतीय संस्कृति के शोभामय रूप आयोजन करने की वृत्ति की सूचना देती हैं। 'राज्यश्री' की रचना कवि बाण के हर्ष-चरित और चीनी यात्री सुएनच्वाँग के विवरण के अनुसार की गई है। इसमें केवल दो ही पात्र काल्पनिक हैं—विकटघोष और सुरमा। इसका उद्देश्य राज्यश्री के आदर्श चरित्र का चित्रण करना है। इसके प्रथम संस्करण में नान्दी पाठ और भरत वाक्य रखे गए हैं। प्रथम अंक में ग्रहवर्मा की बातचीत भी 'सज्जन' की भाँति पद्यात्मक है। ये पद्य ब्रज भाषा में न होकर खड़ी बोली में हैं। इसके विपरीत दूसरे संस्करण में लेखक ने दृश्य और अंकों की संख्या बढ़ा दी है। विकट घोष (शांति भिक्षु), सुरमा और सुएनच्वाँग बाद में जोड़े गए पात्र है। इसमें ये जोड़े हुए पात्र अधिक सबल और स्वस्थ व्यक्तित्व रखते हैं। इसमें से नाँदी-पाठ को हटा दिया गया है। इस प्रकार इस नाटक में परिवर्तन करके आरंभ की अविकसित कला को निखार दिया गया है।

'विशाख' से लेखक का मूल रूप सामने आता है। इसी नाटक से उनका ऐतिहासिक अन्वेषण आरम्भ होता है। इस नाटक की कथा कल्हण की राजतरंगिणी के आरंभिक अंश से ली गई है। प्रसाद जी ने प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध किया है कि यह घटना १८०० वर्ष पहले की है। इसमें गुरुकुल से शिक्षा पाए ब्रह्मचारी विशाख का काश्मीर नरेश नरदेव के राज्य में भ्रमण करना, नाग सरदार सुश्रवा की कन्या चन्द्रलेखा से भेंट होने पर उसे इस बात का पता लगना कि उसकी भूमि छीनकर राज्य ने बौद्ध विहार को दे दी है, कानीर

विहार के भिक्षु सत्यशील का चन्द्रलेखा पर मुग्ध होना तथा विशाख द्वारा चन्द्रलेखा का सत्यशील से छुड़ाया जाना, उसके बाद नरदेव का चन्द्रलेखा पर मोहित होना, प्रजा के विद्रोह से राजा का सुधार तथा चन्द्रलेखा और विशाख का विवाह होना आदि का वर्णन किया गया है। इसमें कविता द्वारा संवाद का वही ढंग है जो प्रारंभिक नाटकों में था। कथा-विधान भी कहानी की भाँति सीधी रेखा में आयोजित है। इसकी विशेषता और महत्त्व केवल इसमें है कि यहाँ प्रसाद का अन्वेषण आरंभ होता है और स्वतंत्र-चिंतन की झलक मिलने लगती है।

'राज्यश्री' और 'विशाख' को छोड़ कर शेष नाटकों में प्रसाद की कला अपने चरम विकसित रूप में दिखाई देती है। 'अजातशत्रु' काल-क्रम से सबसे पहले आता है। इसी से प्रसाद के नाट्य-कला संबंधी सिद्धान्तों का आरंभ होता है। 'अंतर्द्वन्द्व' का चित्रण जो पाश्चात्य नाटकों की मूल विशेषता है और जिससे कथा में सजीवता, पात्रों में शक्ति और रचना-शैली में सौंदर्य आता है, 'अजातशत्रु' में ही सर्वप्रथम हुआ है। भारत का प्रामाणिक इतिहास भी यहीं से माना जाता है। इस नाटक में कोशल, कौशाम्बी और मगध के राज-परिवारों के आन्तरिक संघर्ष का चित्रण मिलता है। मगध-सम्राट् बिम्बिसार की वासवी और छलना दो रानियाँ हैं और अजातशत्रु पुत्र है। अजातशत्रु अपनी माता छलना द्वारा कुचक्र में पड़ता है और बिम्बिसार और वासवी को महात्मा बुद्ध के उपदेश से राज्य से विरत हो जाना पड़ता है। वासवी अपने भाई कोशल-नरेश से मिले काशी प्रान्त की आय अपने लिए चाहती है जिसे अजातशत्रु पसंद नहीं करता। इसी को लेकर मगध और कोशल का संघर्ष होता है। मगध में ही पिता

पुत्र का विरोध नहीं, वह कोशल में भी है। कोशल-नरेश प्रसेनजित् का पुत्र विरुद्धक भी पिता के विरुद्ध जाता है और मल्लिका के पति कोशल-सेनापति बंधुल की हत्या करता है। उद्देश्य मल्लिका को आकर्षित करना और अजातशत्रु का सहायक होना। कौशांबी में वासवी की पुत्री पद्मावती है, जो उदयन की रानी है। उसकी दो सौतें और हैं। मागंधी षड्यंत्र से पद्मावती को मरवाना चाहती है परंतु भेद खुलने पर भाग जाती है और श्यामा वेश्या के रूप में काशी में रहने लगती है, जहाँ विरुद्धक शैलेंद्र डाकू के रूप में एक दिन उसका गला दबाकर भाग जाता है। श्यामा को भगवान् बुद्ध द्वारा सांत्वना मिलती है और वह भिक्षुणी बनती है। प्रसेनजित् और उदयन अब मगध पर आक्रमण करते हैं और अजाजतशत्रु को बंदी बना लेते हैं और उसे कोशल भेजते हैं, जहाँ बंदीगृह में कुमारी वाजिरा उस पर आसक्त हो जाती है। वासवी के प्रयत्न से अजातशत्रु मुक्त होता है और वाजिरा से उसकी शादी होती है। कोशल-सेनापति की हत्या में कोशल-नरेश प्रसेनजित् का भी हाथ था पर वे सेनापति की पत्नी मल्लिका द्वारा क्षमा पाते हैं और विरुद्धक तथा उसकी माता भी राजा से क्षमा दान प्राप्त करते हैं। पुत्र जन्म पर अजातशत्रु को पितृ-स्नेह का अनुभव होता है और तब अपने पिता बिंबिसार से क्षमा माँगता है और इस तरह गृह-कलह शांत होता है।

पारिवारिक संघर्ष के साथ इसमें बुद्ध की करुणा का अजस्र स्रोत सर्वत्र प्रवाहित है। तीनों कथाओं को एक में मिलाकर प्रसाद ने जीवन में पहली बार नाटकीय विकास का संकेत दिया है और चरित्रों की सजीव सृष्टि में अपनी कला को संचरण करने का अवसर दिया है। यह बौद्ध धर्म के विकास की आरंभिक अवस्था का चित्र है, जहाँ

हिंसा और पशुता पर करुणा और मानवता ने विजय पाई है।

'जनमेजय का नागयज्ञ' कलियुग के आरंभ काल की पौराणिक घटना पर आधारित कृति है। जब भगवान् कृष्ण के आदेशानुसार अर्जुन ने खांडव-वन में आग लगाकर नागों को भस्म कर दिया था तब नागरराज तक्षक द्वारा अर्जुन के पुत्र परीक्षित की हत्या कर दी गई थी और परीक्षित का पुत्र जनमेजय उसका बदला लेना चाहता है। उसके आगे कैसे गुरु-कुल में पढ़े उत्तंक से गुरु-पत्नी, उसे अपनी वासना का शिकार न बना पाने पर रानी का मणि कुंडल मँगाती है, कैसे उत्तंक मणि कुंडल रानी वपुष्टमा से प्राप्त करता है, कैसे कश्यप से सुझाए जाने पर तक्षक उस कुंडल को उत्तंक की हत्याकर प्राप्त करना चाहता है, कैसे वासुकि और सरमा से रक्षित उत्तंक उस कुंडल को गुरुपत्नी को देता है, कैसे शिकार खेलते समय जनमेजय द्वारा जरत्कारु ऋषि की हत्या होने पर प्रायश्चित्त स्वरूप अश्वमेध यज्ञ का निश्चय होता है, कैसे राजा तक्षक की कन्या मणिमाला पर मोहित होता है, और कैसे उत्तंक से सुझाए जाने पर नागवंश का नाश करना चाहता है, कैसे कश्यप के स्थान पर सोमश्रुवा के पुरोहित होने पर तक्षक और कश्यप राजा के विरुद्ध षड्यंत्र करते हैं, कैसे जरत्कारु ऋषि की पत्नी नाग सरदार वासुकि की बहन मनसा, वासुकि की यादवी पत्नी सरमा और उसके दोनों पुत्र षड्यंत्र में सम्मिलित हो जाते हैं, कैसे नागों द्वारा रानी और अश्वमेध यज्ञ का घोड़ा पकड़ा जाता है, कैसे युद्ध के बाद तक्षक पकड़ा जाता है, कैसे राजा ब्राह्मणों के निर्वासन की आज्ञा देते हैं और नागों की आहुति देना निश्चित करते हैं, कैसे वेद व्यास रानी के पातिव्रत का प्रमाण देते

हैं और कैसे अंत में जनमेजय और मणिमाला का विवाह होता है आदि प्रसंगों को लेकर नाटक का भवन खड़ा किया गया है।

यह आर्य और नाग जाति के संघर्ष की कहानी है। यद्यपि यह कवि के प्रौढ़ काल की रचना है तथापि चित्रण को जितना महत्त्व दिया गया है उतना नाटक के अन्य अंगों को नहीं। हो सकता है कि लेखक को कथा के संभालने में ही इतनी कठिनाई हुई हो कि वह इस ओर ध्यान न दे पाया हो। जो कुछ भी हो चरित्र चित्रण और संघर्षमय वातावरण की सृष्टि करने की अद्भुत क्षमता इस नाटक से प्रकट हुए बिना नहीं रहती।

हम कह चुके हैं कि कवि को संघर्ष ही अधिक प्रिय है, अतएव उसने अपने नाटकों के पात्रों का संगठन भी इसी तत्त्व पर किया है। इतिहास का वही काल चुना है जहाँ संघर्ष हो। यह 'स्कन्दगुप्त' में जितनी श्रेष्ठता से व्यक्त हुआ है, अन्य नाटकों में नहीं। यह प्रसाद जी का सर्वश्रेष्ठ नाटक है। उन्हें स्वयं यह बहुत अच्छा लगता था। घटनाएँ कुसुमपुर और मालवा में घटती हैं। कुसुमपुर में कुमारगुप्त विलासी जीवन बिताता है। युवराज स्कन्दगुप्त उत्तराधिकार नियम की अव्यवस्था के कारण उदासीन है। उसी समय विदेशियों के आक्रमण मालव राज्य पर होते हैं। स्कन्दगुप्त देश-सेवा का व्रत लेता है और शत्रुओं को हरा देता है। राजधानी में सम्राट् के निधन से गृह-कलह ज़ोर पकड़ती है। अवसर पाकर हूण आक्रमण करते हैं पर स्कन्दगुप्त, मालव-नरेश बन्धुवर्मा की सहायता से सामना करता है। उसे मालव राजमुकुट भी धारण करना पड़ता है। विमाता अनन्तदेवी और उस के पुत्र पुरुगुप्त के षड्यन्त्रों का भी सामना करना पड़ता है। सेनापति भटार्क की नीचता से उसे कुभा के रणक्षेत्र में बड़ी कठिनाई

का सामना करना पड़ता है; विशेष कर नदी का बाँध टूटने से, जब कि उसकी सेना नदी में बह जाती है। अन्त में वह अपने पराक्रम से हूणों को पराजित कर देश को स्वतन्त्र करता है। इसमें अनन्तदेवी, पुरगुप्त और सेनापति भटार्क के षड्यन्त्र; मंत्री पृथ्वीसेन, दण्ड नायक और महाप्रतिहार का विद्रोह शान्त न कर सकने पर आत्म-हत्या करना, स्कन्दगुप्त द्वारा अनन्तदेवी के षड्यन्त्र से देवकी की रक्षा, विजया और देवसेना का द्वन्द्व, विजया का स्कन्दगुप्त से प्रेम-सम्बन्धी तिरस्कार और देवसेना तथा पर्णगुप्त का देश के लिए भीख माँगकर जागृति का संदेश फैलाना आदि ऐसी घटनाएँ हैं, जिनमें प्रसाद जी ने तत्कालीन इतिहास के साथ आधुनिकता कूट-कूट कर भर दी है। इसका लक्ष्य है कौटुम्बिक कलह की शान्ति और राष्ट्र-गौरव की रक्षा। तभी तो स्कन्दगुप्त विजयी होकर भी आजीवन अविवाहित रहता है।

'चंद्रगुप्त' प्रसाद का दूसरा नाटक है, जिसकी अधिक चर्चा हुई है। इसके कई कारण हैं। सबसे पहली बात तो यह है कि यह चार अंक में समाप्त हुआ है, जब कि प्रसाद के अन्य सभी नाटक तीन या पाँच अंकों में समाप्त हुए हैं। दूसरे इसमें तीन प्रमुख घटनाएँ हैं—सिकन्दर का आक्रमण, नन्द-वंश का नाश और सिल्यूकस की पराजय। 'मुद्राराक्षस' में केवल नन्दवंश का नाश और मौर्य-साम्राज्य की स्थापना प्रदर्शित है और 'कल्याणी-परिणय' में सिल्यूकस की पराजय वाला अंश नाटक का आधार है। परन्तु 'चंद्रगुप्त' में सिकंदर का आक्रमण और मिला दिया गया है। परिणाम यह हुआ है कि देश-काल की एकता को बनाए रखने में लेखक असमर्थ हो गया है और कथानक विकसित होकर मगध से गान्धार तक फैल जाता है।

इसमें २५ वर्षों का इतिहास लेकर लेखक ने अपने चरित्रों का विकास किया है। कुछ लोगों की सम्मति में यह अनुचित है, क्योंकि इसमें संकलन-क्रम का ध्यान नहीं रखा गया है; परन्तु हमारा कहना यह है कि जब हम नाटक पढ़ते हैं तब हमें वह अन्तर जान ही नहीं पड़ता। इसलिए इसे लेखक का दोष न कह कर उसका गुण ही समझना चाहिए कि उसने ऐसा कार्य कर दिखाया जो असंभव था। नाटक में घटनाएँ ऐसी गुँथी हुई हैं कि ऐतिहासिक दूरी की ओर ध्यान ही नहीं जा सकता। इसलिए प्रसाद की इस कुशलता को दोष बताना लकीर पीटने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

इस नाटक में चाणक्य का विशेष स्थान है। वह धुरी का काम करता है। नाटक में भाग लेने वाले प्रमुख पात्रों का पारस्परिक परिचय तक्षशिला गुरुकुल में ही हो जाता है। चन्द्रगुप्त (मागध), सिंहरण (मालव), आम्भीक (गान्धार), अलका और चाणक्य सब वहीं के परिचित हैं। मगध-नरेश द्वारा चाणक्य तथा चन्द्रगुप्त की बताई यवनों के प्रतीकार की विधि को अस्वीकार कर देने से तथा चाणक्य की शिखा खींची जाने से चाणक्य ने जो नन्दवंश के नाश की प्रतिज्ञा की थी, वही नाटक के भविष्य की घटनाओं का मूल-बीज है, जो चाणक्य को षड्यन्त्रों की ओर ले जाता है। आम्भीक सिकंदर का पक्ष लेता है, पर्वतेश्वर उसके विरुद्ध रहता है। पौरव और सिकन्दर में संधि हो जाने पर चाणक्य जाल रचने जाता है। मालवों और शूद्रकों की सहायता से चन्द्रगुप्त सिकन्दर को मालव दुर्ग में घायल अवस्था में घेर लेता है। सिंहरण तथा अलका विवाह-बंधन में बँध जाते हैं। उधर कल्याणी, मालविका और कार्नेलिया तीनों चन्द्रगुप्त को चाहती हैं और चन्द्रगुप्त भी उन्हें चाहता है।

चाणक्य मगध में विप्लव की तैयारी करने में लगा है। वह पर्वतेश्वर को आत्म-हत्या से बचाकर आधे मगध का लोभ देकर अपनी ओर कर लेता है और राक्षस को भी छल से रोके रखता है। उसकी कूटनीति सफल होती है और राक्षस और मालविका विवाह के समय नंद द्वारा बन्दी किये जाते हैं, जिससे उत्तेजित होकर प्रजा राज-सभा में पहुँचती है और अन्त में शकटार द्वारा नन्द का वध होता है। कल्याणी द्वारा पर्वतेश्वर का भी वध होता है। परिषद् ने चन्द्रगुप्त को राज दे दिया था परन्तु राक्षस उसे मारने का षड्यंत्र रचता है। सौभाग्य से चन्द्रगुप्त के स्थान पर मालविका की हत्या हो जाती है। चन्द्रगुप्त कुछ दिन बाद सिल्यूकस को आंभीक की सहायता से हरा देता है। चन्द्रगुप्त का कार्नेलिया से विवाह हो जाता है और राक्षस को मंत्री बनाकर चाणक्य वन का मार्ग लेता है।

इतनी लंबी अवधि की घटनाओं को एक साथ मिलाकर प्रसाद जी ने देश के भीतर होने वाले तथा विदेशी संघर्षों का ऐसा रूप खड़ा किया है कि तत्कालीन राजनीतिक अवस्था ज्यों की त्यों सामने आ जाती है। हत्याओं और षड्यंत्रों के बीच भी इसमें भारतीयता की उज्ज्वल झलक मिलती है।

'ध्रुवस्वामिनी' प्रसाद जी का अंतिम नाटक है। इसमें कुल तीन अंक हैं और हर अंक में एक ही दृश्य है। घटनाएँ और कार्य-व्यापार एक ही स्थान पर होते हैं; 'चन्द्रगुप्त' की भाँति विभिन्न स्थानों पर नहीं। अतः नाटक गठा हुआ है और किसी भी दृष्टि से देखने पर सफल दिखाई देता है। सबसे बड़ी बात है इसकी अभिनेयता। साहित्यिकता और अभिनेयता दोनों का जैसा सुन्दर समन्वय इस

नाटक में है वैसा प्रसाद जी के अन्य नाटकों में नहीं। ध्रुवस्वामिनी की स्थिति से इसमें समस्या को प्राधान्य देकर यूरोप के समस्या नाटकों की कला का भी समाहार 'ध्रुवस्वामिनी' में खूब किया गया है और प्रसाद जी को इसमें बड़ी सफलता मिली है। इसमें सम्राट् समुद्रगुप्त द्वारा चन्द्रगुप्त के उत्तराधिकारी चुने जाने और चन्द्रगुप्त द्वारा पिता के निधन पर अपने बड़े भाई रामगुप्त को राज्य सौंपने-के साथ ही रामगुप्त की विलासिता और उसके द्वारा महादेवी ध्रुव-स्वामिनी के बन्दी होने का वर्णन है। ध्रुवस्वामिनी तिरस्कृत होकर चन्द्रगुप्त की ओर झुकती है। शक आक्रमण के समय जब रामगुप्त का शिविर चारों ओर से घिर जाता है और शकराज संधि में ध्रुवस्वामिनी को माँगता है तब रामगुप्त अपने मंत्री शिखरस्वामी के कहने से इस बात पर राज़ी हो जाता है। चन्द्रगुप्त महादेवी के वेश में जाकर शकराज को मार देता है। राजपरिषद् उसकी वीरता से अभिभूत होकर रामगुप्त के स्थान पर उसे ही राजा बनाती है और ध्रुवस्वामिनी उसकी रानी बनती है। रामगुप्त धोखे से चन्द्र-गुप्त को मारने का प्रयत्न करता है परन्तु स्वयं समन्तों द्वारा मारा जाता है। यों यह नाटक समाप्त होता है और प्रसाद जी भी इस नाटक के बाद कुछ नहीं लिखते। भारतीय संस्कृति के पतन की सूचना ही मानों रामगुप्त के जीवन से मिल गई है तब फिर वे और क्या लिखते!

इस प्रकार हम देखते हैं कि द्वितीय वर्ग के लिखे नाटक सभी ऐतिहासिक हैं और उनमें बौद्ध काल की छाप है। 'राज्यश्री' से लेकर 'ध्रुवस्वामिनी' तक लेखक की कला का क्रमिक विकास प्रदर्शित है। ऐतिहासिक अनुशीलन और कल्पना के प्रयोग से कथाओं को नवीन

रूप देने के साथ ही नाट्यकला में भी नवीनता है। पाश्चात्य नाट्य-प्रणाली के सिद्धांतों को, विशेष रूप से अन्तर्द्वन्द्व को अधिक महत्त्व दिया गया है परंतु आत्मा भारतीय ही रही है। सिद्धांतों में स्थिरता होने के कारण नाटकों की भाषा-शैली में भी स्थिरता आई है। एक बात और है कि लेखक ने इनमें से कई नाटकों में नये संस्करण होने पर परिवर्तन किया है; जैसे 'राज्यश्री', 'विशाख,' 'चंद्रगुप्त' आदि में। इसका उद्देश्य रचना की कमी को दूर करना है। दूसरे यह भी है कि लेखक इस काल की रचनाओं को ऐसा रूप देना चाहता था, जिसमें कोई दोष न रहे, इसलिए भी परिवर्तन हुआ है। प्रथम वर्ग के नाटकों से इस वर्ग के नाटकों की दूसरी विशेषता है चरित्र को प्रधानता देने की। घटनाएँ तो इतिहास की दृष्टि से स्वभावतः आ ही गई हैं परंतु उनको मिलाया ऐसा गया है कि पात्रों के चरित्रों का उतार-चढ़ाव भली प्रकार व्यक्त हो गया है। 'सज्जन' या 'कल्याणी-परिणय' की संस्कृत-प्रणाली या पद्यात्मक संवादात्मकता नहीं है और न अंक या दृश्यों के शास्त्रीय विभाजन की ओर ही अभिरुचि रखी गई है। लेखक ने कथावस्तु की भाँति शैली में भी पर्याप्त स्वतंत्रता बरती है और उसके नाटक लेखक के व्यक्तित्व की छाप लिये हिंदी नाटकों में एक नई शैली के जन्मदाता हो गए हैं।

प्रथम वर्ग में नाट्यकला के प्रयोग थे और द्वितीय वर्ग में उन प्रयोगों से आगे बढ़कर नाट्यकला के स्थिर सिद्धान्तों पर नवीन उद्भावनाएँ की गई हैं। इस द्वितीय काल के नाटक सभी ऐतिहासिक हैं अतः उनमें युग की संघर्षमयी अभिव्यक्ति अपरोक्ष रूप से हुई है। 'स्कन्दगुप्त,' चंद्रगुप्त' आदि में राष्ट्रीयता का जो स्वरूप है, वह आधुनिक भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के कितने ही सूत्रों को समेटे हुए है

परन्तु फिर भी इतिहास इतिहास है, उसमें सीधी राष्ट्रीय अभिव्यक्ति नहीं की जा सकती और न युग की वीभत्सता को ही चित्रित किया जा सकता है। इसके लिए प्रसाद ने अपने रूपक नाटक 'कामना' और 'एक घूँट' लिखे। 'कामना' के पात्र हाड़ मांस के न होकर केवल भावनाओं और विचारों के प्रतिनिधि हैं। इसमें सृष्टि के आदि से लेकर आधुनिक काल तक के समाज का विकास दिखाया गया है। इसकी कथा ऐसी है कि वह विश्व के लिए भी लागू हो सकती है और दासता की शृंखला में जकड़े हमारे भारत के लिए भी। कैसे प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण में पड़ा भोला देश धीरे-धीरे विलासिता और आत्म-विस्मृति की ओर बढ़ता गया और कैसे उसे अपने जीवन को संघर्षों में डालना पड़ा यही इसका प्रतिपाद्य विषय है। कथा इसकी बड़ी अद्‌भुत है। समुद्र तट पर स्थित फूलों के द्वीप में प्रकृति के अंचल में पली तारा की संतानें रहती हैं। वहाँ एक विदेशी युवक विलास आता है, जिसे देख कर फूलद्वीप की एक युवती कामना उसकी ओर झुकती है। विलास, युवती कामना को ही नहीं, सभी द्वीपवासियों को स्वर्ण और मदिरा की लालसा में डाल देता है। कामना और विलास के साथ लीला भी स्वर्ण चाहती है। उसका सम्बन्ध सन्तोष से निश्चित होगया है परन्तु कामना की इच्छा से वह विनोद से विवाह कर लेती हैं। कामना द्वीपवासियों की उपासना का नेतृत्व करती है और विलास नए शासन की व्यवस्था करता है, जिसमें विनोद सेनापति होता है। विवेक सबको समझाता है पर उसे पागल बताया जाता है। इसी बीच शान्तिदेव की हत्या इस लिए होती है कि उसके पास सोना बहुत है। हत्या के बाद अपराध होने लगते हैं। युवक शिकार जुआ और मदिरा के भक्त होने लगते हैं और इसी को वीरता का

नाम देकर सभ्यता कहा जाने लगता है। कामना रानी के नाम पर पवित्रता के लिए अविवाहित रहती है और विलास से विवाह नहीं करती। इसके विपरीत लालसा के साथ विलास का विवाह होता है। स्वर्ण के लिए युद्ध होते हैं और विलास इस सीमा तक बढ़ता है कि पिता पुत्र से मदिरा माँगने लगता है। इस स्थिति में वहाँ भूकंप आता है और सारा नगर नष्ट हो जाता है। विवेक की बातें लोगों को अब समझ में आती हैं। स्वर्णाभूषण और मदिरा के पात्र तोड़े जाते हैं, विलास और लालसा को द्वीप से भागना पड़ता है और कामना संतोष का हाथ पकड़ कर शान्ति पाती है।

यह कहानी वर्तमान सभ्यता पर एक कटु व्यंग है और सृष्टि के पतन के स्वरूप को स्पष्ट कर देती है। विवेक, संतोष, विनोद, विलास, लालसा, कामना, लीला आदि पात्रों द्वारा प्रसाद जी ने अपने समय की सभ्यता का खोखलापन दिखाया है, जो स्वर्ण और मदिरा पर आश्रित है। यदि भारत को फूलों का द्वीप और विलास को अंग्रेजों के प्रतिनिधि के रूप में लें तो भारत की दासता का भी इतिहास इसमें पूर्ण रूप से निहित मिलेगा।

'एक घूँट' में जीवन के दूसरे पहलू प्रेम को लिया गया है। जहाँ 'कामना' के पात्र वृत्तियाँ हैं वहाँ 'एक घूँट' के पात्र प्रकृति के उपकरण हैं। अरुणाचल आश्रम के सघन कुंजों में बैठी वनलता नेपथ्य में होते हुए गाने को सुनती हुई सोचती है कि रसाल उसे भूल गया। तभी रसाल आनन्द के स्वागत में होने वाले अपने व्याख्यान की सूचना देता है। आनन्द स्वच्छंद प्रेम का उपासक है। व्याख्यान के बाद चंदूल विदूषक अपने विवाहित जीवन की अच्छाइयाँ बताता है। झाड़ू वाला भी अपनी स्त्री के साथ आकर बंधन-

मय प्रेम की प्रशंसा करता है। अभावग्रस्त वनलता से आनन्द उसके प्रेम के प्याले का एक घूँट माँगता है। रसाल यह देखकर वनलता को अपना लेता है। आनन्द भी प्रेमलता के साथ प्रेम का 'एक घूँट' पीकर अपने को नियमित प्रेम बन्धन में बाँधता है।

स्वच्छन्द प्रेम और विवाहित जीवन के ऊपर 'एक घूँट' अच्छा प्रकाश डालता है। विवाहित जीवन की श्रेष्ठता सिद्ध करके स्वच्छन्द प्रेम की असंभावना को प्रसाद जी ने अच्छी तरह दिखा दिया है। 'कामना' की समस्या का ही यह भी एक अंग है, क्योंकि वर्तमान काल में प्रेम के नाम पर सभ्य संसार में कम उपद्रव नहीं होते हैं। इस प्रकार 'कामना' की चिंतनशील भावुकता और 'एक घूँट' की प्रकृति-सौंदर्य से युक्त यथार्थता ने मिलकर प्रसाद जी के जीवन-दर्शन को सुन्दरता से अभिव्यक्त कर दिया है। ऐसा जान पड़ता है कि 'कामायनी' में उन्होंने मनोवृत्तियों और प्रकृति को मिलाकर जो सजीवता दी है, उसका मानो यहाँ अलग-अलग रिहर्सल कर लिया गया हो।

इस प्रकार प्रसाद जी ने भिन्न-भिन्न प्रकार के नाटक लिखे हैं और सब में उन्हें अभूतपूर्व सफलता मिली है। लेकिन इस विभिन्नता के होते हुए भी कुछ बातें ऐसी हैं, जो समान रूप से सभी नाटकों में मिलती हैं। सबसे पहली बात तो उनका भारतीय संस्कृति के प्रति अगाध प्रेम है, जिसके लिए उन्होंने इतिहास का वह काल चुना जहाँ भारतीय संस्कृति अपने उज्ज्वल रूप में है। इसकी चर्चा हम आरम्भ में ही कर चुके हैं। प्रसाद जी ने यह अनुभव करके कि हमारा वर्तमान ही नहीं भूत भी विदेशी इतिहास-कारों द्वारा मलिन कर दिया गया है, इस काल को स्वतंत्र खोजों के आधार पर अपने नाटकों में अमर कर दिया है। इसके लिए उन्होंने चंद्रगुप्त मौर्य,

कालिदास, स्कंदगुप्त, ध्रुवस्वामिनी आदि पात्रों को नवीन रूप दे दिया है। साथ ही पात्रों के नाम, उपाधि, वेशभूषा, चरित्र, वार्तालाप आदि का देशकाल के अनुसार आयोजन करके तत्कालीन वातावरण को भी उपस्थित करने का प्रयत्न किया है। जब हम उनके नाटकों में महादेवी, सम्राट्, आंभीक, अंतर्वेद, महाबलाधिकृत, महादंड-नायक महाप्रतिहार, कुमारामात्य, शिविर, स्कंधावार आदि शब्दों का प्रयोग देखते हैं तो उस काल के सांस्कृतिक वातावरण की पूरी झलक मिल जाती है।

दूसरी बात है प्राचीनता के साथ नवीनता का समावेश। यद्यपि प्रसाद ने प्राचीन इतिहास को अपने नाटकों का विषय बनाया तथापि उसमें आधुनिकता की छाया भी है। वर्तमान हिंदू मुस्लिम वैमनस्य की झलक, विदेशी आक्रमणकारियों के रूप में अंग्रेजों की छाया, धार्मिक संघर्ष के रूप में मज़हबी झगड़ों का आभास प्रसाद के नाटकों में भली भाँति व्यक्त हुआ है। 'स्कन्दगुप्त' और 'चंद्रगुप्त' में यह जातीय और राष्ट्रीय संघर्ष तथा उससे ऊपर उठकर देश-प्रेम पर मिट जाने की भावना को सर्वाधिक स्थान मिला है। 'स्कन्दगुप्त' में विदेशी राजकुमार धातुसेन भारत का उपासक है, यही दशा लंका के राज-श्रमण प्रख्यातकीर्ति की है। काश्मीरी कवि मातृगुप्त के साथ हम भी देश-प्रेम में मस्त होकर गाते हैं कि हम सदा इसी देश के लिए जियें और मरें और इस पर सर्वस्व निछावर कर दें।[१] इसी नाटक में बन्धुवर्मा राष्ट्र रक्षा के लिए

१—वही है रक्त, वही है देश, वही साहस है, वैसा ज्ञान।
वही है शान्ति, वही है शक्ति, वही हम दिव्य आर्य संतान।
जियें तो सदा उसी के लिए, यही अभिमान रहे, यह हर्ष।
निछावर कर दें हम सर्वस्व हमारा प्यारा भारतवर्ष।

अपना राज्य भी स्कन्दगुप्त को सौंप देता है, यह मानों अखण्ड भारतीयता के लिए ही उसका आत्मसमर्पण है। 'चन्द्रगुप्त' में तो राष्ट्रीयता इतनी है कि इस नाटक को हम प्राचीन होते हुए भी आधुनिक अधिक कहते हैं। तक्षशिला के गुरुकुल में चाणक्य अपने शिष्यों को गुरु मंत्र देता है—"मालव और मागध को भूलकर जब तुम आर्यावर्त्त का नाम लोगे तभी वह (आत्म सम्मान) मिलेगा।" सिंहरण भी कहता है—"मेरा देश मालव ही नहीं गांधार भी है। यही क्या समग्र आर्यावर्त है।" यह मानों साम्प्रदायिकता और प्रांतीयता पर प्रसाद की अपनी टिप्पणी है जो आज की हिंदू-मुस्लिम समस्या या पाकिस्तान के प्रश्न पर प्रकाश डालती है। 'स्कन्दगुप्त' में पर्णगुप्त और देवसेना और 'चन्द्रगुप्त' में सिंहरण और अलका देशसेवा का व्रत लिये हुए हैं। इन नाटकों के नायक तो देश-प्रेम में डूबे हुए हैं ही। बौद्ध और ब्राह्मण धर्म का जो संघर्ष है, वह मानो आधुनिक मज़हबी झगड़े का ही रूप है, जिससे प्रजा त्रस्त है। 'कामना' और 'एक घूँट' में पाश्चात्य सभ्यता से भारत के पतन का चित्र है और 'ध्रुवस्वामिनी' में पुनर्विवाह और नारी के व्यक्तित्व की समस्या है। यह सब आधुनिक जीवन का प्रभाव है जो प्रसाद में व्यक्त हुआ है। 'चन्द्रगुप्त' की अलका जब गाती है तब हम ऐसा अनुभव करते हैं मानों स्वदेश के लिए मिटने को किसी सेना के अंग बनकर बढ़े चले जा रहे हों।[1] प्रसाद प्राचीन युग में भले ही रहे हों

१—हिमाद्रि तुंग शृंग से, प्रबुद्ध शुद्ध भारती
स्वयंप्रभा समुज्ज्वला स्वतंत्रता पुकारती—
' अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़ प्रतिज्ञ सोच लो,
प्रशस्त पुण्य पंथ है—बढ़े चलो बढ़े चलो।"

पर अपने युग की समस्याओं से वे परिचित थे और उनसे विमुख न थे। इसका स्पष्ट प्रमाण उनके नाटकों में व्यक्त वे भावनाएँ हैं, जो आधुनिकता की झलक देती हैं।

प्रसाद जी के नाटकों की तीसरी विशेषता है उनका कवित्वमय होना। बात यह है कि प्रसाद मूलतः कवि थे और कवि भी ऐसे जिन्होंने प्राचीन दर्शन, इतिहास और संस्कृति का गहन अध्ययन किया था। इसलिए उनके नाटकों में इतिहास और संस्कृति के साथ कवित्व का संयोग और अधिक हो गया है। संभवतः यही कारण है कि उनके नाटकों में गीतों की भरमार है। ये गीत नाटकीय वस्तु का अंग न होकर कहीं-कहीं स्वतंत्र हो गए हैं जो केवल कला के प्रदर्शन के लिए रखे गए हैं। गाने वालों में स्त्री पात्रों की अधिकता है। प्रसाद के लगभग सभी स्त्री पात्र गाते हैं। 'चंद्रगुप्त' की कार्नेलिया, कल्याणी, मालविका, सुवासिनी, 'स्कन्द गुप्त' की देवसेना और 'अजात शत्रु' की मागन्धी सभी इतना गाती हैं कि जी ऊब उठता है। परंतु इन गीतों में प्रकृति का सौंदर्य, यौवन की रंगीनी और विलास का ऐसा गहरा रंग है कि कवित्व स्वर्गीय होकर इनमें नाच उठा है, पात्रों के हृदय की कसक और वेदना इन में साकार हो गई है। गीत ही नहीं साधारण संवादों में भी उनकी कविता जाग्रत है। कहीं कहीं संवाद गद्यकाव्य बन गये हैं।[1]

१—अकस्मात् जीवन-कानन में, एक राका-रजनी की छाया में छिपकर मधुर वसन्त घुस आता है। शरीर की सब क्यारियाँ हरी भरी हो जाती हैं। सौंदर्य का कोकिल 'कौन ?' कहकर सबको रोकने-टोकने लगता है, पुकारने लगता है। राज कुमारी ! फिर उसी में प्रेम का मुकुल लग जाता है, आँसू-भरी स्मृतियाँ मकरन्द सी उसमें छिपी रहती हैं।

साथ ही स्त्री पात्रों के नाम भी जो कवि द्वारा कल्पित हैं, कवित्वमय रखे गए हैं। देवसेना, विजया, जयमाला, मंदाकिनी, अलका, दामिनी आदि ऐसे ही स्त्री पात्र हैं, जो स्वयं कवित्वमय हैं और जब बोलते हैं तो कविता ही बोलते हैं। 'कामना' और 'एक घूँट' तो ऐसे रूपक हैं जो एकांत कवित्व से युक्त हैं और जिनमें कवि की कल्पना और भावुकता का सुखद संयोग हुआ है।

प्रसाद के नाटकों की चौथी विशेषता है उनकी सुख-दुख की भावना और उस भावना के मूल में है उनका नियतिवाद। प्रसाद जी ने बौद्ध दर्शन का गहरा ज्ञान प्राप्त किया था और उस ज्ञान को अपने चिन्तन द्वारा उन्होंने पुष्ट किया था। साथ ही वे शैव-दर्शन के भी श्रद्धालु पाठक थे। यही क्यों शैव-दर्शन के आनन्द-वाद के तो वे पक्के उपासक थे। उनके नाटकों में यही दो तत्त्व हैं—करुणा और आनन्द जिन्होंने उनके नाटकों को न सुखान्त होने दिया है न दुखान्त, बल्कि वे प्रसादान्त होगए हैं। नाटक के पात्र घोर दुःखों और कठिनाइयों में होकर गुज़रते हैं परन्तु वे अन्त में सन्तोष प्राप्त कर लेते हैं। सुख दुःख के ऊपर उठ कर जीवन का आनन्द प्राप्त करना ही प्रसाद जी की काव्य-साधना का मूल है और वही उनके नाटकों में व्यक्त हुआ है। 'मानव जीवन वेदी पर परिणय हो विरह-मिलन का; सुख-दुख दोनों नाचेंगे है खेल आँख का मन का' में जो भावना व्यक्त हुई है, वही उनके समस्त जीवन और साहित्य में व्याप्त है। इसी भावना ने उन्हें नियतिवादी या भाग्यवादी बना दिया था और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि "मनुष्य क्या है ? प्रकृति का अनुचर और नियति का दास।" तभी उनके समस्त पात्र नियति के हाथ के खिलौने हैं जो प्रकृति का विरोध किये बिना सीधे अपने मार्ग पर

बढ़ते जाते हैं। प्रसाद के इसी नियतिवाद में उनका समस्त दार्शनिक चिन्तन समाया हुआ है, जिसमें वैदिक, बौद्ध और ब्राह्मण धर्मों के संघर्षों के ऊपर उठकर शैवों के आनन्दवाद की प्रतिष्ठा और सुख-दुःख को समरस होकर सहने का विधान है।

प्रसाद के नाटकों की पाँचवीं विशेषता है—उनके नाटकों का चरित्र-प्रधान होना। पाश्चात्य नाटकों की भाँति उन्होंने अपने नाटकों में संघर्ष—आन्तरिक और बाह्य—की प्रधानता रखी है, जिसके कारण पात्रों का मनोवैज्ञानिक विकास हुआ है। उनके पात्रों को मोटे रूप से हम तीन श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं :—

१—देवत्व की कल्पना से अभिभूत वे पात्र जो संसार को दार्शनिक की दृष्टि से देखते हैं और अध्ययन, मनन तथा चिन्तन में लीन रहते हैं। 'विशाख' के प्रेमानन्द, 'राज्यश्री' के दिवाकर मित्र, 'जनमेजय का नाग-यज्ञ' के वेदव्यास, 'अजातशत्रु' के गौतम बुद्ध, 'स्कन्दगुप्त' के प्रख्यातकीर्ति, 'चन्द्रगुप्त' के चाणक्य आदि इसी कोटि के पात्र हैं।

२—राक्षसत्व की सीमा को छूने वाले वे पात्र जो षड्यन्त्रों और कुचक्रों में सदैव व्यस्त रहते हैं और विलास और कामुकता-पूर्ण जीवन ही जिनका लक्ष्य है। महात्त्वाकांक्षा इनमें बुरी तरह होती है और वही इनमें निन्दनीय कार्य कराती है। 'विशाख' का सत्यशील, 'राज्यश्री' का शान्ति भिक्षु, 'नाग यज्ञ' का कश्यप, 'अजात शत्रु' के विरुद्धक तथा समुद्रदत्त, 'स्कन्दगुप्त' के भटार्क और प्रपंचबुद्धि आदि इस श्रेणी में रखे जा सकते हैं। कुछ स्त्री पात्र भी इस कोटि में आ सकते हैं। 'अजातशत्रु' की छलना, 'स्कन्दगुप्त' की अनन्त देवी और विजया आदि को इसमें रखा जा सकता है। ये भी

पुरुषों की भाँति षड्यन्त्रों में लिप्त रहती है।

३ – तीसरे प्रकार के पात्रों को मानव की संज्ञा दी जा सकती है। इसमें नाटकों के नायकों के अतिरिक्त अन्य उन स्त्री पुरुष पात्रों को सम्मिलित किया जा सकता है, जो कुछ दुर्बलता होते हुए भी मनुष्यता के प्रति झुके रहते हैं। राज्यश्री, विशाख, अजातशत्रु, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, विम्बिसार, देवसेना, सुवासिनी, अलका, कल्याणी आदि पात्रों को मानवता की कोटि में रखना अधिक संगत प्रतीत होता है। इनमें भी कुछ अधिक दार्शनिक हैं जैसे स्कन्दगुप्त और विम्बिसार आदि, जिनके लिए अधिकार-सुख मादक और सार-हीन है तथा जो विश्व को क्षणभंगुर मानते हैं और कुछ अधिक दुनियादार हैं, जैसे अजातशत्रु, चन्द्रगुप्त आदि जो अधिकार के लिए लड़ने में ही जीवन की सफलता समझते हैं।

इस प्रकार प्रसाद के नाटकीय पात्रों को इन तीन श्रेणियों में बाँटने से स्त्री-पुरुष सभी पात्र इन सीमाओं में आ जाते हैं। तब भी स्त्री पात्रों के चित्रण में प्रसाद की अपनी निजी विशेषता है। स्त्री-पात्रों में कल्पना का अधिक उपयोग होने से उन्हें प्रसाद जी ने अपने मनोनुकूल रूप दे दिया है। इन स्त्री पात्रों में राजनीति की आग से खेलने वाली राजरानियाँ हैं, जीवन के संग्राम में प्रेम का संबल लेकर कूदने वाली स्वाभिमानिनी राजकुमारियाँ है, मध्य वर्ग की वासना से पीड़ित दुर्बल नारियाँ हैं और अपने मूक बलिदान से नाटक को करुण सौंदर्य देने वाली फूल सी सुकुमारियाँ भी हैं। नारी के उग्र और विनम्र, कठोर और कोमल, मधुर और कटु दोनों प्रकार के चित्रण प्रसाद ने दिए हैं। देवसेना, मालविका, कोमा यदि प्रथम प्रकार की हैं तो मागन्धी, विजया, सुरमा आदि दूसरे प्रकार की

हैं। लेकिन सर्वत्र प्रसाद ने नारी के प्रति सहानुभूति जाग्रत की है। यथार्थ का चित्रण भी ऐसी खूबी से किया है कि परिस्थितियों की अच्छाई-बुराई से पात्रों के प्रति हममें समवेदना ही जगती है। सारांश यह कि चरित्र-चित्रण में, फिर वह नारी का हो या पुरुष का, प्रसाद की अपनी विशेषता है और उनके पात्रों का अपना व्यक्तित्व है, जो इतिहास के प्रस्तर-खंडों को तोड़कर तरल-सरल होकर मानवीय और स्वर्गीय सीमाओं में आकर्षण की वस्तु बन गया है।

प्रसाद के नाटकों में कुछ दोष भी हैं। सबसे बड़ा दोष उनकी अनभिनेयता है। वे रंग-मंच पर नहीं खेले जा सकते। उनके नाटकों में लंबे-लंबे स्वगत-कथन और संवाद तथा गीत, कवित्व और दर्शन से पूर्ण क्लिष्ट भाषा, पात्रों की अधिकता, घटनाओं का घटाटोप, रंग-मंच पर न दिखाए जाने वाले वध, युद्ध आदि के दृश्यों का समावेश, अंकों और दृश्यों का रंग-मंच के अनुकूल न बदलना आदि ऐसी बातें हैं, जो इन नाटकों को रंगमंच के अनुकूल नहीं होने देतीं और वे साहित्य की वस्तु ही रह जाते हैं। फिर वे इतने लंबे हैं कि यदि खेले जाँय तो दो-तीन घंटे में, जो कि नाटक के लिए नियत समय है, नहीं खेले जा सकते। इस सबको लेकर प्रसाद के नाटकों की बड़ी आलोचना हुई है। प्रसाद जी ने स्वयं अपनी सफाई देते हुए कहा था—"मेरी रचनाएँ तुलसीदत्त शैदा या आगा हश्र की व्यावसायिक रचनाओं के साथ नहीं नापी तौली जानी चाहिए। मैंने उन कंपनियों के लिए नाटक नहीं लिखे हैं जो चार चलते अभिनेताओं को एकत्र कर, कुछ पैसा जुटाकर, चार पर्दे मँगनी माँग लेती हैं और दुअन्नी-अठन्नी के टिकिट पर इक्के वाले, खोंचे वाले और दूकानदारों को बटोर कर जगह-जगह प्रहसन करती फिरती हैं।

'उत्तररामचरित', 'मुद्रा-राक्षस' और 'शकुन्तला' नाटक कभी न ऐसे अभिनेताओं द्वारा अभिनीत हो सकते और न जन साधारण में रसोद्रेक का कारण बन सकते । उनकी काव्य-प्रधान शैली कुछ विशेषता चाहती है। यदि परिष्कृत बुद्धि के अभिनेता हों, सुरुचि-सम्पन्न दर्शक हों, पर्याप्त द्रव्य काम में ला लाया जाय तो मेरे नाटक अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न कर सकते हैं।" प्रसाद जी का यह कथन उनके ऊपर लगाए सभी आक्षेपों को दूर कर देता है। उनका यह कथन ठीक भी है। 'स्कन्दगुप्त' जिसमें कुभा का बाँध टूटने का उल्लेख है, काशी में कई बार सफलता से खेला गया है। 'कामना' जैसा रूपक भी इलाहाबाद के एक संघ द्वारा ज्यों का त्यों अभिनीत हुआ है । बात वस्तुतः प्रयत्न और सामर्थ्य की है। रूस में 'शकुन्तला' नाटक उसके असली रूप में गत वर्ष खेला गया था और उसमें लाखों रुपया खर्च हुआ था। हमारे यहाँ एक तो रंगमंच ही नहीं है दूसरे दरिद्रता के कारण उस ओर प्रयत्न भी नहीं होता। परिणाम यह है कि नाटककारों को रंगमंच का ज्ञान नहीं होता। प्रसाद जी के साथ भी ऐसा ही था। इसी लिए उनके नाटक शिक्षित, सम्पन्न और विकसित समाज की वस्तु हैं।

निष्कर्ष यह है कि प्रसाद जी के सम्बन्ध में आलोचक चाहे जो कहें परन्तु उनकी सांस्कृतिक पुनरुत्थान की भावना, उनका कवित्व तथा दार्शनिक चिन्तन, उनकी स्वाभाविक चरित्र कल्पना, उनका राष्ट्रीयता के प्रति आग्रह, उनका संघर्ष के विष से जीवन के अमृत की खोज का प्रयत्न आदि ऐसी बातें हैं, जो उन्हें हिंदी का सर्वश्रेष्ठ नाटककार घोषित करती हैं और उनकी रचनाओं को स्थायी-साहित्य की वस्तु बना देती हैं।

उपन्यासकार

प्रेमचन्द

"प्रेमचन्द जी हिंदी के प्रथम सर्वोत्कृष्ट मौलिक लेखक थे। उन्होंने हिंदी पाठकों की अभिरुचि को चन्द्रकान्ता के गर्त से निकालकर सुदृढ साहित्यिक नींव पर स्थिर किया। बंकिम बाबू तथा अंग्रेज़ी उपन्यासों की माँग को तो उन्होंने बिलकुल ही रोक दिया। हिन्दी साहित्य के उस विशेष क्षेत्र में कादम्बरी या हितोपदेश के अनुवादों का लोक-प्रिय होना तो संभव ही न था। इसके अतिरिक्त प्रेमचन्द जी ने समाज के असाधारण वर्गों की ओर से दृष्टि को हटवा कर मध्यम तथा निचली श्रेणी के लोगों की नित्य प्रति की समस्याओं की ओर हिन्दी-पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया। किसान, मज़दूर, क्लर्क, दूकानदार, ज़मींदार, साहूकार, सरकारी अफसर और पूँजीपतियों से संघर्ष जैसे जीवित रूप में प्रेमचन्द जी ने चित्रित किया है वैसा उनसे पहले हिन्दी-साहित्य में कभी नहीं हुआ था। वास्तव में प्रेमचंद जी साम्यवाद के संदेश-वाहक थे उन्होंने इन विचारों की नींव निश्चित रूप से डाल दी।"

ये शब्द प्रयाग विश्व-विद्यालय के हिंदी विभाग के अध्यक्ष और सुयोग्य समालोचक डा० धीरेन्द्र वर्मा के हैं, जो उनके द्वारा 'हंस' के 'प्रेमचन्द स्मृति अंक' के पृष्ठ ८०० पर लिखे गए हैं। डाक्टर साहब ने प्रेमचन्द जी के संबंध में जो कुछ लिखा है, वह विवाद की सीमा से परे सर्वमान्य सत्य है। प्रेमचन्द जी ऐसे ही महान् लेखक थे। उनके पहले साहित्य में, विशेष कर उपन्यास साहित्य में, जीवन को कोई स्थान न था। उनके पहले हिंदी

में उपन्यास की तीन धाराएँ थी—

१—तिलस्मी और ऐयारी के उपन्यास जिनका नेतृत्व 'चंद्रकांता सन्तति' के लेखक श्री देवकीनन्दन खत्री ने किया।

२—शृंगार रस से पूर्ण सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यास जिनके प्रवर्तक 'तारा' 'अँगूठी का नगीना' आदि के लेखक श्री किशोरी लाल गोस्वामी थे।

३—जासूसी और साहसपूर्ण उपन्यास जिन के आरंभकर्ता 'हत्या का रहस्य' 'मेम की लाश' आदि के लेखक और 'जासूस' नामक पत्र के सम्पादक श्री गोपालराम गहमरी थे।

इन तीनों प्रकार के उपन्यासो के अतिरिक्त बँगला, मराठी और अंग्रेज़ी के उपन्यासों के अनुवाद हिंदी में धड़ाधड़ हो रहे थे। हिंदी की जनता घटनाओं की भूल-भुलैयों से भरे तिलस्मी ऐयारी अथवा जासूसी उपन्यास पढ़ती थी और उसमें अद्भुत रस प्राप्त करती थी। यह न होता था तो वह रीतिकालीन शृंगारिकता से युक्त सामाजिक उपन्यास पढ़ती थी और अपनी सस्ती भावुकता के लिए वहाँ भोजन प्राप्त करती थी। जनता का जो अंग अद्भुत और शृंगार के इन उपन्यासों को पसंद नहीं करता था और जिसमें नैतिकता के प्रति आग्रह था वह अपने लिए बँगला, मराठी और अंग्रेज़ी के अनुवादों को ही वरदान समझता था। इस प्रकार हिंदी पाठक के पास उपन्यास के नाम पर ठोस जीवन के धरातल पर आधारित अपनी कोई वस्तु नहीं थी। खत्री, गोस्वामी और गहमरी के उपन्यासों से जी ऊबने पर अनुवादों में जब उसकी वृत्ति रमी तो उसे अनुभव हुआ कि उसकी अपनी चीज़ यह नहीं है और वह अभाव से तिलमिला उठा। चारों ओर उसने दृष्टि दौड़ाई, परन्तु कहीं भी उसे आशा की

किरण के दर्शन न हुए। इधर सामाजिक और राजनीतिक पुनर्जागरण ने उसे अपनी सांस्कृतिक चेतना के प्रति और भी जाग्रत कर दिया। अब वह चाहता था कि कोई जीवनदायिनी प्रतिभा आए और उपन्यासों के रूप में भारतीय संस्कृति के आधार पर वर्तमान जीवन का ऐसा चित्रण करे, जिसमें युग का मौलिक चिंतन निखर उठे और हिंदी-भाषा-भाषी जनता जिसमें अपना सच्चा प्रतिबिम्ब पा सके। प्रेमचन्द का अवतार ऐसी ही जीवन-दायिनी प्रतिभा के रूप में हुआ, जिसने शुद्ध साहित्यिक आधार पर नैतिकता के सहारे भारतीय जीवन के सामाजिक तथा राजनीतिक संघर्षों को ऐसी कुशलता से चित्रित कर दिया कि हिंदी पाठक का सिर गर्व से उन्नत हो गया। उसके बाद उसे न समय काटने के लिए तिलस्मी और जासूसी उपन्यास पढ़ने पड़े न सामाजिक प्रश्नों के हल ढूँढने के लिए बँगला, मराठी अथवा अंग्रेज़ी के अनुवादों की शरण लेनी पड़ी। प्रेमचन्द जी के मौलिक चिंतन में उसे सब कुछ मिल गया। अब वह दूसरों से यह कहने की हिम्मत कर सकता था कि अब तक उसे दूसरों का मुँह ताकना पड़ा था, परन्तु अब उसके पास भी ऐसी वस्तु है, जो दूसरों के पास नहीं है और जिससे दूसरे लोग कुछ सीख-समझ सकते हैं। प्रेमचंद मानो कल्पवृक्ष के रूप में हिंदी-जनता को मिले, जिनसे उसकी सभी मन-कामनाएँ पूर्ण हो गईं।

वस्तुतः प्रेमचंद हरिश्चन्द्र के बाद सर्वाधिक लोक-प्रिय लेखक हो गए हैं। हरिश्चन्द्र ही क्यों यदि लोक-प्रियता को ही किसी लेखक की महानता की कसौटी माना जाय तो तुलसीदास के बाद प्रेमचंद का नंबर आता है। उत्तरी भारत ही नहीं दक्षिणी भारत में भी

प्रेमचंद का नाम घर घर फैल गया है। वे ही सब से पहले लेखक हैं, जिन की रचनाओं के अनुवाद बँगला, मराठी, गुजराती आदि प्रांतीय भाषाओं में ही नहीं, रूसी, फ्रेंच, जर्मन, जापानी और अंग्रेज़ी भाषाओं में भी हो चुके हैं। हिंदी ही नहीं भारतीय भाषाओं के प्रतिनिधि के रूप में प्रेमचंद विदेशी लेखकों के साथ सम्मान के अधिकारी समझे गए हैं। कोई उन्हें डिकेंस के साथ तोलता है कोई टाल्स्टाय के साथ और कोई उन्हें गोर्की का भारतीय अवतार समझता है। यह प्रेमचंद जी की महानता है। वास्तव में वे जनता के कलाकार थे और जनता के सुख-दुःख का जैसा चित्र उनकी रचनाओं में उतरा है, वह उन्हें विश्व के सर्वश्रेष्ठ लेखकों की श्रेणी में बिठा देता है। प्रेमचंद की महानता का सार उनके सरल जीवन और भोले व्यक्तित्व में है। विश्व के श्रेष्ठमतम कलाकारों की प्रतिभा के धनी प्रेमचंद जी के जीवन और व्यक्तित्व का अध्ययन उनके साहित्य से कम महत्त्व की वस्तु नहीं है।

प्रेमचंद जी का जन्म सन् १८८० में, भारतीय राष्ट्रीय महासभा की स्थापना (१८८५) के पाँच वर्ष पहले हुआ था। उनके पिता डाकखाने में नौकर थे। माता बीमार-सी रहती थीं। एक बहन और थीं। १५ साल की उम्र में प्रेमचंद जी का विवाह कर पिता स्वर्गवासी हो गए। घर में उनके साथ उनकी स्त्री, विमाता, और दो सौतेले भाई रह गए। वे तब नवें दर्जे में पढ़ते थे। खर्च की तंगी थी, पर पढ़ाई की धुन थी। गाँव से पैदल ही पाँच मील क्वींस कालेज काशी जाते और रात को एक ट्यूशन पढ़ाकर घर लौटते। सेकिंड डिवीज़न में मैट्रिक पास किया पर इंटर में गणित के कारण कई बार फेल हुए। हार कर कालिज छोड़ दिया और एक वकील

के यहाँ ५) की ट्यूशन मिल गई जिसमें २॥) घर दे आते थे। अस्तबल की एक कच्ची कोठरी वकील साहब ने रहने को बता दी थी। वहीं रहते और खाना पकाते तथा फ़ुर्सत के वक्त लायब्रेरी भी जाते। वकील साहब के भाई उनके सहपाठी थे। वे उन्हें उधार दे दिया करते थे और काम चल जाता था। परंतु एक बार नौबत यहाँ तक आई कि कबाड़िये की दुकान पर पुस्तकें बेचने जाना पड़ा। वहाँ किसी छोटे स्कूल के हेडमास्टर से भेंट हो गई और १८) की नौकरी उन्हें मिल गई। तब वे उन्नीस वर्ष के थे। सन् १६०८ में वे शिक्षा-विभाग में डिप्टी इंस्पेक्टर हो गए। इसी बीच उन्होंने बी. ए. भी कर लिया था था। देश-प्रेम की लगन थी। गाँधी जी जब गोरखपुर—जहाँ वे डिप्टी इंस्पेक्टर थे—गए तो उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर नौकरी को लात मार दी। साहित्य-सेवा का व्रत लिया और उसी के हो रहे।

प्रेमचंद जी की शिक्षा-दीक्षा उर्दू में हुई। उन्हें पढ़ने का बेहद शौक था। उन्हें जो कोई पुस्तक मिल जाती पढ़े बिना न छोड़ते। उर्दू के लेखकों में पं० रतननाथ सरशार उन्हें विशेष प्रिय थे। इसके अतिरिक्त मौलाना शरर, मिर्ज़ा रुसवा, मौलवी मुहम्मद अली हरदोई वाले उनकी रुचि के उपन्यासकारों में थे। रेनाल्ड के उपन्यासों के उर्दू अनुवादों को भी उन्होंने उसी समय पढ़ा था। उन्होंने 'मेरी पहली रचना' में अपने पढ़ने की चर्चा करते हुआ लिखा है—"दो तीन वर्षों में मैंने सैकड़ों ही उपन्यास पढ़ डाले होंगे। जब उपन्यासों का स्टॉक समाप्त हो गया तो मैंने नवलकिशोर प्रेस से निकले हुए पुराणों के उर्दू अनुवाद भी पढ़े और तिलिस्मी ग्रन्थों के १७ भाग उस वक्त निकल चुके थे।

एक-एक भाग बड़े सुन्दर रॉयल आकार के दो-दो हज़ार पृष्ठों से कम न होगा। और इन १७ भागों के उपरान्त उसी पुस्तक के अलग-अलग प्रसंगों पर पच्चीस भाग छप चुके थे। इनमें से भी मैंने कई पढ़े।"

अध्ययन की इसी प्रवृत्ति का परिणाम है कि प्रेमचन्द जी ने बहुत छोटी उम्र से ही लिखना आरम्भ कर दिया था। उन की पहली रचना एक नाटक के रूप में थी, जिसमें उन्होंने अपने मामा के चमारी-प्रेम की खिल्ली उड़ाई थी। विधिवत् लेखन सन् १९०७ से हुआ। पहले उन्होंने कहानी लिखना प्रारम्भ किया। श्री रवीन्द्र नाथ की कई कहानियों के उर्दू अनुवाद भी उन्होने पत्रिकाओं में प्रकाशित कराये थे। यों उपन्यास वे १९०१ से ही लिखने लगे थे। १९०२ में उनका पहला तथा १९०४ में दूसरा उपन्यास प्रकाशित हुआ था। यह याद रहे कि प्रेमचन्द उर्दू के लेखक थे। उनकी कहानियाँ कानपुर के 'ज़माना' पत्र में प्रकाशित होती थीं। 'ज़माना' में छपी ५ कहानियों का एक संग्रह 'सोज़े वतन' के नाम से १९०९ में छपा था, जिसमें 'स्वदेश प्रेम की महिमा' गाई गई थी। यह संग्रह राजद्रोह से भरा समझा गया था और ज़ब्त भी होगया था। उसके बाद वे गोरखपुर पहुँचे और वहीं उन्होंने महावीर प्रसाद पोद्दार की प्रेरणा से 'सेवा सदन' लिखा। यह सन् १९१६ की बात थी। इससे पहले १९०९ में 'हम खुरमा और हम सवाब' लिख चुके थे। 'सेवा सदन' का हिंदी में जो आदर हुआ, उसने प्रेमचन्द जी को सदा के लिए हिन्दी का बना दिया और उन्होंने हिन्दी में लिखने का ही व्रत ले लिया। उर्दू कथा-साहित्य के भी वे प्रवर्त्तक थे और वहाँ भी शीर्ष स्थान प्राप्त कर चुके थे। हिन्दी में आए तो यहाँ भी अपने लिए स्थान

जमाने में उन्हें कठिनाई नहीं हुई। हिन्दी में इतनी सरलता से जम जाने का एक कारण और भी था और वह यह था कि प्रेमचंद की लेखनी उर्दू में मँज चुकी थी, जिसके कारण हिंदी में चुस्त, मुहावरेदार और चलती भाषा में अपनी बात कहने में उन्हें सुगमता होगई। इस प्रकार वे कथा-साहित्य के साथ भाषा का भी शृंगार कर सके। उनकी भाषा ही राष्ट्रभाषा का सच्चा स्वरूप उपस्थित करती है। भाषा ही नहीं राष्ट्रीय जीवन में भी वे रम चुके थे, और जैसा कि हम देख चुके हैं, उन्होंने गांधी जी से प्रभावित होकर ही अपनी नौकरी को लात मारी थी। वे हमारे साहित्य के गांधी हैं क्योंकि राजनीति में जो काम गांधी जी ने किया, वही साहित्य में उन्होंने किया। सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक प्रश्नों को देखने और सुलझाने का जो सुधारवादी दृष्टिकोण गांधी जी का है वही प्रेमचंद जी का है। हिन्दू मुस्लिम मेल, अछूतोद्धार आदि की समस्यायें उनके साहित्य में प्रमुख रूप से विद्यमान हैं।

प्रेमचंद जी को पारिवारिक और सामाजिक संघर्ष निरंतर करने पड़े। उन्होंने कभी संघर्ष से मुख नहीं मोड़ा। अपनी पहली पत्नी की मृत्यु के बाद उन्होंने बाल-विधवा से शादी की। उस समय यह कम महत्त्व की बात न थी। प्रेमचंद जी की आत्मा की शक्ति का इससे पता चलता है। पढ़ते हुए, नौकरी करते हुए, रात को बारह बारह बजे तक लिखना उन्हीं के बूते की बात थी। फिर जो कोई उनके पास जाता था, उसकी सहायता तन, मन, धन से करते थे। कभी-कभी तो अपनी पत्नी के डर से चोरी-चोरी भी आर्थिक सहायता करने में वे नहीं हिचकते थे। परिवार के व्यक्तियों के लिए तो वे सब कुछ सहते ही रहते थे। आर्थिक संघर्ष के राक्षस का मुकाबिला करते

हुए भी वे कभी घबराये नहीं। कहते हैं, वे सदा हँसते रहते थे और जिन लोगों ने उनकी हँसी सुनी है, उनका कहना है कि प्रेमचंद जी की सी सरल और निष्कपट हँसी उन्होंने कभी नहीं देखी। अपनी इसी हँसी में वे शिव की भाँति व्यक्तिगत वेदना के विष को छिपाते रहते थे।

प्रेमचंद इतना सादा जीवन बिताते थे कि कोई कल्पना नहीं कर सकता। वे देहाती किसान के प्रतिरूप थे, जिनमें अहंकार नाम-मात्र को भी नहीं था। जीवन की सभी कटुताएँ सहते हुए भी वे प्रसन्न-चित्त होकर आगे बढ़ते थे, परंतु देश की दशा से वे सदैव दुखी हुआ करते थे और उसकी मुक्ति के उपाय सोचते सोचते खो-से जाते थे। वे देशभक्त थे। समाज-विशेष या संप्रदाय-विशेष के समर्थक न थे। वे सच्चे अर्थों में हिंदुस्तानी थे। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही जाति के समझदार लोग प्रेमचंद जी की मनुष्यता के क़ायल थे। उनका बाहर-भीतर एक-सा था, कथनी-करनी में भेद करना वे न जानते थे, साहित्य और जीवन दोनों उनके लिए एक दूसरे के पर्यायवाची थे। इसीलिए यह कहना कि प्रेमचंद मनुष्य के रूप में साहित्यकार से भी अधिक महान थे, सोलह आने सच है। मनुष्यता की उपासना का आग्रह जितना प्रेमचंद जी को था, उतना अन्य किसी कलाकार को नहीं। भूत और भविष्य की चिन्ता और आशा से परे वर्तमान के धर्म में श्रद्धा रखने वाला ऐसा कलाकार हिंदी में दूसरा नहीं हुआ।

प्रेमचंद जी के जीवन और व्यक्तित्व से जो निष्कर्ष निकलता है, वह यह है कि प्रेमचंद जी ने दरिद्रता, दासता और दीनता का स्वयं अनुभव किया था और अपने समय की सामाजिक, राजनीतिक

तथा आर्थिक समस्याओं से उन्हें संग्राम करना पड़ा था। ग्राम्य-जीवन की वीभत्सता और नागरिक जीवन की विडम्बना को उन्होंने हृदय की आँखों से देखा था। भारतीय संस्कृति के लिए दरिद्र नारायण की पूजा की वे आवश्यकता समझते थे तो केवल इसी लिए कि वही संस्कृति का रक्षक है। उनका साहित्य मानो दलित पीड़ित और तृषित मानव के चीत्कार की प्रतिध्वनि है।

यद्यपि प्रेमचन्द जी उपन्यास-सम्राट् के रूप में ही विख्यात हैं तथापि उन्होंने साहित्य के अन्य अंगों की भी श्रीवृद्धि करने की सतत चेष्टा की। उन्होंने अपने जीवन में उर्दू हिंदी में मिलाकर लगभग एक दर्जन उपन्यास और ढाई तीन सौ कहानियाँ लिखी थीं जिनमें ऐतिहासिक, राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक जीवन के खण्ड चित्र दिए हैं। 'प्रेम की वेदी', 'कर्बला', 'संग्राम' ये तीन नाटक भी उन्होंने लिखे। 'सृष्टिवाद का आरम्भ', 'फिसाने आज़ाद', 'सुखदास', 'अहंकार', 'हड़ताल', 'चाँदी की डिबिया' और 'न्याय' देशी-विदेशी लेखकों के अनुवादित ग्रंथ हैं। 'मनमोदक', 'कुत्ते की कहानी', 'जंगल की कहानियाँ', 'टाल्स्टाय की कहानियाँ', 'दुर्गादास', 'रामचर्चा' आदि पुस्तकें उन्होंने बालकों के लिए तैयार कीं, जिनमें उनकी सादगी, सरलता और मनोवैज्ञानिक सूझ-बूझ का अच्छा परिचय है। 'कुछ विचार' भाग १ और २, 'कलम तलवार और त्याग' तथा 'मौ० शेखसादी' उनके भाषणों और निबन्धों के संग्रह हैं। इसके अतिरिक्त, जागरण (साप्ताहिक) और 'हंस' (मासिक) में सैकड़ों नहीं हज़ारों पृष्ठ उनकी संपादकीय टिप्पणियों से भरे हैं, जो उनके समय की समस्याओं पर उनके विचारों की दिशा को समझाने में सहायक होते हैं। जीवन की अस्तव्यस्तता में उलझे होने पर भी प्रेमचन्द इतना

लिख गए यह आश्चर्य की बात है। यही नहीं वे फिल्म-जगत् में भी हो आए थे और उनका 'मिल मज़दूर' फिल्म काफी लोकप्रिय हुआ था, यद्यपि वह सेंसर की कृपा से यथार्थ रूप में नहीं आ पाया था। उनके इस साहित्य-भण्डार में उनकी प्रतिभा ने सदैव अपने प्रति ईमानदार रहकर कला का जीवनोपयोगी रूप रक्खा है।

अब हम प्रेमचन्द जी के उपन्यासों पर विचार करना चाहते हैं। और देखना चाहते हैं कि लोग उन्हें उपन्यास सम्राट् क्यों कहते हैं? प्रेमचन्द जी ने जो उपन्यास लिखे वे कालक्रमानुसार नीचे दिये जाते हैं:—

'प्रेमा' 'वरदान' और 'प्रतिज्ञा' (१९०६), 'सेवासदन' (१९१६), 'प्रेमाश्रम' (१९२२), 'निर्मला' (१९२३), 'रंगभूमि' (१९२५), 'काया-कल्प' (१९२८), 'ग़बन' (१९३०), 'कर्मभूमि' (१९३२), गोदान (१९३६) और 'मंगलसूत्र' अपूर्ण।

इन उपन्यासों के विषय की दृष्टि से भी सामाजिक और राजनीतिक दो प्रकार के भेद हो सकते हैं। यदि ऐसा हो तो 'प्रेमा', 'वरदान' 'प्रतिज्ञा' 'सेवासदन' 'निर्मला' 'ग़बन' सामाजिक कोटि में आएँगे और 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'कायाकल्प', 'कर्मभूमि' और 'गोदान' राजनीतिक कोटि में। इनमें भी 'कायाकल्प' अपनी आध्यात्मिकता में कुछ पृथक् किया जा सकता है। इसके साथ ही आकार की दृष्टि से बड़े और छोटे दो प्रकारों में इन उपन्यासों को बाँटा जा सकता है। 'प्रेमा', 'वरदान' 'प्रतिज्ञा', 'निर्मला' आदि छोटे उपन्यासों की सीमा में आयेंगे और 'सेवासदन,' 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'कायाकल्प', 'ग़बन', 'कर्मभूमि' और 'गोदान' बड़े उपन्यासों में गिने जायँगे।

प्रेमचन्द जी ने अपने उपन्यासों में गाँधीवादी भारत को मूर्त

किया है। गाँधीवादी भारत पिछले महायुद्ध की समाप्ति से लेकर सन् १९३५ तक ही समझा जाता रहा है। उसके बाद हम राजनीति के नवीन प्रयोग साम्यवाद की ओर आते हैं। गाँधी जी से पहले समाज में आर्य समाज का प्रभाव था। प्रेमचंद तब उसके साथ थे। गाँधी जी जब आये तब उनके साथ हो लिए। सन् २१ और सन् ३० के आन्दोलनों और उनके परिणामों की सामाजिक प्रतिक्रिया का रूप ही प्रेमचन्द के उपन्यासों का विषय है। तभी तो यह कहा जाता है कि यदि कोई भारतीय राजनीतिक आन्दोलन का इतिहास लिखना चाहे तो उसकी आत्मा के स्वरूप के लिए प्रेमचंद के उपन्यासों का अध्ययन करे। प्रेमचंद के उपन्यास मानों हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन के भाष्य हैं, जिनमें एक-एक हलचल की ऐसी सटीक व्याख्या है कि उसे पढ़ने पर कुछ और पढ़ने की आवश्यकता नहीं रह जाती। जैसा कि हम आगे चल कर देखेंगे प्रेमचंद जी ने सीधे राष्ट्रीय जीवन से ही कई पात्रों को उठाकर अपने उपन्यास का नायक या प्रमुख पात्र बना लिया है। ऐसा इसलिए हुआ है कि प्रेमचंद सामयिक समस्याओं के कलाकार थे। यद्यपि उनमें प्रतिभा का वह तेज था कि वे समय से आगे देख सकते थे, परन्तु तब वे जनता के सुख-दुःख के साथी न रह जाते। तब उनकी महानता जनता के लिए अग्राह्य हो उठती। प्रेमचन्द जैसा गरीबों का हिमायती और भारतीय संस्कृति का प्रेमी लेखक यह कभी नहीं कर सकता था। अतएव प्रेमचन्द जी ने अपने समय की सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं को ही अपनी कला का विषय बनाया।

जिस समय उन्होंने लिखना आरम्भ किया उस समय आर्य-समाज अपने विकास पर था। आर्य-समाज में सुधारक वृत्ति का

प्राधान्य था और प्राचीन संस्कृति के उद्धार के लिए प्रयत्न किया जा रहा था। विशेष कर सामाजिक कुप्रथाओं के दूर करने की ओर अधिक ध्यान दिया गया था। विधवा-विवाह, वृद्ध-विवाह, बाल-विवाह, दहेज, अनमेल-विवाह, आभूषण-प्रियता, वेश्या-जीवन आदि ऐसी बातें थीं जिनकी ओर आर्यसमाज विशेष रूप से उन्मुख था क्योंकि इन बुराइयों में ही आर्य जाति के पतन का बीज छिपा था। प्रेमचन्द जी ने अपने जीवन के प्रारम्भ में ही इसका अनुभव कर लिया था। आर्य-संस्कृति के प्रति मोह उन्हें था ही। इन कुरीतियों को मिटाने का संकल्प करके उन्होंने लिखना आरम्भ किया। लिखना ही नहीं, जैसा कि उनकी जीवनी से प्रकट है, एक बाल-विधवा से विवाह कर समाज में आदर्श रख दिया और जीवन तथा साहित्य में साथ-साथ क्रांति शुरू हुई। प्रेमचन्द जी के 'प्रतिज्ञा', 'सेवा-सदन', 'ग़बन' और 'निर्मला' चारों उपन्यासों में यही समस्यायें आधार हैं। 'प्रतिज्ञा' में विधवा-विवाह, 'सेवासदन' में अनमेल-विवाह और वेश्या-जीवन, 'ग़बन' में आभूषण-प्रियता और 'निर्मला' में वृद्ध-विवाह तथा दहेज़ आदि कुरीतियों को लेकर उनके कुपरिणामों को दिखाया गया है। 'प्रतिज्ञा' में पूर्णा का वैधव्य है, 'सेवासदन' में सुमन का घर से तंग आकर वेश्या-वृत्ति ग्रहण करने का वर्णन है, 'ग़बन' में जालपा की आभूषण प्रियता है, 'निर्मला' में निर्मला की अधेड़ बाबू तोताराम से शादी होने के बाद व्यथित जीवन का चित्र है। सामूहिक रूप से देखें तो विधवा और वेश्या ही मूल वस्तुएँ हैं, जिन्हें प्रेमचन्द जी ने अपने सामाजिक उपन्यासों में स्थान दिया है। वैसे भी भारतीय नारी के ये दो रूप ही भारत के पतन के मूल हैं। परन्तु प्रेमचन्द जी ने इन समस्याओं का हल उपस्थित करते हुए

वैज्ञानिकता का ध्यान नहीं रखा। उन्होंने विधवा के जीवन को सदा पवित्रता और साधना का जीवन ही बताया है, जो सतीत्व की रक्षा के साथ भारतीयता को हाथ से नहीं जाने देती। वेश्याओं के लिए हृदय-परिवर्तन में उनका विश्वास है। आर्थिक कारणों की ओर उनका ध्यान नहीं जाता। भारतीयता के प्रति उनकी यही आसक्ति 'सेवासदन' की सुमन को वेश्या-जीवन में भी भ्रष्ट नहीं होने देती। यही 'ग़बन' की रतन को आदर्श बना कर ज़ोहरा वेश्या में हृदय-परिवर्तन दिखाती है। इन समाज से बहिष्कृत प्राणियों के लिए प्रेमचन्द आश्रमों के निर्माण की वकालत करते हैं। 'सेवासदन' की सुमन अन्त में आश्रम चलाती है, जहाँ वेश्या-कन्याएँ शिक्षित बनाई जाती हैं। यही कार्य 'प्रतिज्ञा' में अमृतराय द्वारा 'विधवाश्रम' (वनिताश्रम) खोल कर किया गया है। 'सेवासदन' न सही 'वनिताश्रम' सही। आश्रम चाहिए। प्रायश्चित्त के लिए पुरुष भी या तो संन्यास लेकर जनसेवा करते हैं या आश्रम का संचालन। 'सेवासदन' में सुमन का पति गजाधर 'गजानन्द' हो गया है। 'वरदान' में प्रताप 'बालाजी' बन गया है और 'प्रतिज्ञा' में भी अमृतराय ने यही किया है। इस प्रकार उनके सामाजिक उपन्यासों में समाज की कुरीतियों का दिग्दर्शन तो है, परन्तु उनके लिए उपचार वही है जो कुरीतियों को जन्म देता है। आज भी ये कुरीतियाँ हैं और आज भी विधवाश्रम ज्यों के त्यों बने हैं। इन दोनों का चोलीदामन का साथ है। जब तक आर्थिक आधार पर स्त्री-पुरुष में समानता नहीं होती, यही होता रहेगा। भारतीयता का पैबन्द जीवन-पट के फटे हुए भाग को नहीं भर सकता। परन्तु प्रेमचन्द जी तब आर्य-समाज के प्रभाव में थे, इससे अधिक कुछ नहीं

कर सकते थे। हाँ, इसमें भी उनकी संकीर्णता नहीं है। तभी उन्होंने धार्मिक पाखंडों की जी खोलकर निंदा की है और कोरी धार्मिकता को समाज की दुर्व्यवस्था का कारण बताया है।

दूसरी समस्या प्रेमचन्द जी की राजनीतिक है। प्रेमाश्रम (१६२२) से यह आरम्भ होती है और 'रंगभूमि', 'कर्मभूमि' तथा 'गोदान' तक चली जाती है। गाँधी जी ने जब यह मंत्र दिया कि राजनीतिक दासता ही हमारे सामाजिक पतन का कारण है तो प्रेमचन्द ने योग्य शिष्य की भाँति अपने गुरु की बात को गाँठ में बाँध लिया। इस राजनीतिक दासता से मुक्ति के उपाय भी गाँधीजी ने सुझाये। उनका ध्यान सबसे पहले ग्रामों की ओर गया। वहीं तो नब्बे प्रतिशत भारतीय रहते हैं, उन्हीं के सहारे तो शहर खड़े हैं, वे ही तो भारत की रीढ़ हैं, उन्हीं का उद्धार पहले होना चाहिए, ऐसा गाँधी जी का मत था। दूसरी बात हिंदू मुस्लिम-एकता की थी। ये दोनों भाई भाई हैं, एक ही देश में पैदा होते, जीते और मरते हैं। जब तक दोनों एक साथ गुलामी के जूए को उतार फेंकने को तैयार नहीं होते स्वतंत्रता के सब प्रयत्न व्यर्थ हैं। इसलिए मज़हब के झगड़ों को छोड़ कर उन्हें एक होना चाहिए। तीसरी बात थी दलित और अछूत वर्ग को समान अधिकार देने की। हरिजनों को हमने बहुत कुचला है, इसलिए उन्हें ऊपर उठाकर समानता के धरातल पर उनसे व्यवहार होना चाहिए। चौथी बात थी स्त्रियों की समानता की। वे 'ढोल, गँवार, शूद्र, पशु, नारी' की प्राचीन उक्ति के दृष्टिकोण से नहीं देखी जानी चाहिए। उन्हें शिक्षित होना चाहिए और पुरुष के समान ही राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेना चाहिए। परन्तु विदेशी सभ्यता और संस्कृति से दूर रहने की सख्त ज़रूरत है। पाँचवीं बात थी

स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार और विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार की। इसी में चर्खा, खद्दर आदि का समावेश हुआ। प्रेमचन्द जी ने इन सब समस्याओं को अपने राजनीतिक उपन्यासों का आधार बनाया। वे 'सेवासदन' की नागरिकता छोड़ कर 'प्रेमाश्रम' की ग्रामीणता की ओर झुक गये और फिर ऐसे झुके कि शहरों की ओर कभी नहीं गये। 'रंगभूमि', 'कर्मभूमि' और 'गोदान' उनकी इस यात्रा की प्रगति की सीढ़ियाँ हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि उन्होंने नगर का चित्रण किया ही नहीं। किया और खूब किया, पर अब वे उसे ग्राम के दृष्टिकोण से देखने लगे। 'प्रेमाश्रम' में उन्होंने लखनपुर गाँव को अपना क्षेत्र बनाया और प्रेमशंकर को उसका उद्धारक, 'रंगभूमि' में पाण्डेपुर गाँव की भलाई-बुराई सूरदास भिखारी में केंद्रित हुई, 'कर्मभूमि' में अमरकान्त ने हरिद्वार के पास ऐसे गाँव को चुना जहाँ सभ्यता का प्रकाश कभी पहुँचता ही नहीं था और 'गोदान' में बेलारी गाँव के महतो होरी को लिया। यहाँ 'गोदान' में कोई उद्धारक न भेज कर उन्होंने उसे मिट जाने दिया। वे लखनपुर को आदर्श बना पाये, ज़मींदार मायाशंकर का हृदय बदल कर और बस फिर वे अधिक कुछ न कर सके। उसके बाद 'रंगभूमि' में पाण्डेपुर को सिगरेट के कारखाने के लिए उजड़ता देखा। 'कर्मभूमि' में शहर से दूर के गाँव को क्रीड़ा-क्षेत्र बनाया परन्तु पैबंद लगाने से काम न चलता देख 'गोदान' में गाँव की तबाही उन्होंने कठोरता से दिखा दी। इस प्रकार प्रेमचन्द जी के उपन्यास भारतीय ग्रामों के पतन के दर्पण हैं। इसके साथ ही उन्होंने 'प्रेमाश्रम' में ईजादहुसैन द्वारा अंजुमन-इत्तहाद की नींव भी डलवाई है। परन्तु 'कायाकल्प' में आगरे में गोवध की आयोजना कर, यह

ही कथा पर चलते हैं। उदाहरण के लिए "निर्मला" को ले लीजिए। कहीं भी कोई कमी नहीं है। कठिनाई वहाँ आती है, जहाँ जीवन का विशाल पट लिया जाता है। 'रंगभूमि', 'प्रेमाश्रम', 'कर्मभूमि' आदि में कई कथाएँ साथ साथ चलती हैं। समस्या केवल एक होती है और कथायें एक, दो, तीन या इससे भी अधिक। परिणाम यह होता है कि पात्रों के चरित्र का विकास नहीं हो पाता और उन्हें या तो नदी में डुबाया जाता है या आत्म-हत्या करा दी जाती है। सुधारक होने के कारण उनका समस्या पर ही ध्यान केन्द्रित रहता है, इसलिए उन्हें यह सब कुछ करना पड़ता है। वैसे इतना होने पर भी उनके कुछ पात्र अपने चरित्र का विकास कर ही जाते हैं। 'सेवा-सदन' की सुमन, 'रंगभूमि' का सूरदास, 'ग़बन' की जालपा, 'प्रेमाश्रम' का प्रेमशंकर, 'कर्मभूमि' का अमर इस बाधा के होते हुए भी व्यक्तित्व से पूर्ण हैं। निश्चय ही यदि प्रेमचन्द जी सुधारक न होते तो उनके उपन्यासों में ये त्रुटियाँ न रहतीं, परन्तु ऐसा संभव कब था?

प्रेमचन्द जी अपनी भाषा-शैली के लिए सदैव याद किये जाएँगे। उनकी भाषा ठेठ हिंदुस्तानी है, सीधी सादी, मँजी, प्रौढ़ और प्रवाह से युक्त। इसका कारण यह है कि वे उर्दू से हिन्दी में आये थे। लेकिन प्रेमचन्द जी को भाषा के लिए साधना भी कम नहीं करनी पड़ी। आरम्भ में उनमें संस्कृत की तत्समता का उर्दू के साथ प्रयोग यह प्रदर्शित करता है, मानों कोई मौलवी पंडित बनना चाहता हो। परन्तु पीछे उनमें वह बात नहीं रही। वे सँभल गये और भाषा का रूप स्थिर हो गया। प्रेमचन्द जी की भाषा की दूसरी विशेषता है उसका पात्रों के अनुकूल होना। वे हिंदू पात्रों से संस्कृत मिश्रित हिंदी और मुसलमान पात्रों से फारसी मिश्रित उर्दू बुलवाते हैं।

प्रसाद की भाँति सबसे एक ही भाषा का वे प्रयोग नहीं करवाते। वैसे उनकी भाषा की विशेषता है उसका ग्रामीण होना। उन्होंने नगर के बहुत से अस्वाभाविक शब्दों को निकाल कर उनके स्थान पर गाँव के स्वाभाविक शब्द रख दिये हैं। वे उपमा भी सीधे ग्रामीण जीवन से ही लेते हैं। "जिस तरह सूखी लकड़ी जल्दी से जल उठती है, उसी प्रकार क्षुधा से बावला मनुष्य ज़रा ज़रा सी बात पर तिनक उठता है।" "गाय मनमारे उदास बैठी थी, जैसे कोई बधू सुसराल आई हो।" जैसी उपमाएँ प्रेमचन्द की भाषा की जान है। कहीं-कहीं वह काव्यमय भी हो जाती है—"उषा की लालिमा में, ज्योत्स्ना की मनोहर छटा में खिले हुए गुलाब के ऊपर सूर्य की किरणों से चमकते हुए तुषार बिंदु में भी वह सुषमा और शोभा नहीं, श्वेत-हिम-मुकुटधारी पर्वतों में भी वह प्राणप्रद शीतलता न थी, जो बिन्नी अर्थात् विन्ध्येश्वरी के विशाल नेत्रों में थी।" कथोपकथन के समय इस भाषा में नाटकीय सौंदर्य भी स्वतः आ जाता है। मुहावरे और कहावतें उसके साथ नगीनों की तरह जड़ जाते हैं। अपनी निजी सूक्तियों और व्यंगों के कारण तो वे अपनी भाषा को और भी भाव-व्यंजक बना देते हैं। यह सब देखकर कहना पड़ता है कि भाषा पर जितना अधिकार प्रेमचन्द जी का है। उतना और किसी लेखक का नहीं। देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों के लिए लोगों ने हिंदी सीखी परन्तु प्रेमचन्द के उपन्यासों के लिए लोगों ने साहित्यिकता को अपनाया। उन्होंने अपनी भाषा के कारण ही अपने पाठक पैदा किये थे। चरित्र-चित्रण के लिए उनकी इस भाषा ने उनका बड़ा साथ दिया था। और यदि उनके पास यह भाषा न होती तो वे संभवतः उपन्यास-लेखन में इतनी

सफलता भी प्राप्त न कर सकते । वे राष्ट्रभाषा के पहले सफल लेखक हैं ।

लेकिन प्रेमचन्द जी की कला की सफलता का मूल क्या उनके समस्यात्मक उपन्यास हैं या उनकी चुस्त और मुहावरेदार भाषा है अथवा उनका चरित्र चित्रण है ? नहीं, उनकी सफलता का मूल है उनका जीवन, जिससे उक्त बातें बाहर आईं । प्रेमचन्द जी का जीवन ही ऐसा था कि वे अपने को जनता के लिए घुला गये । वे साहित्य को एक उद्योग समझते थे और कहा करते थे—"साहित्य उस उद्योग का नाम है, जो आदमी ने आपस के भेद मिटाने और उस मौलिक एकता को व्यक्त करने के लिए किया है जो ज़ाहिरी भेद की तह में, पृथ्वी के उदर में व्याकुल ज्वाला की भाँति छिपा हुआ है । जब हम विचारों और भावनाओं में पड़ कर असलियत से दूर जा पड़ते हैं तो साहित्य हमें उस सोते तक पहुँचाता है, जहाँ असलियत अपने सच्चे रूप में प्रवाहित हो रही है ।" स्पष्ट है कि वे यथार्थ के उपासक थे । परंतु उनका यथार्थ नग्न यथार्थ न था, जो लाभ की अपेक्षा हानि पहुँचाता है । वे ऐसे यथार्थ को चाहते थे जिस पर आदर्श का ताज-महल बन सके क्योंकि उनकी सम्मति में साहित्य की आत्मा आदर्श थी और उसकी देह यथार्थ । उनका यही आदर्श-मिश्रित यथार्थ 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' है । इस विचार-धारा के मूल में प्रेमचन्द की यह भावना काम करती है कि साहित्य मनोरंजन की वस्तु न होकर जीवन की उपयोगिता की वस्तु है । वे ऐसे साहित्यकार को पसंद नहीं करते जो युग की अवहेलना करके केवल मनोरंजन करता है । उनका विचार था—"साहित्यकार का काम केवल पाठकों का मन बहलाना नहीं है । यह तो भाटों और मदारियों, विदूषकों और मसखरों का काम

है। साहित्यकार का पद इससे कहीं ऊँचा है। वह हमारा पथ-प्रदर्शक होता है, वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है, हमारी दृष्टि को फैलाता है—कम से कम उसका उद्देश्य यही होना चाहिए।" यही कारण है कि उन्होंने कला की रंगीनी छोड़कर स्वाभाविकता से जीवन को अपनाया। वे भी प्रसाद की भाँति रोमांटिक हो सकते थे; परन्तु नहीं, ऐसा करना वे न ठीक समझते थे, तभी उन्होंने प्रसाद को 'गड़े मुर्दे न उखाड़ने' के लिए सुझाव भी दिया था। वे वर्तमान को ही सब कुछ समझते थे। इसीलिए अपने जीवन को उन्होंने तात्कालिक सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक समस्याओं के चित्रण में लगा दिया। ऐतिहासिक कहानियों में भी वे राजपूत काल या मुगल काल के पतन के चित्र ही दे पाये। इसके आगे जाना उनकी सामर्थ्य के बाहर था। आर्यसमाज और काँग्रेस का जैसा स्वरूप उन्होंने देखा था, लिख दिया। 'गोदान' में आकर गाँधीवाद को भी छोड़ चुके थे। वहाँ किसान मज़दूरी करते मरता है और उसका लड़का शहर की ओर चलता है। मानो 'गोदान' ग्राम्य संस्कृति के ध्वंस की सूचना है और गाँधीवादी समझौते के हल का थोथापन प्रदर्शित करने का प्रबल संकेत है। हमारा विश्वास है कि प्रेमचन्द जी यदि दस वर्ष और जीते तो वे साम्यवाद के भी सजीव चित्र देते और भावी समाज व्यवस्था की झलक भी अपने उपन्यासों में दिखाते। परंतु वे असमय चल बसे। उनकी कहानी हम शौक से सुन रहे थे पर कहानी कहने वाला कहानी अधूरी छोड़कर चल दिया—

बड़े शौक से सुन रहा था ज़माना,
तुम्हीं सो गये दास्ताँ कहते-कहते।
